[illegible]

○ दूसरा भाग ○

जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व

(आचार्य श्री तुलसी द्वारा रचित 'जैन सिद्धान्त दीपिका' और 'भिक्षु न्याय कर्णिका' का संयुक्त अध्ययन)

लेखक

मुनि नथमल

प्रबन्ध-सम्पादक

छगनलाल शास्त्री

श्री तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में

जैन दर्शन ग्रन्थमाला : ६ वां पुष्प



प्रकाशक—
मोतीलाल बेंगानी चेरिटेबल ट्रस्ट,
१।४ सी, खगेन्द्र चटर्जी रोड,
काशीपुर, कलकत्ता-२



प्रबन्धक—
आदर्श साहित्य संघ
चूरू (राजस्थान)



प्रथम संस्करण : १०००
सितम्बर, १९६०
मूल्य : १३ रुपये



मुद्रक—
शोभाचन्द सुराना
रेफिल आर्ट प्रेस,
३१, बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता-७

प्रज्ञापना

जैन दर्शन जीवन-शुद्धि का दर्शन है। राग-द्वेष आदि बाह्य शत्रु, जो आत्मा को पराभूत करने के लिए दिन-रात कमर कसे अड़े रहते हैं, से जूझने के लिए यह एक अमोघ अस्त्र है। जीवन-शुद्धि के पथ पर आगे बढ़ने की आकांक्षा रखनेवाले पथिकों के लिए यह एक दिव्य पाथेय है। यही कारण है, जैन दर्शन जानने का अर्थ है—आत्म-मार्जन के विधि-क्रम को जानना, आत्म-चर्या की यथार्थ पद्धति को समझना।

जैन जगत् के महान् अभिनेता, ज्ञान और साधना के अप्रतिम धनी, महामहिम आचार्य श्री तुलसी के अन्तेवासी मुनि श्री नथमलजी द्वारा लिखा प्रस्तुत ग्रन्थ जैन दर्शन के मूलभूत तत्त्वों को अत्यन्त प्राञ्जल एवं प्रभावक रूप में सूक्ष्मता के साथ निरूपित करनेवाली एक अद्भुत कृति है। यह जनवन्द्य आचार्य श्री तुलसी द्वारा रचित 'जैन सिद्धान्त दीपिका' और 'भिक्षु न्याय कर्णिका' के संयुक्त अनुशीलन पर आधारित है।

मुनि श्री ने इसमें जैन दर्शन के प्रत्येक अंग का तलस्पर्शी विवेचन करते हुए अत्यन्त स्पष्ट एवं बोधगम्य रूप में उसे प्रस्तुत किया है। 'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व' निःसन्देह दार्शनिक जगत् के लिए मुनि श्री की एक अप्रतिम देन है।

श्री तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन का दायित्व मोतीलाल बेंगानी चेरिटेबल ट्रस्ट, कलकत्ता ने स्वीकार किया, यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है।

जैन धर्म एवं दर्शन सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन, जनवन्द्य आचार्य श्री तुलसी द्वारा सम्प्रवर्तित अणुव्रत आन्दोलन के नैतिक जागृतिमूलक आदर्शों का प्रचार एवं प्रसार ट्रस्ट के उद्देश्यों में से मुख्य हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन द्वारा ट्रस्ट ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति का जो प्रशस्त कदम उठाया है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है।

लोक-जीवन में सद्ज्ञान के संचार, जन-जन में नैतिक अभ्युदय की प्रेरणा तथा जन-सेवा का उद्देश्य लिये चलने वाले इस ट्रस्ट के संस्थापन द्वारा समाज के उत्साही युवक श्री हनुमानमलजी बेंगानी ने समाज के साधन-सम्पन्न व्यक्तियों के समक्ष एक अनुकरणीय कदम रखा है। इसके लिए उन्हें सादर धन्यवाद है।

आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान के अनुपम स्रोत इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व ग्रहण कर आदर्श साहित्य संघ, जो सत्साहित्य के प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसार का ध्येय लिये कार्य करता आ रहा है, अत्यधिक प्रसन्नता अनुभव करता है।

'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व' का यह दूसरा भाग है, जिसमें जैन तत्त्व एवं आचार भाग का यौक्तिक तथा हृदयग्राही विवेचन है।

आशा है, पाठक इससे आत्म-दर्शन की स्फूर्त्त प्रेरणा एवं सुगम पथ प्राप्त करेंगे।

जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक
आदर्श साहित्य संघ

सरदारशहर (राजस्थान)
भाद्रपद कृष्णा ६, २०१७.

विषयानुक्रम

चौथा खण्ड

पांचवां खण्ड

परिशिष्ट

चौथा खण्ड

तत्त्व मीमांसा

○

जैन दर्शन की आस्तिकता

जैन दर्शन परम अस्तिवादी है। इसका प्रमाण है अस्तिवाद के चार अंगों की स्वीकृति। उसके चार विश्वास हैं—'आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद [१]।' भगवान् महावीर ने कहा—"लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, क्रिया-अक्रिया नहीं हैं, ऐसी संज्ञा मत रखो किन्तु ये सब हैं, ऐसी संज्ञा रखो [२]।"

श्रद्धा और युक्ति का समन्वय

यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन श्रद्धालु के लिए जितना आप्तवचन है, उतना ही एक बुद्धिवादी के लिए युक्तिवचन। इसीलिए आगम-साहित्य में अनेक स्थानों पर इसे 'नैयायिक' (न्याय-संगत) कहा गया है[३]। जैन साहित्य में मुनि-वाणी को—"नियोगपर्यनुयोगानर्हम्" (मुनेर्वचः) नहीं कहा जाता। उसके लिए कसौटी भी मान्य है। भगवान् महावीर ने जहाँ श्रद्धावान् को 'मेधावी' कहा है, वहाँ 'मतिमन् [४]! देख, विचार'—इस प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने समझने का अवसर भी दिया है[५]। यह संकेत उत्तरवर्ती आचार्यों की वाणी में यों पुनरावर्तित हुआ—"परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं, मद्वचो न तु गौरवात्।"

मोक्ष दर्शन

'एयं पासगस्स दंसणं'—यह द्रष्टा का दर्शन है।

सही अर्थ में जैन दर्शन कोई वादविवाद लेकर नहीं चलता। वह आत्म-मुक्ति का मार्ग है, अपने आपकी खोज और अपने आपको पाने का रास्ता है [६]। इसका मूल मंत्र है—'सत्य की एषणा करो[७]', 'सत्य को ग्रहण करो[८],' 'सत्य में धैर्य रखो,'[९] 'सत्य ही लोक में सारभूत है' [१०]।

दर्शन की परिभाषा

यह संसार अनादि-अनन्त है। इसमें संयोग-वियोगजन्य सुख-दुःख की अविरल धारा बह रही है। उसमें गोता मारते-मारते जब प्राणी थक जाता है, तब वह शाश्वत आनन्द की शोध में निकलता है। वहाँ जो हेय और उपादेय की मीमांसा (युक्ति संगत विवेचना) होती है, वही दर्शन बन जाता है [११]।

दर्शन का अर्थ है—तत्त्व का साक्षात्कार या उपलब्धि। सब से प्रमुख तत्त्व आत्मा है। "जो आत्मा को जान लेता है, वह सबको जान लेता है [१२]।"

अस्तित्व की दृष्टि से सब तत्त्व समान हैं किन्तु मूल्य की दृष्टि से आत्मा सब से अधिक मूल्यवान् तत्त्व है। कहना यूं चाहिए कि मूल्य का निर्णय आत्मा पर ही निर्भर है [१३]। वस्तु का अस्तित्व स्वयंजात होता है किन्तु उसका मूल्य चेतना से सम्बद्ध हुए बिना नहीं होता। "गुलाब का फूल लाल है"—कोई जाने या न जाने किन्तु "गुलाब का फूल मन हरने वाला है"—यह बिना जाने नहीं होता। वह तब तक मनहर नहीं, जब तक किसी आत्मा को वैसा न लगे। "दूध सफेद है"—इसके लिए चेतना से सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं; किन्तु "वह उपयोगी है"—यह मूल्य-विषयक निर्णय चेतना से सम्बन्ध स्थापित हुए बिना नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मनोहारी, उपयोगी, प्रिय-अप्रिय आदि मूल्यांकन पर निर्भर है। आत्मा द्वारा अज्ञात वस्तुवृत्त अस्तित्व के जगत् में रहते हैं। उनका अस्तित्व-निर्णय और मूल्य-निर्णय—ये दोनों आत्मा द्वारा ज्ञात होने पर होते हैं। "वस्तु का अस्तित्व है"—इसमें चेतना की कोई अपेक्षा नहीं किन्तु वस्तु जब ज्ञेय बनती है, तब चेतना द्वारा उसके अस्तित्व (स्वरूप) का निर्णय होता है। यह चेतना के साथ वस्तु के सम्बन्ध की पहली कोटि है। दूसरी कोटि में उसका मूल्यांकन होता है, तब वह हेय या उपादेय बनती है। उक्त विवेचन के अनुसार दर्शन के दो कार्य हैं :—

१—वस्तुवृत्त विषयक निर्णय।

२—मूल्य विषयक निर्णय।

ज्ञेय, हेय और उपादेय—इस त्रिपुटी से इसी तत्त्व का निर्देशन मिलता है [१४]। यही तत्त्व 'ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा'—इस बुद्धिद्वय से मिलता है [१५]। जैन दर्शन में यथार्थज्ञान ही प्रमाण माना जाता है। सन्निकर्ष, कारक-साकल्य आदि प्रमाण नहीं माने जाते। कारण यही कि वस्तुवृत्त के निर्णय (प्रिय वस्तु के स्वीकार और अप्रिय वस्तु के अस्वीकार) में वही क्षम है [१६]।

एक विचार आ रहा है—दर्शन को यदि उपयोगी बनना हो तो उसे वस्तुवृत्तों को खोजने की अपेक्षा उनके प्रयोजन अथवा मूल्य को खोजना चाहिए।

भारतीय दर्शन इन दोनों शाखाओं को छूता रहा है। उसने जैसे *अस्तित्व-विषयक समस्या पर* विचार किया है, *वैसे ही अस्तित्व से सम्बन्ध* रखने वाली मूल्यों की समस्या पर भी विचार किया है। ज्ञेय हेय और उपादेय का ज्ञान उसी का फल है।

मूल्यनिर्णय की दृष्टियां

मूल्य-निर्णय की तीन दृष्टियां हैं :—

(१) सैद्धान्तिक या बौद्धिक।

(२) व्यावहारिक या नैतिक।

(३) आध्यात्मिक, धार्मिक या पारमार्थिक।

वस्तुमात्र ज्ञेय है और अस्तित्व की दृष्टि से ज्ञेयमात्र सत्य है। सत्य का मूल्य सैद्धान्तिक होता है। यह आत्मानुभूति से परे नहीं होता। आत्म-विकास शिव है, यह आध्यात्मिक मूल्य है। पौद्गलिक साज-सज्जा सौन्दर्य है, वह व्यावहारिक मूल्य है। एक व्यक्ति सुन्दर नहीं होता किन्तु आत्म-विकास होने के कारण वह शिव होता है। जो शिव नहीं होता, वह सुन्दर हो सकता है। मूल्य-निर्णय की तीन दृष्टियां स्थूल नियम हैं। व्यापक दृष्टि से व्यक्तियों की जितनी अपेक्षाएं होती हैं, उतनी ही मूल्यांकन की दृष्टियां हैं। कहा भी है—

"न रम्यं नारम्यं प्रकृतिगुणतो वस्तु किमपि,
प्रियत्वं वस्तूनां भवति च खलु ग्राहकवशात्।"

प्रियत्व और अप्रियत्व ग्राहक की इच्छा के अधीन हैं, वस्तु में नहीं। निश्चय-दृष्टि से न कोई वस्तु इष्ट है और न कोई अनिष्ट।

"तानेवार्थान् द्विषतः, तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य।
निश्चयतोऽस्यानिष्टं, न विद्यते किंचिदिष्टं वा।"[१७]

एक व्यक्ति एक समय जिस वस्तु से द्वेष करता है, वही दूसरे समय उसी में लीन हो जाता है, इसलिए इष्ट-अनिष्ट किसे माना जाए?

व्यवहार की दृष्टि में भोग-विलास जीवन का मूल्य है। अध्यात्म की

दृष्टि में गीत-गान विलाप मात्र हैं, नाटक विडम्बनाएं हैं, आभूषण भार हैं और काम-भोग दुःख[१८]।

सौन्दर्य की कल्पना दृश्य वस्तु में होती है। वह वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—इस चतुष्टय से सम्पन्न होती है। वर्णादि चतुष्टय किसी में शुभ परिणमनवाला होता है और किसी में अशुभ परिणमनवाला। इसलिए सौन्दर्य-असौन्दर्य, अच्छाई-बुराई, प्रियता-अप्रियता, उपादेयता-हेयता आदि के निर्णय में वस्तु की योग्यता निमित्त बनती है। वस्तु के शुभ-अशुभ परमाणु मन के परमाणुओं को प्रभावित करते हैं। जिस व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक परमाणुओं के साथ वस्तु के परमाणुओं का साम्य होता है, वह व्यक्ति उस वस्तु के प्रति आकृष्ट हो जाता है। दोनों का वैषम्य हो तो आकर्षण नहीं बनता। यह साम्य और वैषम्य देश, काल और परिस्थिति आदि के समवाय पर निर्भर है। एक देश, काल और परिस्थिति में जिस व्यक्ति के लिए जो वस्तु हेय होती है; वही दूसरे देश, काल और परिस्थिति में उपादेय बन जाती है। यह व्यावहारिक दृष्टि है। परमार्थ-दृष्टि में आत्मा ही सुन्दर है, वही अच्छी, प्रिय, और उपादेय है। आत्म व्यतिरिक्त सब वस्तु हेय हैं। इसलिए फलितार्थ होता है—'दर्शनं स्वात्मनिश्चितिः'—अपनी आत्मा का जो निश्चय है, वही दर्शन है।

मूल्य के प्रत्येक निर्णय में आत्मा की सन्तुष्टि या असन्तुष्टि अन्तर्निहित होती है। अशुद्ध दशा में आत्मा का सन्तोष या असन्तोष भी अशुद्ध होता है। इसलिए इस दशा में होने वाला मूल्यांकन नितान्त बौद्धिक या नितान्त व्यावहारिक होता है। वह शिवत्व के अनुकूल नहीं होता। शिवत्व के साधन तीन हैं—सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। यह श्रद्धा, ज्ञान और आचार की त्रिवेणी ही शिवत्व के अनुकूल है। यह आत्मा की परिक्रमा किये चलती है।

दर्शन आत्मा का निश्चय है[१९]।
बोध आत्मा का ज्ञान है।
चारित्र आत्मा में स्थिति या रमण है।

यही तत्त्व आचार्य शंकर के शब्दों में मिलता है—"ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः निःशेषसंसारबीजः, अविद्याधनर्थनिवर्हणात्। तस्माद् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्[२०]।"

यह आध्यात्मिक रत्नत्रयी है। इसीके आधार पर जैन दर्शन कहता है—आस्रव हेय है और संवर उपादेय। बौद्ध दर्शन के अनुसार दुःख हेय है और मार्ग उपादेय। वेदान्त के अनुसार अविद्या हेय है और विद्या उपादेय। इसी प्रकार सभी दर्शन हेय और उपादेय की सूची लिए हुए चलते हैं।

हेय और उपादेय की जो अनुभूति है, वह दर्शन है। अगम्य को गम्य बनाने वाली विचार-पद्धति भी दर्शन है। इस परिभाषा के अनुसार महापुरुषों (आप्तजनों) की विचार-पद्धति भी दर्शन है। तत्त्व-उपलब्धि की दृष्टि से दर्शन एक है। विचार-पद्धतियों की दृष्टि से वे (दर्शन) अनेक हैं।

दर्शन की प्रणाली

दर्शन की प्रणाली युक्ति पर आधारित होती है। दर्शन तत्त्व के गुणों से सम्बन्ध रखता है, इसलिए उसे तत्त्व का विज्ञान कहना चाहिए। युक्ति विचार का विज्ञान है। तत्त्व पर विचार करने के लिए युक्ति या तर्क का सहारा अपेक्षित होता है। दर्शन के क्षेत्र में तार्किक प्रणाली के द्वारा पदार्थ आत्मा, अनात्मा, गति, स्थिति, समय, अवकाश, पुद्गल, जीवन, मस्तिष्क, जगत्, ईश्वर आदि तथ्यों की व्याख्या, आलोचना, स्पष्टीकरण या परीक्षा की जाती है। इसीलिए एकांगी दृष्टि से दर्शन की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं :—

(१) जीवन की बौद्धिक मीमांसा दर्शन है।

(२) जीवन की आलोचना दर्शन है। आदि-आदि।

इनमें पूर्णता नहीं किन्तु अपूर्णता में भी सत्यांश अवश्य है।

आस्तिक दर्शनों की भित्ति—आत्मवाद

"अनेक व्यक्ति यह नहीं जानते कि मैं कहाँ से आया हूँ? मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं? मैं कौन हूँ? यहाँ से फिर कहाँ जाऊंगा[११]?"

"इस जिज्ञासा से दर्शन का जन्म होता है। धर्म-दर्शन की मूल-भित्ति आत्मा है। यदि आत्मा है तो वह है, नहीं तो नहीं। यहीं से आत्म-तत्त्व आस्तिकों का आत्मवाद बन जाता है। वाद की स्थापना के लिए दर्शन और उसकी सचाई के लिए धर्म का विस्तार होता है।

"अज्ञानी क्या करेगा जब कि उसे श्रेय और पाप का ज्ञान भी नहीं

होता[२२]" इसलिए "पहले सत्य को जानो और बाद में उसे जीवन में उतारो[२३]।"

भारतीय दार्शनिक पाश्चात्य दार्शनिक की तरह केवल सत्य का ज्ञान ही नहीं चाहता, वह चाहता है मोक्ष। मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है—"जिससे मैं अमृत नहीं बनती, उसे लेकर क्या करूं। जो अमृतत्व का साधन हो वही मुझे बताओ[२४]।" कमलावती इक्षुकार को सावधान करती है—"हे नरदेव! धर्म के सिवाय अन्य कोई भी वस्तु त्राण नहीं है[२५]।" मैत्रेयी अपने पति से मोक्ष के साधन-भूत अध्यात्म-ज्ञान की याचना करती है और कमलावती अपने पति को धर्म का महत्त्व बताती है। इस प्रकार धर्म की आत्मा में प्रविष्ट होकर वह आत्मवाद अध्यात्मवाद बन जाता है। यही स्वर उपनिषद् के ऋषियों की वाणी में से निकला—"आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किए जाने योग्य है[२६]।" तत्त्व यही है कि दर्शन का प्रारम्भ आत्मा से होता है और अन्त मोक्ष में। सत्य का ज्ञान उसका शरीर है और सत्य का आचरण उसकी आत्मा।

सत्य की परिभाषा

प्रश्न यह रहता है कि सत्य क्या है? जैन आगम कहते हैं—"वही सत्य है, जो जिन (आप्त और वीतराग) ने कहा है[२७]" वैदिक सिद्धान्त में भी यही लिखा है—"आत्मा जैसे गूढ़ तत्त्व का क्षीणदोषयति (वीतराग) ही साक्षात्कार करते हैं[२८]।" उनकी वाणी अध्यात्म-वादी के लिए प्रमाण है। क्योंकि वीतराग अन्यथा भाषी नहीं होते। जैसे कहा है—"असत्य बोलने के मूल कारण तीन हैं—राग, द्वेष और मोह। जो व्यक्ति क्षीणदोष है—दोषत्रयी से मुक्त हो चुका, वह फिर कभी असत्य नहीं बोलता[२९]।"

"वीतराग अन्यथा भाषी नहीं होते" यह हमारे प्रतिपाद्य का दूसरा पहलू है। इससे पहले उन्हें पदार्थ-समूह का यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। यथार्थ ज्ञान उसी को होता है, जो निरावरण हो। निरावरण यानी यथार्थद्रष्टा, वीतराग-वाक्य यानी यथार्थवक्तृत्व, ये दो प्रतिज्ञाएं हमारी सत्यमूलक धारणा की समानान्तर रेखाएं हैं। इन्हीं के आधार पर हमने आप्त के उपदेश को

आगम-सिद्धान्त माना है[१०]। फलितार्थ यह हुआ कि यथार्थज्ञाता एवं यथार्थ वक्ता से हमें जो कुछ मिला, वही सत्य है।

दार्शनिक परम्परा का इतिहास

स्वतन्त्र विचारकों का खयाल है कि इस दार्शनिक परम्परा के आधार पर ही भारत में अन्ध विश्वास जन्मा। प्रत्येक मनुष्य के पास बुद्धि है, तर्क है, अनुभव है, फिर वह क्यों ऐसा स्वीकार करे कि यह अमुक व्यक्ति या अमुक शास्त्र की वाणी है, इसलिए सत्य ही है। वह क्यों न अपनी ज्ञान-शक्ति का लाभ उठाए। महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा—किसी ग्रन्थ को स्वतः प्रमाण न मानना, अन्यथा बुद्धि और अनुभव की प्रामाणिकता जाती रहेगी। इस उलझन को पार करने के लिए हमें दर्शन-विकास के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालनी होगी।

दर्शन की उत्पत्ति

वैदिकों का दर्शन-युग उपनिषद्काल से शुरू होता है। आधुनिक-अन्वेषकों के मतानुसार लगभग चार हजार वर्ष पूर्व उपनिषदों का निर्माण होने लग गया था। लोकमान्य तिलकने मैत्र्युपनिषद् का रचनाकाल ईसासे पूर्व १८८० से १६८० के बीच माना है। बौद्धों का दार्शनिक युग ईसासे पूर्व ५वीं शताब्दी में शुरू होता है। जैनों के उपलब्ध दर्शन का युग भी यही है, यदि हम भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा को इससे न जोड़ें। यहाँ यह बता देना अनावश्यक न होगा कि हमने जिस दार्शनिक युग का उल्लेख किया है, उसका दर्शन की उत्पत्ति से सम्बन्ध है। वस्तुवृत्त्या वह निर्दिष्टकाल आगम-प्रणयनकाल है। किन्तु दर्शन की उत्पत्ति आगमों से हुई है, इस पर थोड़ा आगे चल कर कुछ विशद रूप में बताया जाएगा। इसलिए प्रस्तुत विषय में उस युग को दार्शनिक युग की संज्ञा दी गई है। दार्शनिक ग्रन्थों की रचना तथा पुष्ट प्रामाणिक परम्पराओं के अनुसार तो वैदिक, जैन और बौद्ध प्रायः सभी का दर्शन-युग लगभग विक्रम की पहली शताब्दी या उससे एक शती पूर्व प्रारम्भ होता है। उससे पहले का युग आगम-युग ठहरता है। उसमें ऋषि उपदेश देते गए और वे उनके उपदेश 'आगम' बनते गए। अपने-अपने प्रवर्तक ऋषि को सत्य-द्रष्टा कहकर उनके अनुयायियों द्वारा उनका समर्थन किया

जाता रहा। ऋषि अपनी स्वतन्त्र वाणी में बोलते हैं—"मैं यों कहता हूँ [31]।" दार्शनिक युग में यह बदल गया। दार्शनिक बोलता है—"इसलिए यह यों है।" आगम-युग श्रद्धा-प्रधान था और दर्शन-युग परीक्षा-प्रधान। आगम-युग में परीक्षा की और दर्शन-युग में श्रद्धा की अत्यन्त उपेक्षा नहीं हुई। हो भी नहीं सकती। इसी बात की सूचना के लिए ही यहाँ श्रद्धा और परीक्षा के आगे प्रधान शब्द का प्रयोग किया गया है। आगम में प्रमाण के लिए पर्याप्त स्थान सुरक्षित है। जहाँ हमें आज्ञारुचि[32] एवं संक्षेपरुचि[33] का दर्शन होता है, वहाँ विस्ताररुचि भी उपलब्ध होती है[34]। इन रुचियों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि दर्शन-युग या आगम युग अमुक-अमुक समय नहीं किन्तु व्यक्तियों की योग्यता है। दार्शनिक युग अर्थात् विस्तार-रुचि की योग्यतावाला व्यक्ति आगम-युग अर्थात् आज्ञारुचि या संक्षेपरुचिवाला व्यक्ति। प्रकारान्तर से देखें तो दार्शनिक युग यानी विस्तार-रुचि, आगमिक यानी आज्ञारुचि। दर्शन के हेतु बतलाते हुए वैदिक ग्रन्थकारों ने लिखा है—"श्रौत वाक्य सुनना, युक्तिद्वारा उनका मनन करना, मनन के बाद सतत-चिन्तन करना—ये सब दर्शन के हेतु हैं[35]।" विस्ताररुचि, की व्याख्या में जैनसूत्र कहते हैं—"द्रव्यों के सब भाव यानी विविध पहलू प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि प्रमाण एवं नैगम आदि नय—समीक्षक दृष्टियों से जो जानता है, वह विस्ताररुचि है[36]।" इसलिए यह व्याप्ति बन सकती है कि आगम में दर्शन है और दर्शन में आगम। तात्पर्य की दृष्टि से देखें तो अल्पबुद्धि व्यक्ति के लिए आज भी आगम-युग है और विशद-बुद्धि व्यक्ति के लिए पहले भी दर्शन-युग था। किन्तु एकान्ततः यों मान लेना भी संगत नहीं होता। चाहे कितना ही अल्प-बुद्धि व्यक्ति हो, कुछ न कुछ तो उसमें परीक्षा का भाव होगा ही। दूसरी ओर विशदबुद्धि के लिए भी श्रद्धा आवश्यक होगी ही। इसीलिए आचार्यों ने बताया है कि आगम और प्रमाण, दूसरे शब्दों में श्रद्धा और युक्ति—इन दोनों के समन्वय से ही दृष्टि में पूर्णता आती है अन्यथा सत्यदर्शन की दृष्टि अधूरी ही रहेगी।

विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—"इन्द्रिय विषय और अतीन्द्रिय-विषय। ऐन्द्रियिक पदार्थों को जानने के लिए युक्ति और अतीन्द्रिय पदार्थों को

जानने के लिए आगम—ये दोनों मिल हमारी सत्योन्मुख दृष्टि को पूर्ण बनाते हैं[३७]।" यहाँ हमें अतीन्द्रिय को अहेतुगम्य पदार्थ के अर्थ में लेना होगा अन्यथा विषय की संगति नहीं होती क्योंकि युक्ति के द्वारा भी बहुत सारे अतीन्द्रिय पदार्थ जाने जाते हैं। सिर्फ अहेतुगम्य पदार्थ ही ऐसे हैं, जहाँ कि युक्ति कोई काम नहीं करती। हमारी दृष्टि के दो अङ्गों का आधार भावों की द्विविधता है। ज्ञेयत्व की अपेक्षा पदार्थ दो भागों में विभक्त होते हैं—हेतुगम्य और अहेतुगम्य[३८]। जीव का अस्तित्व हेतुगम्य है। स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से उसकी सिद्धि होती है। रूप को देखकर रस का अनुमान, सघन बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान होता है, यह हेतुगम्य है। पृथ्वीकायिक जीव श्वास लेते हैं, यह अहेतुगम्य...(आगमगम्य) है। अभव्य जीव मोक्ष नहीं जाते किन्तु क्यों नहीं जाते, इसका युक्ति के द्वारा कोई कारण नहीं बताया जा सकता। सामान्य युक्ति में भी कहा जाता है—'स्वभावे तार्किका भग्नाः—"स्वभाव के सामने कोई प्रश्न नहीं होता। अग्नि जलती है, आकाश नहीं यहाँ तर्क के लिए स्थान नहीं है[३९]।"

आगम और तर्क का जो पृथक्-पृथक् क्षेत्र बतलाया है, उसको मानकर चले बिना हमें सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। वैदिक साहित्य में भी सम्पूर्ण दृष्टि के लिए उपदेश और तर्कपूर्ण मनन तथा निदिध्यासन की आवश्यकता बतलाई है[४०]। जहाँ श्रद्धा या तर्क का अतिरंजन होता है, वहाँ ऐकान्तिकता आ जाती है। उससे अभिनिवेश, आग्रह या मिथ्यात्व पनपता है। इसीलिए आचार्यों ने बताया है कि "जो हेतुवाद के पक्ष में हेतु का प्रयोग करता है, आगम के पक्ष में आगमिक है, वही स्वसिद्धान्त का जानकार है। जो इससे विपरीत चलता है, वह सिद्धान्त का विराधक है।"

आगम तर्क की कसौटी पर

यदि कोई एक ही द्रष्टा ऋषि या एक ही प्रकार के आगम होते तो स्यात् आगमों को तर्क की कसौटी पर चढ़ने की घड़ी न आती। किन्तु अनेक मतवाद हैं, अनेक ऋषि। किसकी बात मानें किसकी नहीं, यह प्रश्न लोगों के सामने आया। धार्मिक मतवादों के इस पारस्परिक संघर्ष में दर्शन का विकास हुआ।

भगवान् महावीर के समय में ही ३६३ मतवादों का उल्लेख मिलता है[४१]। बाद में उनकी शाखा प्रशाखाओं का विस्तार होता गया। स्थिति ऐसी बनी कि आगम की साक्षी से अपने सिद्धान्तों की सचाई बनाए रखना कठिन हो गया। तब प्रायः सभी प्रमुख मतवादों ने अपने तत्त्वों को व्यवस्थित करने के लिए युक्ति का सहारा लिया। "विज्ञानमय आत्मा का श्रद्धा ही सिर है[४२]" यह सूत्र "वेदवाणी की प्रकृति बुद्धिपूर्वक है" इससे जुड़ गया [४३]। "जो द्विज धर्म के मूल श्रुति और स्मृति का तर्कशास्त्र के सहारे अपमान करता है वह नास्तिक और वेदनिन्दक है, साधुजनों को उसे समाज से निकाल देना चाहिए [४४]।" इसका स्थान गौण होता चला गया और "जो तर्क से वेदार्थ का अनुसन्धान करता है, वही धर्म को जानता है, दूसरा नहीं" इसका स्थान प्रमुख हो चला [४५]। आगमों की सत्यता का भाग्य तर्क के हाथ में आ गया। चारों ओर 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' यह उक्ति गुंजने लगी। "वही धर्म सत्य माना जाने लगा, जो कष, छेद और ताप सह सके [४६]।" परीक्षा के सामने अमुक व्यक्ति या अमुक व्यक्ति की वाणी का आधार नहीं रहा, वहाँ व्यक्ति के आगे युक्ति की उपाधि लगानी पड़ी—'युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः [४७]।'

भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध या महर्षि व्यास की वाणी है, इसलिए सत्य है या इसलिए मानो, यह बात गौण हो गई। हमारा सिद्धान्त युक्तियुक्त है, इसलिए सत्य है इसका प्राधान्य हो गया [४८]।

तर्क का दुरुपयोग

ज्यों-ज्यों धार्मिकों में मत-विस्तार की भावना बढ़ती गई, त्यों-त्यों तर्क का क्षेत्र व्यापक बनता चला गया। न्यायसूत्रकार ने वाद, जल्प और वितण्डा को तत्त्व बताया [४९]। "वाद को तो प्रायः सभी दर्शनों में स्थान मिला [५०]। जय-पराजय की व्यवस्था भी मान्य हुई भले ही उसके उद्देश्य में कुछ अन्तर रहा हो। आचार्य और शिष्य के बीच होनेवाली तत्त्वचर्चा के क्षेत्र में वाद फिर भी विशुद्ध रहा। किन्तु जहाँ दो विरोधी मतानुयायियों में चर्चा होती, वहाँ वाद अधर्मवाद से भी अधिक विकृत बन जाता। मण्डनमिश्र और शङ्कराचार्य के बीच हुए वाद का वर्णन इसका ज्वलन्त प्रमाण है [५१]।

आचार्य सिद्धसेन ने महान् तार्किक होते हुए भी शुष्कवाद के विषय में विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "श्रेयस् और वाद की दिशाएं भिन्न हैं[५२]।"

भारत में पारस्परिक विरोध बढ़ाने में शुष्क तर्कवाद का प्रमुख हाथ है। "तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्"—युधिष्ठिर के ये उद्गार तर्क की अस्थिरता और मतवादों की बहुलता से उत्पन्न हुई जटिलता के सूचक हैं[५३]। मध्यस्थ वृत्तिवाले आचार्य जहाँ तर्क की उपयोगिता मानते थे, वहाँ शुष्क तर्कवाद के विरोधी भी थे[५४]।

प्रस्तुत विषय का उपसंहार करने के पूर्व हमें उन पर दृष्टि डालनी होगी, जो सत्य के दो रूप हमें इस विवरण से मिलते हैं—(१) आगम को प्रमाण मानने वालों के मतानुसार जो सर्वज्ञ ने कहा है वह तथा जो सर्वज्ञकथित और युक्ति द्वारा समर्थित है वह सत्य है। (२) आगम को प्रमाण न मानने वालों के मतानुसार जो तर्कसिद्ध है, वही सत्य है। किन्तु सूक्ष्म, व्यवहित, अतीन्द्रिय तथा स्वभावसिद्ध पदार्थों की जानकारी के लिए युक्ति कहाँ तक कार्य कर सकती है, यह श्रद्धा को सर्वथा अस्वीकार करनेवालों के लिए चिन्तनीय है। हम तर्क की ऐकान्तिकता को दूर कर दें तो वह सत्यसन्धानात्मक प्रवृत्ति के लिए दिव्य-चक्षु है। धर्म-दर्शन आत्म-शुद्धि और तत्त्व-व्यवस्था के लिए है, आत्मवञ्चना या दूसरों को जाल में फंसाने के लिए नहीं, इसीलिए दर्शन का क्षेत्र सत्य का अन्वेषण होना चाहिए। भगवान् महावीर के शब्दों में "सत्य ही लोक में सारभूत है[५५]।" उपनिषद्कार के शब्दों में "सत्य ही ब्रह्मविद्या का अधिष्ठान और परम लक्ष्य है[५६]।" "आत्महितेच्छु पुरुष असत्य चाहे वह कहीं हो, को छोड़ सत्य को ग्रहण करे[५७]।" कवि भोज यति की यह माध्यस्थ्यपूर्ण उक्ति प्रत्येक तार्किक के लिए मननीय है।

दर्शन का मूल

तार्किक विचारपद्धति, तत्त्वज्ञान[५८], विचारप्रयोजकज्ञान[५९] अथवा परीक्षा-विधि का नाम दर्शन है[६०]। उसका मूल उद्‌गम कोई एक वस्तु या सिद्धान्त होता है। जिस वस्तु या सिद्धान्त को लेकर यौक्तिक विचार किया जाए, उसीका वह (विचार) दर्शन बन जाता है—जैसे राजनीति-दर्शन, समाज-दर्शन, आत्म-दर्शन (धर्म-दर्शन) आदि-आदि।

यह सामान्य स्थिति या आधुनिक स्थिति है। पुरानी परिभाषा इतनी व्यापक नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दर्शन शब्द का प्रयोग सबसे पहले 'आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले विचार' के अर्थ में हुआ है। दर्शन यानी वह तत्त्व-ज्ञान जो आत्मा, कर्म, धर्म, स्वर्ग, नरक आदि का विचार करे।

आगे चलकर बृहस्पति का लोकायत मत और अजितकेश-कम्बली का उच्छेदवाद तथा तज्जीव-तच्छरीरवाद जैसी नास्तिक विचार-धाराएं सामने आईं[११]। तब दर्शन का अर्थ कुछ व्यापक हो गया। वह सिर्फ आत्मा से ही चिपटा न रह सका। दर्शन यानी विश्व की मीमांसा (अस्तित्व या नास्तित्व का विचार) अथवा सत्य-शोध का साधन। पाश्चात्य दार्शनिकों की विशेषतः कार्लमार्क्स की विचारधारा के आविर्भाव ने दर्शन का क्षेत्र और अधिक व्यापक बना दिया। जैसा कि मार्क्स ने कहा है—"दार्शनिकों ने जगत् को समझने की चेष्टा की है, प्रश्न यह है कि उसका परिवर्तन कैसे किया जाए[१२]।" मार्क्स-दर्शन विश्व और समाज दोनों के तत्त्वों का विचार करता है। वह विश्व को समझने की अपेक्षा समाज को बदलने में दर्शन की अधिक सफलता मानता है। आस्तिकों ने समाज पर कुछ भी विचार नहीं किया, यह तो नहीं, किन्तु हाँ धर्म-कर्म की भूमिका से हटकर उन्होंने समाज को नहीं तोला। उन्होंने अभ्युदय की सर्वथा उपेक्षा नहीं की फिर भी उनका अन्तिम लक्ष्य निःश्रेयस रहा।

कहा भी है—

यदाभ्युदयिकञ्चैव, नैश्रेयसिकमेव च।
सुखं साधयितुं मार्गं, दर्शयेत् तद् हि दर्शनम्॥

नास्तिक धर्म-कर्म पर तो नहीं रुके, किन्तु फिर भी उन्हें समाज-परिवर्तन की बात नहीं सूझी। उनका पक्ष प्रायः खण्डनात्मक ही रहा। मार्क्स ने समाज को बदलने के लिए ही समाज को देखा। आस्तिकों का दर्शन समाज से आगे चलता है। उसका लक्ष्य है शरीरमुक्ति—पूर्णस्वतन्त्रता—मोक्ष।

नास्तिकों का दर्शन ऐहिक सुख-सुविधाओं के उपभोग में कोई खामी न रहे, इसलिए आत्मा का उच्छेद साधकर रुक जाता है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक

भौतिकवाद का लक्ष्य है—समाज की वर्तमान अवस्था का सुधार। अब हम देखते हैं कि दर्शन शब्द जिस अर्थ में चला, अब उसमें नहीं रहा।

हरिभद्रसूरि ने वैकल्पिक दशा में चार्वाक मत को छह दर्शनों में स्थान दिया है [१३]। मार्क्स-दर्शन भी आज लब्धप्रतिष्ठ है, इसलिए इसको दर्शन न मानने का आग्रह करना सत्य से आँखें मूंदने जैसा है।

दर्शनों का पार्थक्य

दर्शनों की विविधता या विविध-विषयता के कारण 'दर्शन' का प्रयोग एकमात्र आत्मविचार सम्बन्धी नहीं रहा। इसलिए अच्छा है कि विषय की सूचना के लिए उसके साथ मुख्यतया स्वविषयक विशेषण रहे। आत्मा को मूल मानकर चलनेवाले दर्शन का मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय धर्म है। इसलिए आत्ममूलक दर्शन की 'धर्म-दर्शन' संज्ञा रखकर चलें तो विषय के प्रतिपादन में बहुत सुविधा होगी।

धर्म दर्शन का उत्स आप्तवाणी (आगम) है। ठीक भी है। आधार-शून्य विचार-पद्धति किसका विचार करे, सामने कोई तत्त्व नहीं तब किसकी परीक्षा करे? प्रत्येक दर्शन अपने मान्य तत्त्वों की व्याख्या से शुरू होता है। सांख्य या जैन दर्शन, नैयायिक या वैशेषिक दर्शन, किसी को भी लें सब में स्वाभिमत २५, ६, १६, या ६ तत्त्वों की ही परीक्षा है। उन्होंने ये अमुक-अमुक संख्या बद्ध तत्त्व क्यों माने, इसका उत्तर देना दर्शन का विषय नहीं, क्योंकि वह सत्यद्रष्टा तपस्वियों के साक्षात्-दर्शन का परिणाम है। माने हुए तत्त्व सत्य हैं या नहीं, उनकी संख्या संगत है या नहीं, यह बताना दर्शन का काम है। दार्शनिकों ने ठीक यही किया है। इसीलिए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि दर्शन का मूल आधार आगम है। वैदिक निरुक्तकार इस तथ्य को एक घटना के रूप में व्यक्त करते हैं। ऋषियों के उत्क्रमण करने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा—"अब हमारा ऋषि कौन होगा? तब देवताओं ने उन्हें तर्क नामक ऋषि प्रदान किया [१४]।" संक्षेप में सार इतना ही है कि ऋषियों के के समय में आगम का प्राधान्य रहा। उनके अभाव में उन्हीं की वाणी के आधार पर दर्शन-शास्त्र का विकास हुआ।

जैन दर्शन का आरम्भ

यूनानी दर्शन का आरम्भ आश्चर्य से हुआ माना जाता है। यूनानी दार्शनिक अफलातूं प्लेटो का प्रसिद्ध वाक्य है—"दर्शन का उद्‌भव आश्चर्य से होता है[१५]।" पश्चिमी दर्शन का उद्‌गम संशय से हुआ—ऐसी मान्यता है। भारतीय दर्शन का स्रोत है—दुःख की निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा[१६]।

जैन दर्शन इसका अपवाद नहीं है। "यह संसार अध्रुव और दुःखबहुल है। वह कौनसा कर्म है, जिसे स्वीकार कर मैं दुर्गति से बचूं, दुःख-परम्परा से मुक्ति पा सकूं[१७]।" इस चिन्तन का फल है—आत्मवाद। "आत्मा की जड़ प्रभावित दशा ही दुःख है[१८]।" "आत्मा की शुद्ध दशा ही सुख है[१९]।"

कर्मवाद इसी शोध का परिणाम है। "सुचीर्ण का फल सत् होता है और दुश्चीर्ण कर्म का फल असत्[२०]।"

"आत्मा पर नियंत्रण कर, यही दुःख-मुक्ति का उपाय है[२१]।"

इस दुःख निवृत्ति के उपाय ने क्रियावाद को जन्म दिया। इनकी शोध के साथ साथ दूसरे अनेक तत्त्वों का विकास हुआ।

आश्चर्य और संशय भी दर्शन-विकास के निमित्त बनते हैं। जैन सूत्रों में भगवान् महावीर और उनके ज्येष्ठ शिष्य गौतम के प्रश्नोत्तर प्रचुर मात्रा में हैं। गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछे, उनके कई कारण बताए हैं। उनमें दो कारण है—"जाय संशए, जाय कोउहल्ले" (भगवती १।१) उनको संशय हुआ, कुतूहल हुआ तथा भगवान् महावीर से समाधान मांगा, भगवान् महावीर ने उत्तर दिये। ये प्रश्नोत्तर जैन तत्त्व ज्ञान की अमूल्य निधि हैं।

जैन दर्शन का ध्येय

जैन दर्शन का ध्येय है—आध्यात्मिक अनुभव। आध्यात्मिक अनुभव का अर्थ है स्वतन्त्र आत्मा का एकत्व में मिल जाना नहीं, किन्तु अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व (स्वपूर्णता) का अनुभव करना है।

प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है और प्रत्येक आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न है। आत्मा और परमात्मा, ये सर्वथा भिन्न-सत्तात्मक तत्त्व नहीं हैं। अशुद्ध दशा में जो आत्मा होती है, वही शुद्ध दशा में परमात्मा बन जाती है।

अशुद्ध दशा में आत्मा के ज्ञान और शक्ति जो आवृत्त होते हैं, वे शुद्ध दशा में पूर्ण विकसित हो जाते हैं।

'सत्य की शोध' यह भी जैन दर्शन का ध्येय है किन्तु केवल सत्य की शोध ही, यह नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टि से वही सत्य सत्य है, जो आत्मा को अशुद्ध या अनुन्नत दशा से शुद्ध या उन्नत दशा में परिवर्तित करने के लिए उपयुक्त होता है। मार्क्स ने जो कहा—"दार्शनिकों ने जगत् को विविध प्रकार से समझने का प्रयत्न किया है किन्तु उसे बदलने का नहीं।" यह सर्वांश सुन्दर नहीं है। परिवर्तन के प्रति दो दृष्टि बिन्दु हैं—बाह्य और आन्तरिक। भारतीय दर्शन आन्तरिक परिवर्तन को मुख्य मानकर चले हैं। उनका अभिमत यह रहा है कि आध्यात्मिक परिवर्तन होने पर बाहरी परिवर्तन अपने आप हो जाता है। अभ्युदय उनका साध्य नहीं, वह केवल जीवन-निर्वाह का साधन मात्र रहा है। मार्क्स जैसे व्यक्ति, जो केवल बाहरी परिवर्तन को ही साध्य मानकर चले, का परिवर्तन सम्बन्धी दृष्टिकोण भिन्न है, यह दूसरी बात है। जैन-दृष्टि के अनुसार बाहरी परिवर्तन से क्वचित् आन्तरिक परिवर्तन सुलभ हो सकता है किन्तु उससे आत्म मुक्ति का द्वार नहीं खुलता, इसलिए वह मोक्ष के लिए मूल्यवान् नहीं है।

समस्या और समाधान

लोक शाश्वत है या अशाश्वत? आत्मा शाश्वत है या अशाश्वत? आत्मा शरीर से भिन्न है या अभिन्न? जीवों में जो भेद है, वह कर्मकृत है या अन्यकृत? कर्म का कर्ता और भोक्ता स्वयं जीव है या अन्य कोई? आदि-आदि अनेक समस्याएं हैं, जो मनुष्य को संदिग्ध किये रहती हैं।

(१) लोक शाश्वत है तो विनाश और परिवर्तन कैसे? यदि वह अशाश्वत है तो भेद-अतीत, अनागत, नवीन, पुरातन आदि-आदि कैसे?

(२) आत्मा शाश्वत है तो मृत्यु कैसे? यदि अशाश्वत है तो विभिन्न चैतन्य-सन्तानों की एकात्मकता कैसे?

(३) आत्मा शरीर से भिन्न है तो शरीर में सुख-दुःख की अनुभूति कैसे? यदि वह शरीर से अभिन्न है तो शरीर और आत्मा—ये दो पदार्थ क्यों?

(४) जीवों की विचित्रता कर्म-कृत है तो साम्यवाद कैसे? यदि वह अन्यकृत है तो कर्मवाद क्यों?

(५) कर्म का कर्ता और भोक्ता यदि जीव ही है तो बुरे कर्म और उसके फल का उपभोग कैसे? यदि जीव कर्ता-भोक्ता नहीं है तो कर्म और कर्म फल से उसका सम्बन्ध कैसे? इन सबका समाधान करने के लिए अनेकान्त दृष्टि आवश्यक है। एकान्त दृष्टि के एकांगी विचारों से इनका विरोध नहीं मिट सकता।

(१) लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। काल की अपेक्षा लोक शाश्वत है। ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें लोक का अस्तित्व न मिले। त्रिकाल में वह एक रूप नहीं रहता, इसलिए वह अशाश्वत भी है। जो एकान्ततः शाश्वत होता है, उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता, इसलिए वह अशाश्वत है। जो एकान्ततः अशाश्वत होता है, उसमें अन्वयी सम्बन्ध नहीं हो सकता। पहले क्षण में होनेवाला लोक दूसरे क्षण अत्यन्त उच्छिन्न हो जाए तो फिर 'वर्तमान' के अतिरिक्त अतीत, अनागत आदि का भेद नहीं घटता। कोई ध्रुव पदार्थ हो—त्रिकाल में टिका रहे, तभी वह था, है और रहेगा—यों कहा जा सकता है। पदार्थ यदि क्षण-विनाशी ही हो तो अतीत और अनागत के भेद का कोई आधार ही नहीं रहता। इसीलिए विभिन्न पर्यायों की अपेक्षा 'लोक शाश्वत है' यह माने बिना भी स्थिति स्पष्ट नहीं होती।

(२) आत्मा के लिए भी यही बात है। वह शाश्वत और अशाश्वत दोनों है:—द्रव्यत्व की दृष्टि से शाश्वत है—(आत्मा पूर्व और उत्तर सभी क्षणों में रहता है, अन्वयी है, चैतन्य पर्यायों का संकलन कर्ता है) पर्याय की दृष्टि से अशाश्वत है (विभिन्न रूपों में—एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में उसका परिणमन होता है)

(३) आत्मा शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी। स्वरूप की दृष्टि से भिन्न है और संयोग एवं उपकार की दृष्टि से अभिन्न। आत्मा का स्वरूप चैतन्य है, शरीर का स्वरूप जड़, इसलिए ये दोनों भिन्न हैं। संसारावस्था में आत्मा और शरीर का दूध पानी की तरह, लोह अग्नि-पिंड की तरह

एकात्म्य संयोग होता है, इसलिए शरीर से किसी वस्तु का स्पर्श होने पर आत्मा में संवेदन और कर्म का विपाक होता है।

(४) एक जीव की स्थिति दूसरे जीव से भिन्न है—विचित्र है उसका कारण कर्म अवश्य है किन्तु केवल कर्म ही नहीं। उसके अतिरिक्त काल, स्वभाव, नियति। उद्योग आदि अनेक तत्त्व हैं। कर्म दो प्रकार का होता है :— सोपक्रम[२२] और निरुपक्रम अथवा सापेक्ष और निरपेक्ष[२३]। फल-काल में कई कर्म बाहरी स्थितियों की अपेक्षा नहीं रखते और कई रखते हैं, कई कर्म-विपाक के अनुकूल सामग्री मिलने पर फल देते हैं और कई उनके बिना भी। कर्मोदय अनेक विध होता है, इसलिए कर्मवाद का साम्यवाद से विरोध नहीं है। कर्मोदय की सामग्री समान होने पर प्राणियों की स्थिति बहुत कुछ समान हो सकती है, होती भी है। जैन सूत्रों में कल्पातीत देवताओं की समान-स्थिति का जो वर्णन है, वह आज के इस साम्यवाद से कहीं अधिक रोमाञ्चकारी है। कल्पातीत देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, अनुभव, सुख समान होता है, उनमें न कोई स्वामी होता है और न कोई सेवक और न कोई पुरोहित, वे सब अहमिन्द्र—स्वयं इन्द्र हैं[२४]। अनेक देशों में तथा समूचे भूभाग में भी यदि खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज समान हो जाएं, स्वामी-सेवक का भेद-भाव मिट जाए, राज्य सत्ता जैसी कोई केन्द्रित शक्ति न रहे तो उससे कर्मवाद की स्थिति में कोई आंच नहीं आती। रोटी की सुलभता से ही विषमता नहीं मिटती। प्राणियों में विविध-प्रकार की गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग सम्बन्धी विसदृशता है। उसका कारण उनके अपने विचित्र कर्म ही हैं[२५]। एक पशु है तो एक मनुष्य, एक दो इन्द्रियवाला कृमि है तो एक पांच इन्द्रियवाला मनुष्य। यह विषमता क्यों? इसका कारण स्वोपार्जित कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

मुक्त आत्माएं कर्म की कर्त्ता, भोक्ता कुछ भी नहीं हैं। बद्ध आत्माएं कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं। उनके कर्म का प्रवाह अनादि है और वह कर्म-मूल नष्ट न होने तक चलता रहता है। आत्मा स्वयं कर्त्ता भोक्ता होकर भी, जिन कर्मों का फल अनिष्ट हो, वैसे कर्म क्यों करें और कर भी लें तो उनका अनिष्ट फल स्वयं क्यों भोगे? इस प्रश्न के मूल में ही भूल है।

आत्मा में कर्तृत्व शक्ति है, उसीसे वह कर्म नहीं करती; किन्तु उसके पीछे राग-द्वेष, स्वत्व-परत्व की प्रबल प्रेरणा होती है। पूर्व कर्म-जनित वेग से आत्मा पूर्णतया दबती नहीं तो सब जगह उसे टाल भी नहीं सकती। एक बुरा कर्म आगे के लिए भी आत्मा में बुरी प्रेरणा छोड़ देता है। भोक्तृत्व शक्ति की भी यही बात है। आत्मा में बुरा फल भोगने की चाह नहीं होती पर बुरा या भला फल चाह के अनुसार नहीं मिलता, वह पहले की क्रिया के अनुसार मिलता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है—यह स्वाभाविक बात है। विष खाने वाला यह न चाहे कि मैं मरूँ, फिर भी उसकी मौत टल नहीं सकती। कारण कि विष की क्रिया उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं है, वह उसे खाने की क्रिया पर निर्भर है। विस्तार से आगे पढ़िए।

दो प्रवाह

ज्ञान का अंश यत्किंचित् मात्रा में प्राणी-मात्र में मिलता है। मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी हैं। उनमें बौद्धिक विकास अधिक होता है। बुद्धि का काम है सोचना, समझना, तत्त्व का अन्वेषण करना। उन्होंने सोचा, समझा, तत्त्व का अन्वेषण किया। उसमें से दो विचार प्रवाह निकले—क्रियावाद और अक्रियावाद।

आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष पर विश्वास करने वाले "क्रियावादी' और इन पर विश्वास नहीं करने वाले अक्रियावादी" कहलाए। क्रियावादी वर्ग ने संयमपूर्वक जीवन बिताने का, धर्माचरण करने का उपदेश दिया और अक्रियावादी वर्ग ने सुखपूर्वक जीवन बिताने को ही परमार्थ बतलाया। क्रियावादियों ने—"देहे दुक्खं महाफलं[६]" "अत्तहियं खु दुहेण लब्भई[७]।" शारीरिक कष्टों को समभाव से सहना महाफल है। "आत्महित कष्ट सहने से सधता है"—ऐसे वाक्यों की रचना की और अक्रियावादियों के मन्तव्य के आधार पर—"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्"—जैसी युक्तियों का सर्जन हुआ। क्रियावादी वर्ग ने कहा—"जो रात या दिन चला जाता है, वह फिर वापिस नहीं आता[८]। अधर्म करने वाले के रात-दिन निष्फल होते हैं, धर्मनिष्ठ व्यक्ति के वे सफल होते हैं।

इसलिए धर्म करने में एक क्षण भी प्रमाद मत करो [८०]। क्योंकि यह जीवन कुश के नोक पर टिकी हुई हिम की बूंद के समान क्षण भंगुर है [८०]। यदि इस जीवन को व्यर्थ गँवा दोगे तो फिर दीर्घकाल के बाद भी मनुष्य-जन्म मिलना बड़ा दुर्लभ है [८१]। कर्मों के विपाक बड़े निबिड़ होते हैं। अतः समझो, तुम क्यों नहीं समझते हो ? ऐसा सद् विवेक बार बार नहीं मिलता [८२]। बीती हुई रात फिर लौटकर नहीं आती और न मानव-जीवन फिर से मिलना सुलभ है। जब तक बुढ़ापा न सताए, रोग घेरा न डाले, इन्द्रियां शक्ति-हीन न बनें तब तक धर्म का आचरण कर लो [८३]। नहीं तो फिर मृत्यु के समय वैसे ही पछताना होगा, जैसे साफ-सुथरे राज-मार्ग को छोड़कर ऊबड़-खाबड़ मार्ग में जाने वाला गाड़ीवान्, रथ की धुरी टूट जाने पर पछताता है [८४]।

अक्रियावादियों ने कहा—"यह सब से बड़ी मूर्खता है कि लोग दृष्ट सुखों को छोड़कर अदृष्ट सुख को पाने की दौड़ में लगे हुए हैं [८५]। ये काम-भोग हाथ में आये हुए हैं, प्रत्यक्ष हैं, जो पीछे होने वाला है वह न जाने कब क्या होगा ? परलोक किसने देखा है—कौन जानता है कि परलोक है या नहीं [८६]। जन-समूह का एक बड़ा भाग सांसारिक सुखों का उपभोग करने में व्यस्त है, तब फिर हम क्यों न करें ? जो दूसरों को होगा वही हम को भी होगा [८७]। हे प्रिये ! चिन्ता करने जैसी कोई बात नहीं, खूब खा-पी आनन्द कर जो कुछ कर लेगी, वह तेरा है [८८]। मृत्यु के बाद आना-जाना कुछ भी नहीं है। कुछ लोग परलोक के दुःखों का वर्णन कर-कर जनता को प्राप्त सुखों से विमुख किए देते हैं। पर यह अतात्त्विक है [८९]।" क्रियावाद की विचारधारा में वस्तु स्थिति स्पष्ट हुई, लोगों ने संयम सिखा, त्याग तपस्या को जीवन में उतारा। अक्रियावाद की विचार प्रणाली से वस्तु-स्थिति ओझल रही। लोग भौतिक सुखों की ओर मुड़े। क्रियावादियों ने कहा—"सुकृत और दुष्कृत का फल होता है [९०]। शुभ कर्मों का फल अच्छा और अशुभ कर्मों का फल बुरा होता है। जीव अपने पाप एवं पुण्य कर्मों के साथ ही परलोक में उत्पन्न होते हैं। पुण्य और पाप दोनों का क्षय होने से असीम आत्म-सुखमय मोक्ष मिलता है [९१]। फलस्वरूप लोगों में धर्म रुचि पैदा हुई। अल्प इच्छा, अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह का महत्त्व बढ़ा। अहिंसा, सत्य,

अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इनकी उपासना करने वाला महान् समझा जाने लगा।

अक्रियावादियों ने कहा—"सुकृत और दुष्कृत का फल नहीं होता[१२]। शुभ कर्मों के शुभ और अशुभ कर्मों के अशुभ फल नहीं होते। आत्मा परलोक में जाकर उत्पन्न नहीं होता"—फलस्वरूप लोगों में सन्देह बढ़ा, भौतिक लालसा प्रबल हुई। महा इच्छा, महा आरम्भ और महा परिग्रह का राहु जगत् पर छा गया।

क्रियावादी की अन्तर्-दृष्टि—"कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि"—अपने किये कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं,—इस पर लगी रहती है[१३]। वह जानता है कि कर्म का फल भुगतना होगा। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में। किन्तु उसका फल चखे बिना मुक्ति नहीं। इसलिए यथासम्भव पाप-कर्म से बचा जाए—यही श्रेयस् है। अन्तर्-दृष्टिवाला व्यक्ति मृत्यु के समय भी घबड़ाता नहीं, दिव्यानन्द के साथ मृत्यु को वरण करता है।

अक्रियावादी का दृष्टि बिन्दु—"हत्था गया इमे कामा" जैसी भावना पर टिका हुआ होता है[१४]। वह सोचता है कि इन भोग-साधनों का जितना अधिक उपभोग किया जाए, वही अच्छा है। मृत्यु के बाद कुछ होना जाना नहीं है। इस प्रकार उसका अन्तिम लक्ष्य भौतिक सुखोपभोग ही होता है। वह कर्म-बन्ध से निरपेक्ष होकर त्रस और स्थावर जीवों की सार्थक और निरर्थक हिंसा से सकुचाता नहीं[१५]। वह जब कभी रोग-ग्रस्त होता है, तब अपने किए कर्मों को स्मरण कर पछताता है[१६]। परलोक से डरता भी है। अनुभव बताता है कि मर्मान्तिक रोग और मृत्यु के समय बड़े-बड़े नास्तिक काँप उठते हैं—नास्तिकता को तिलाञ्जलि दे आस्तिक बन जाते हैं। अन्तकाल में अक्रियावादी को यह सन्देह होने लगता है—"मैंने सुना कि नरक है[१७]। जो दुराचारी जीवों की गति है, जहाँ क्रूर कर्मवाले अज्ञानी जीवों को प्रगाढ़ वेदना सहनी पड़ती है। यह कहीं सच तो नहीं है? अगर सच है तो मेरी क्या दशा होगी?" इस प्रकार वह संकल्प-विकल्प की दशा में मरता है। क्रियावाद का निरूपण यह रहा कि "आत्मा के अस्तित्व में सन्देह मत करो[१८]"। वह अमूर्त्त है, इसलिए इन्द्रियग्राह्य नहीं है। वह अमूर्त्त है, इसलिए नित्य है।

अमूर्त पदार्थ मात्र अविभागी नित्य होते हैं। आत्मा नित्य होने के उपरान्त भी स्वकृत अज्ञानादि दोषों के बन्धन में बन्धा हुआ है, वह बन्धन ही संसार (जन्म-मरण) का मूल है।

अक्रियावाद का सार यह रहा कि :—

"यह लोक इतना ही है, जितना दृष्टिगोचर होता है[१]। इस जगत् में केवल पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश,—ये पांच महाभूत ही हैं। इनके समुदय से चैतन्य या आत्मा पैदा होती है[१०]। भूतों का नाश होने पर उसका भी नाश हो जाता है—जीवात्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। जिस प्रकार अरणि की लकड़ी से अग्नि, दूध से घी और तिलों से तेल पैदा होता है, वैसे ही पंच भूतात्मक शरीर से जीव उत्पन्न होता है[११]। शरीर नष्ट होने पर आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं रहती।

इस प्रकार दोनों प्रवाहों से जो धाराएं निकलती हैं, वे हमारे सामने हैं। हमें इनको अथ से इति तक परखना चाहिए क्योंकि इनसे केवल दार्शनिक दृष्टिकोण ही नहीं बनता, किन्तु वैयक्तिक जीवन से लेकर सामाजिक राष्ट्रिय एवं धार्मिक जीवन की नींव इन्हीं पर खड़ी होती है। क्रियावादी और अक्रियावादी का जीवन पथ एक नहीं हो सकता। क्रियावादी के प्रत्येक कार्य में आत्म-शुद्धि का ख्याल होगा, जबकि अक्रियावादी को उसकी चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। आज बहुत सारे क्रियावादी भी हिंसाबहुल विचारधारा में बह चले हैं। जीवन की क्षणभंगुरता को बिसार कर महारम्भ और महापरिग्रह में फंसे हुए हैं। जीवन-व्यवहार में यह समझना कठिन हो रहा है कि कौन क्रियावादी हैं और कौन अक्रियावादी? अक्रियावादी सुदूर भविष्य की न सोचें तो कोई आश्चर्य नहीं। क्रियावादी आत्मा को भुला बैठें। आगे-पीछे न देखें तो कहना होगा कि वे केवल परिभाषा में क्रियावादी हैं, सही अर्थ में नहीं। भविष्य को सोचने का अर्थ वर्तमान से आँखें मूँद लेना नहीं है। भविष्य को समझने का अर्थ है वर्तमान को सुधारना। आज के जीवन की सुखमय साधना ही कल को सुखमय बना सकती है। विषय-वासनाओं में फंसकर आत्म-शुद्धि की उपेक्षा करना क्रियावादी के लिए प्राण-घात से भी अधिक भयंकर है। उसे आत्म-अन्वेषण करना चाहिए।

आत्मा और परलोक की अन्वेषक परिषद् के सदस्य सर् ओलिवर लॉज ने इस अन्वेषण का मूल्याङ्कन करते हुए लिखा है कि—"हमें भौतिक ज्ञान के पीछे पड़कर पारभौतिक विषयों को नहीं भूल जाना चाहिए। चेतन जड़ का कोई गुण नहीं, परन्तु उसमें समायी हुई अपने को प्रदर्शित करने वाली एक स्वतन्त्र सत्ता है। प्राणीमात्र के अन्तर्गत एक ऐसी वस्तु अवश्य है। जिसका शरीर के नाश के साथ अन्त नहीं हो जाता। भौतिक और पारभौतिक संज्ञाओं के पारस्परिक नियम क्या हैं, इस बात का पता लगाना अब अत्यन्त आवश्यक हो गया है।"

उन्नीस

पुर्नजन्म
अन्तरकाल
द्वि-सामयिक गति
त्रि-सामयिक गति
जन्म व्युत्क्रम और इन्द्रिय
स्व-नियमन

आत्मा क्यों ?

अक्रियावादी कहते हैं जो पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं, उसे कैसे माना जाए ? आत्मा, इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं, फिर उसे क्यों माना जाए ? क्रियावादी कहते हैं—पदार्थों को जानने का साधन केवल इन्द्रिय और मन का प्रत्यक्ष ही नहीं, इनके अतिरिक्त अनुभव-प्रत्यक्ष, योगी-प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भी हैं। इन्द्रिय और मन से क्या-क्या जाना जाता है ? इनकी शक्ति अत्यन्त सीमित है। इनसे अपने दो चार पीढ़ी के पूर्वज भी नहीं जाने जाते तो क्या उनका अस्तित्व भी न माना जाए ? इन्द्रियां सिर्फ स्पर्श, रस, गन्ध, रूपात्मक मूर्त्त द्रव्य को जानती हैं। मन इन्द्रियों का अनुगामी है। वह उन्हीं के द्वारा जाने हुए पदार्थों के विशेष रूपों को जानता है—चिन्तन करता है। वह अमूर्त्त वस्तुओं को भी जानता है, किन्तु आगम-निरपेक्ष होकर नहीं। इसलिए विश्ववर्ती सब पदार्थों को जानने के लिए इन्द्रिय और मन पर ही निर्भर हो जाना नितान्त अनुचित है। आत्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं है [1]। वह अरूपी सत्ता है [2]।

अरूपी तत्त्व इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। आत्मा अमूर्त्त है, इसलिए इन्द्रिय के द्वारा न जाना जाए, इससे उसके अस्तित्व पर कोई आंच नहीं आती। इन्द्रिय द्वारा अरूपी आकाश को कौन कब जान सकता है ? अरूपी की बात छोड़िए, अणु या आणविक सूक्ष्म पदार्थ जो रूपी हैं, वे भी इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। अतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को सर्वेसर्वा मानने से कोई तथ्य नहीं निकलता। समूचे का सार इतना-सा है—अनात्मवाद के अनुसार आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं, इसलिए वह नहीं। अध्यात्मवाद ने इसका समाधान देते हुए कहा—आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं—इसलिए वह नहीं, यह मानना तर्क-बाधित है। क्योंकि वह अमूर्तिक है, इसलिए इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकती।

आत्मवादी पूर्व-प्रश्न का उत्तर देकर ही चुप न रहे। उन्होंने आत्म-सिद्धि के प्रबल प्रमाण भी उपस्थित किए। उनमें से कुछ एक निम्न प्रकार हैं :—

स्व संवेदन :—

(१) अपने अनुभव से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। मैं हूँ, मैं सुखी

हूँ, मैं दुःखी हूँ—यह अनुभव शरीर को नहीं होता। शरीर से भिन्न जो वस्तु है, उसे यह होता है। शंकराचार्य के शब्दों में—"सर्वो ह्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति"—सबको यह विश्वास होता है कि 'मैं हूँ'। यह विश्वास किसीको नहीं होता कि 'मैं नहीं हूँ' [३]।

(२) प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व उसके विशेष गुण के द्वारा प्रमाणित होता है। जिस पदार्थ में एक ऐसा त्रिकालवर्त्ती गुण मिले, जो किसी भी दूसरे पदार्थ में न मिले, वही स्वतन्त्र पदार्थ हो सकता है। आत्मा में 'चैतन्य' नामक एक विशेष गुण है। वह दूसरे किसी भी पदार्थ में नहीं मिलता। इसीलिए आत्मा दूसरे सभी पदार्थों से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है।

(३) प्रत्यक्ष गुण से अप्रत्यक्ष गुणी जाना जा सकता है। भूगृह में बैठा आदमी प्रकाश-रेखा को देखकर क्या सूर्योदय को नहीं जान लेता ?

(४) प्रत्येक इन्द्रिय को अपने अपने निश्चित विषय का ज्ञान होता है। एक इन्द्रिय का दूसरी इन्द्रिय के विषय से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इन्द्रियां ही ज्ञाता हों—उनका प्रवर्तक आत्मा ज्ञाता न हो तो सब इन्द्रियों के विषयों का जोड़ रूप ज्ञान नहीं हो सकता। फिर—"मैं स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द को जानता हूँ"—इस प्रकार जोड़रूप (संकलनात्मक) ज्ञान किसे होगा ? ककड़ी को चबाते समय स्पर्श, रस, गन्ध रूप और शब्द—इन पांचों को जान रहा हूँ—ऐसा ज्ञान होता है। इसीलिए इन्द्रियों के विषयों का संकलनात्मक ज्ञान करने वाले को उनसे भिन्न मानना होगा और वही आत्मा है।

(५) पदार्थों को जानने वाला आत्मा है, इन्द्रियां नहीं, वे सिर्फ साधन मात्र हैं। आत्मा के चले जाने पर इन्द्रियां कुछ भी नहीं जान पाती। इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने हुए विषयों का आत्मा को स्मरण रहता है। आँख से कोई चीज देखी, कान से कोई बात सुनी, संयोगवश आँख फूट गई, कान का पर्दा फट गया, फिर भी उस दृष्ट और श्रुत विषय का भली भांति ज्ञान होता है। इससे यह मानना होगा कि इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी उनके ज्ञान को स्थिर रखने वाला कोई तत्त्व है और वही आत्मा है।

(६) जड़ और चेतन में अत्यन्ताभाव है—अतः त्रिकाल में भी न तो जड़ कभी चेतन बन सकता है और न जड़ से चेतन उपज सकता है।

(७) जिस वस्तु का जैसा उपादान कारण होता है। वह उसी रूप में परिणत होता है। जड़-उपादान कभी चेतन के रूप में परिणत नहीं हो सकता।

(८) जिस वस्तु का विरोधी तत्त्व न मिले, उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यदि चेतन नामक कोई सत्ता नहीं होती तो 'न चेतन-अचेतन'—इस अचेतन सत्ता का नामकरण और बोध नहीं होता।

(९) आत्मा नहीं है—इसका 'यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं, इसके सिवाय कोई प्रमाण नहीं मिलता। आत्मा 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं,' इसका समाधान पहले किया जा चुका है।

ज्ञेय वस्तु, इन्द्रिय और आत्मा—ये तीनों भिन्न हैं। आत्मा ग्राहक [ज्ञाता] है। इन्द्रियां ग्रहण के साधन हैं और वस्तु समूह ग्राह्य (ज्ञेय) है। लोहार संडासी से लोह-पिंड को पकड़ता है—वहाँ लोह-पिंड (ग्राह्य), संडासी [ग्रहण का साधन] और लोहाकार [ग्राहक] ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं। लोहार न हो तो संडासी लोह-पिंड को नहीं पकड़ सकती। आत्मा के चले जाने पर इन्द्रियां अपने विषय का ग्रहण नहीं कर सकतीं [४]।

जो यह सोचता है कि शरीर में 'मैं' नहीं हूँ, वही जीव है। चेतना के विना यह संशय किसे हो। 'यह है या नहीं' ऐसी ईहा या विकल्प जीव का ही लक्षण है। सामने जो लम्बा-चौड़ा पदार्थ दीख रहा है, "वह खम्भा है या आदमी" यह प्रश्न सचेतन व्यक्ति के ही मन में उठ सकता है [५]।

संसार में जितने पदार्थ हैं, वे सब एक रूप नहीं होते। कोई इन्द्रिय-ग्राह्य होता है, कोई नहीं भी। जीव अनिन्द्रिय गुण है। इसलिए चर्म चक्षु से वह नहीं दीखता [६]। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह नहीं है।

जीव न हो तो उसका निषेध कैसे बने ? असत् का कभी निषेध नहीं होता। जिसका निषेध होता है, वह अवश्य होता है। निषेध के चार प्रकार हैं :—

(१) संयोग (३) सामान्य
(२) समवाय (४) विशेष

"मोहन घर में नहीं है"—यह संयोग प्रतिषेध है। इसका अर्थ यह नहीं कि मोहन है ही नहीं किन्तु—"वह घर में नहीं है"—इस 'गृह-संयोग' का प्रतिषेध है।

"खरगोश के सींग नहीं होते"—यह समवाय-प्रतिषेध है। खरगोश भी होता है और सींग भी, इनका प्रतिषेध नहीं है। यहाँ केवल 'खरगोश के सींग'—इस समवाय का प्रतिषेध है।

'दूसरा चांद नहीं है'—इसमें चन्द्र के सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नहीं, किन्तु उसके सामान्य-मात्र का निषेध है।

'मोती घड़े जितने बड़े नहीं हैं'—इसमें मुक्ता का अभाव नहीं किन्तु 'उस घड़े जितने बड़े'—यह जो विशेषण है, उसका प्रतिषेध है।

'आत्मा नहीं है' इसमें आत्मा का निषेध नहीं होता। उसका किसीके साथ होने वाले संयोगमात्र का निषेध होता है [७]।

आत्मा क्या है ?

आत्मा चेतनामय अरूपी सत्ता है [८]। उपयोग (चेतना की क्रिया) उसका लक्षण है [९]। ज्ञान-दर्शन, सुख-दुःख आदि द्वारा वह व्यक्त होता है [१०]। वह विज्ञाता है। वह शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं है [११]। वह लम्बा नहीं है, छोटा नहीं है, टेढ़ा नहीं है, गोल नहीं है, चौकोना नही है, मंडलाकार नहीं है। वह हल्का नहीं है, भारी नहीं है, स्त्री और पुरुष नहीं है [१२]। वह ज्ञानमय असंख्य प्रदेशों का पिण्ड है। कल्पना से उसका माप किया जाए तो वह असंख्य परमाणु जितना है। इसलिए वह ज्ञानमय असंख्य प्रदेशों का पिण्ड कहलाता है। वह अरूप है, इसलिए देखा नहीं जाता। उसका चेतना गुण हमें मिलता है। गुण से गुणी का ग्रहण होता है। इससे उसका अस्तित्व हम जान जाते हैं। वह एकान्ततः वाणी द्वारा प्रतिपाद्य[१३] और तर्क द्वारा गम्य नहीं है [१४]। ऐसी आत्माएं अनन्त हैं। साधारणतया ये दो भागों में विभक्त हैं—बद्ध आत्मा और मुक्त आत्मा। कर्म-बन्धन टूटने से जिनका आत्मीय स्वरूप प्रकट हो जाता है, वे मुक्त आत्माएं होती हैं। वे भी अनन्त हैं। उनके शरीर एवं शरीर जन्य क्रिया और जन्म-मृत्यु आदि

कुछ भी नहीं होते। वे आत्म-रूप हो जाते हैं। अतएव उन्हें सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। उनका निवास ऊंचे लोक के चरम भाग में होता है। वे मुक्त होते ही वहाँ पहुँच जाते हैं। आत्मा का स्वभाव ऊपर जाने का है। बन्धन के कारण ही वह तिरछा या नीचे जाता है। ऊपर जाने के बाद वह फिर कभी नीचे नहीं आता। वहाँ से अलोक में भी नहीं जा सकता। वहाँ गति-तत्त्व (धर्मास्तिकाय) का अभाव है। दूसरी श्रेणी की जो संसारी आत्माएँ हैं, वे कर्म-बद्ध होने के कारण अनेक योनियों में परिभ्रमण करती हैं, कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं। ये मुक्त आत्माओं से अनन्तानन्त गुनी होती हैं। संसारी आत्माएँ शरीर से बन्धी हुई हैं। उनका स्वतन्त्र परिणाम नहीं है।

उनमें संकोच और विस्तार की शक्ति होती है। जो आत्मा हाथी के शरीर में रहती है, वह कुंथु के शरीर में भी रह सकती है। अतएव वे 'स्वदेह परिमाण, हैं। मुक्त आत्माओं का परिमाण (स्थान-अवगाहन) भी पूर्व-शरीर के अनुपात से होता है। जिस शरीर से आत्माएं मुक्त होती हैं, उसके $\frac{1}{3}$ भाग जो पोला है उसके सिवाय $\frac{2}{3}$ भाग में वे रहती हैं—अन्तिम मनुष्य-शरीर की ऊँचाई में से एक तृतीयांश छोड़कर दो तृतीयांश जितने क्षेत्र में उनका अवगाहन होता है। मुक्त आत्माओं का अस्तित्व पृथक्-पृथक् होता है तथापि उनके स्वरूप में पूर्ण समता होती है। संसारी जीवों में भी स्वरूप की दृष्टि से ऐक्य होता है किन्तु वह कर्म से दबा रहता है और कर्मकृत भिन्नता से वे विविध वर्गों में बंट जाते हैं, जैसे पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव, तेजस्कायिक जीव, वायुकायिक जीव, वनस्पतिकायिक जीव, त्रसकायिक जीव। जीवों के ये छह निकाय, शारीरिक परमाणुओं की भिन्नता के अनुसार रचे गए हैं। सब जीवों के शरीर एक से नहीं होते। किन्हीं जीवों का शरीर पृथ्वी होता है तो किन्हीं का पानी। इस प्रकार पृथक्-पृथक् परमाणुओं के शरीर बनते हैं। इनमें पहले पांच निकाय 'स्थावर' कहलाते हैं। त्रस जीव इधर-उधर घूमते हैं, शब्द करते हैं, चलते-फिरते हैं, संकुचित होते हैं, फैल जाते हैं, इसलिए उनकी चेतना में कोई सन्देह नहीं होता। स्थावर जीवों में ये बातें नहीं होती अतः उनकी चेतनता के विषय में सन्देह होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

जैन दृष्टि से आत्मा का स्वरूप

(१) जीव स्वरूपतः अनादि अनन्त और नित्यानित्य :—

जीव अनादि-निधन (न आदि और न अन्त) है। अविनाशी और अक्षय है। द्रव्य-नय की अपेक्षा से उसका स्वरूप नष्ट नहीं होता, इसलिए नित्य और पर्याय नय की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न वस्तुओं में वह परिणत होता रहता है, इसलिए अनित्य है।

(२) संसारी जीव और शरीर का अभेद :—

जैसे पिंजड़े से पक्षी, घड़े से बेर और गंजी से आदमी भिन्न नहीं होता, वैसे ही संसारी जीव शरीर से भिन्न नहीं होता।

जैसे दूध और पानी, तिल और तेल, कुसुम और गन्ध—ये एक लगते हैं, वैसे ही संसार-दशा में जीव और शरीर एक लगते हैं।

(३) जीव का परिमाण :—

जीव का शरीर के अनुसार संकोच और विस्तार होता है। जो जीव हाथी के शरीर में होता है, वह कुन्थु के शरीर में भी उत्पन्न हो जाता है। संकोच और विस्तार—दोनों दशाओं में प्रदेश-संख्या, अवयव-संख्या समान रहती है।

(४) आत्मा और काल की तुलना—अनादि-अनन्त की दृष्टि से :—

जैसे काल अनादि और अविनाशी है, वैसे ही जीव भी तीनों कालों में अनादि और अविनाशी है।

(५) आत्मा और आकाश की तुलना—अमूर्त्त की दृष्टि से :—

जैसे आकाश अमूर्त्त है, फिर भी वह अवगाह-गुण से जाना जाता है, वैसे ही जीव अमूर्त्त है और वह विज्ञान-गुण से जाना जाता है।

(६) जीव और ज्ञान आदि का आधार-आधेय सम्बन्ध :—

जैसे पृथ्वी सब द्रव्यों का आधार है, वैसे ही जीव ज्ञान आदि गुणों का आधार है।

(७) जीव और आकाश की तुलना—नित्य की दृष्टि से :—

जैसे आकाश तीनों कालों में अक्षय, अनन्त और अतुल होता है, वैसे ही जीव भी तीनों कालों में अविनाशी-अवस्थित होता है।

(८) जीव और सोने की तुलना—नित्य-अनित्य की दृष्टि से :—

जैसे सोने के मुकुट, कुण्डल आदि अनेक रूप बनते हैं तब भी वह सोना ही रहता है, केवल नाम और रूप में अन्तर पड़ता है। ठीक उसी प्रकार चारों गतियों में भ्रमण करते हुए जीव की पर्यायें बदलती हैं—रूप और नाम बदलते हैं—जीव द्रव्य बना का बना रहता है।

(९) जीव की कर्मकार से तुलना—कर्तृत्व और भोक्तृत्व की दृष्टि से :—

जैसे कर्मकार कार्य करता है और उसका फल भोगता है, वैसे ही जीव स्वयं कर्म करता है और उसका फल भोगता है।

(१०) जीव और सूर्य की—भवानुयायित्व की दृष्टि से तुलना :—

जैसे दिन में सूर्य यहाँ प्रकाश करता है, तब दीखता है और रात को दूसरे क्षेत्र में चला जाता है—प्रकाश करता है, तब दीखता नहीं वैसे ही वर्तमान शरीर में रहता हुआ जीव उसे प्रकाशित करता है और उसे छोड़कर दूसरे शरीर में जा उसे प्रकाशित करने लग जाता है।

(११) जीव का ज्ञान-गुण से ग्रहण :—

जैसे कमल, चन्दन आदि की सुगन्ध का रूप नहीं दीखता, फिर भी वह घ्राण के द्वारा ग्रहण होती है। वैसे ही जीव के नहीं दीखने पर भी उसका ज्ञान-गुण के द्वारा ग्रहण होता है।

भंभा, मृदङ्ग आदि के शब्द सुने जाते हैं, किन्तु उनका रूप नहीं दीखता, वैसे ही जीव नहीं दीखता तब भी उसका ज्ञान-गुण के द्वारा ग्रहण होता है।

(१२) जीव का चेष्टा-विशेष द्वारा ग्रहण :—

जैसे किसी व्यक्ति के शरीर में पिशाच घुस जाता है, तब यद्यपि वह नहीं दीखता फिर भी आकार और चेष्टाओं द्वारा जान लिया जाता है कि यह पुरुष पिशाच से अभिभूत है, वैसे ही शरीर के अन्दर रहा हुआ जीव हास्य, नाच, सुख-दुःख, बोलना चलना आदि-आदि विविध चेष्टाओं द्वारा जाना जाता है।

(१३) जीव के कर्म का परिणमन :—

जैसे खाया हुआ भोजन अपने आप सात धातु के रूप में परिणत होता है,

वैसे ही जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-योग्य पुद्गल अपने आप कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं।

(१४) जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध और उसका उपाय द्वारा विसम्बन्ध :—

जैसे सोने और मिट्टी का संयोग अनादि है, वैसे ही जीव और कर्म का संयोग (साहचर्य) भी अनादि है। जैसे अग्नि आदि के द्वारा सोना मिट्टी से पृथक् होता है, वैसे ही जीव भी संवर-तपस्या आदि उपायों के द्वारा कर्म से पृथक् हो जाता है।

(१५) जीव और कर्म के सम्बन्ध में पौर्वापर्य नहीं :—

जैसे मुर्गी और अण्डे में पौर्वापर्य नहीं, वैसे ही जीव और कर्म में भी पौर्वापर्य नहीं है। दोनों अनादि सहगत हैं।

भारतीय दर्शन में आत्मा का स्वरूप

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप, परिणामी स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होने वाला (कूटस्थनित्य नहीं है), कर्त्ता और भोक्ता स्वयं अपनी सत्-असत् प्रवृत्तियों से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय करने वाला और उनका फल भोगने वाला, स्वदेह-परिमाण, न अणु, न विभु (सर्वव्यापक) किन्तु मध्यम परिमाण का है।

बौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते हैं। वे आत्मा के अस्तित्व को वस्तु सत्य नहीं, काल्पनिक-संज्ञा (नाम) मात्र कहते हैं। क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होने वाले विज्ञान (चेतना) और रूप (भौतिक तत्त्व, काया) के संघात संसार-यात्रा के लिए काफी हैं। इनसे परे कोई नित्य आत्मा नहीं है। बौद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष को स्वीकार करते हैं। आत्मा के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर बौद्ध मौन रहे हैं[१७]। इसका कारण पूछने पर बुद्ध कहते हैं कि—"यदि मैं कहूँ आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी बन जाते हैं, यदि यह कहूँ कि आत्मा नहीं है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं। इसलिए उन दोनों का निराकरण करने के लिए मैं मौन रहता हूँ," एक जगह नागार्जुन लिखते हैं—"बुद्ध ने यह भी कहा कि आत्मा है

और आत्मा नहीं है यह भी कहा है[१६]। तथा बुद्ध ने आत्मा और अनात्मा किसी का भी उपदेश नहीं किया।"

बुद्ध ने आत्मा क्या है? कहाँ से आया है? और कहाँ जाएगा?—इन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर दुःख और दुःख-निरोध—इन दो तत्त्वों का ही मुख्यतया उपदेश किया। बुद्ध ने कहा, "तीर से आहत पुरुष के घाव को ठीक करने की बात सोचनी चाहिए। तीर कहाँ से आया, किसने मारा आदि-आदि प्रश्न करना व्यर्थ है।"

बुद्ध का यह 'मध्यम मार्ग' का दृष्टिकोण है। कुछ बौद्ध मन को भौतिक तत्त्वों से अलग स्वीकार करते हैं।

नैयायिकों के अनुसार आत्मा नित्य और विभु है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, ज्ञान—ये उसके लिङ्ग हैं। इनसे हम उसका अस्तित्व जानते हैं।

सांख्य आत्मा को नित्य और निष्क्रिय मानते हैं, जैसे—

"अमूर्त श्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः, आत्मा कपिलदर्शने"—॥

सांख्य जीव को कर्त्ता नहीं मानते, फल भोक्ता मानते हैं। उनके मतानुसार कर्तृ-शक्ति प्रकृत्ति है।

वेदान्ती अन्तःकरण से परिवेष्टित चैतन्य को जीव बतलाते हैं। उसके अनुसार—"एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते व्यवस्थितः"—स्वभावतः जीव एक है, परन्तु देहादि-उपाधियों के कारण नाना प्रतीत होता है।

परन्तु रामानुज-मत में जीव अनन्त हैं, वे एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं।

वैशेषिक सुख-दुःख आदि की समानता की दृष्टि से आत्मैक्यवादी[१७] और व्यवस्था की दृष्टि से आत्मा नैक्यवादी है[१८]।

उपनिषद् और गीता के अनुसार आत्मा शरीर से विलक्षण[१९] मन से[२०] भिन्न विभु-व्यापक[२१] और अपरिणामी है[२२]। वह वाणी द्वारा अगम्य है[२३]। उसका विस्तृत स्वरूप नेति-नेति के द्वारा बताया है[२४]।—"वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न संग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है,

न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है—उसमें न अन्तर है, न बाहर है [२५]।"

संक्षेप में :—

बौद्ध—आत्मा स्थायी नहीं चेतना का प्रवाहमात्र है।

न्याय—वैशेषिक—आत्मा स्थायी किन्तु चेतना उसका स्थायी स्वरूप नहीं। गहरी नींद में वह चेतना-विहीन हो जाती है। वैशेषिक—मोक्ष में उसकी चेतना नष्ट हो जाती है। सांख्य—आत्मा स्थायी, अनादि, अनन्त, अविकारी, नित्य और चित्स्वरूप है। बुद्धि अचेतन है—प्रकृति का विवर्त्त है।

मीमांसक—आत्मा में अवस्था-भेद कृत भेद होता है, फिर भी वह नित्य है।

जैन—आत्मा परिवर्तन युक्त, स्थायी और चित्स्वरूप है। बुद्धि भी चेतन है। गहरी नींद या मूर्च्छा में चेतना होती है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, सूक्ष्म अभिव्यक्ति होती भी है। मोक्ष में चेतना का सहज उपयोग होता है। चेतना की आवृत दशा में उसे प्रवृत्त करना पड़ता है—अनावृत्त-दशा में वह सतत प्रवृत्त रहती है।

औपनिषदिक आत्मा के विविध रूप और जैन दृष्टि से तुलना

औपनिषदिक सृष्टि-क्रम में आत्मा का स्थान पहला है। 'आत्मा' शब्द वाच्य ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी, पानी से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियां, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न रसमय ही है—अन्न और रस का विकार है [२६]। इस अन्न रसमय पुरुष की तुलना औदारिक शरीर से होती है। इसके शिर आदि अंगोपांग माने गए हैं। प्राणमय आत्मा (शरीर) अन्नमय कोष की भांति पुरुषाकार है। किन्तु उसकी भांति अंगोपांग वाला नहीं है [२७]। पहले कोश की पुरुषाकारता के अनुसार ही उत्तरवर्ती कोश पुरुषाकार है। पहला कोश उत्तरवर्ती कोश से पूर्ण, व्याप्त या भरा हुआ है [२८]। इस प्राणमय शरीर की तुलना श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति से की जा सकती है।

प्राणमय आत्मा जैसे अन्नमय कोश के भीतर रहता है, वैसे ही मनोमय आत्मा प्राणमय कोश के भीतर रहता है [२९]।

इस मनोमय शरीर की तुलना मनःपर्याप्ति से हो सकती है। मनोमय कोश के भीतर विज्ञानमय कोश है [३०]।

निश्चयात्मिका बुद्धि जो है, वही विज्ञान है। वह अन्तःकरण का अध्यवसाय रूप धर्म है। इस निश्चयात्मिका बुद्धि से उत्पन्न होने वाला आत्मा विज्ञानमय है। इसकी तुलना भाव-मन, चेतन-मन से होती है। विज्ञानमय आत्मा के भीतर आनन्दमय आत्मा रहता है [३१]। इसकी तुलना आत्मा की सुखानुभूति की दशा से हो सकती है।

सजीव और निर्जीव पदार्थ का पृथक्करण

प्राणी और अप्राणी में क्या भेद है, यह प्रश्न कितनी बार हृदय को आन्दोलित नहीं करता। प्राण प्रत्यक्ष नहीं हैं। उनकी जानकारी के लिए किसी एक लक्षण की आवश्यकता होती है। वह लक्षण पर्याप्ति है। पर्याप्ति के द्वारा प्राणी विसदृश द्रव्यों (पुद्गलों) का ग्रहण, स्वरूप में परिणमन और विसर्जन करता है।

जीव[३२]	अजीव[३३]
(१) प्रजनन शक्ति (संतति-उत्पादन)	प्रजनन शक्ति नहीं।
(२) वृद्धि	वृद्धि नहीं [३४]।
(३) आहार-ग्रहण[३५] स्वरूप में परिणमन विसर्जन.........	नहीं
(४) जागरण, नींद, परिश्रम विश्राम	नहीं
(५) आत्मरक्षा के लिए प्रयत्न	नहीं
(६) भय-त्रास[३६]	नहीं

भाषा अजीव में नहीं होती किन्तु सब जीवों में भी नहीं होती—त्रस जीवों में होती है, स्थावर जीवों में नहीं होती—इसलिए यह जीव का व्यापक लक्षण नहीं बनता।

गति जीव और अजीव दोनों में होती है किन्तु इच्छापूर्वक या सहेतुक गति-आगति तथा गति-आगति का विज्ञान केवल जीवों में होता है, अजीव पदार्थ में नहीं।

अजीव के चार प्रकार—धर्म, अधर्म, आकाश, और काल गतिशील नहीं हैं, केवल पुद्गल गतिशील हैं। उसके दोनों रूप परमाणु और स्कन्ध परमाणु समुदय गतिशील हैं [३७]। इनमें नैसर्गिक और प्रायोगिक—दोनों प्रकार की गति होती है। स्थूल स्कन्ध-प्रयोग के बिना गति नहीं करते। सूक्ष्म स्कन्ध स्थूल-प्रयत्न के बिना भी गति करते हैं। इसलिए उनमें इच्छापूर्वक गति और चैतन्य का भ्रम हो जाता है। सूक्ष्म-वायु के द्वारा स्पृष्ट पुद्गल-स्कन्धों में कम्पन, प्रकम्पन चलन, क्षोभ, स्पन्दन, घटना, उदीरणा और विचित्र आकृतियों का परिणमन देखकर विभंग-अज्ञानी (पारद्रष्टा मिथ्यादृष्टि) को "ये सब जीव हैं"—ऐसा भ्रम हो जाता है [३८]।

अजीव में जीव या अणु में कीटाणु का भ्रम होने का कारण उनका गति और आकृति सम्बन्धी साम्य है।

जीवत्व की अभिव्यक्ति के साधन उत्थान, बल वीर्य हैं [३९]। ये शरीर-सापेक्ष हैं। शरीर पौद्गलिक है। इसलिए चेतन द्वारा स्वीकृत पुद्गल और चेतन-मुक्त पुद्गल में गति और आकृति के द्वारा भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती [४०]।

जीव के व्यावहारिक लक्षण

सजातीय जन्म, वृद्धि, सजातीय, उत्पादन, क्षत-संरोहण [घाव भरने की शक्ति] और अनियमित तिर्यग्गति—ये जीवों के व्यावहारिक लक्षण हैं। एक मशीन खा सकती है लेकिन खाद्य रस के द्वारा अपने शरीर को बढ़ा नहीं सकती। किसी हद तक अपना नियंत्रण करने वाली मशीनें भी हैं। टोरपिडो [Torpedo] में स्वयं चालक- शक्ति है, फिर भी वे न तो सजातीय यन्त्र की देह से उत्पन्न होते हैं और न किसी सजातीय यन्त्र को उत्पन्न करते हैं।

ऐसा कोई यन्त्र नहीं जो अपना घाव खुद भर सके या मनुष्यकृत नियमन के बिना इधर-उधर घूम सके—तिर्यग् गति कर सके। एक रेलगाड़ी पटरी पर अपना बोझ लिए पवन-वेग से दौड़ सकती है पर उससे कुछ दूरी पर रेंगने वाली एक चींटी को भी वह नहीं मार सकती। चींटी में चेतना है, वह इधर-उधर घूमती है। रेलगाड़ी जड़ है, उसमें वह शक्ति नहीं। यन्त्र-क्रिया का नियामक भी चेतनावान् प्राणी है। इसलिए यन्त्र और प्राणी की स्थिति एक-सी नहीं है। ये लक्षण जीवधारियों की अपनी विशेषताएँ हैं। जड़ में ये नहीं मिलती।

जीव के नैश्चयिक लक्षण

आत्मा का नैश्चयिक लक्षण चेतना है। प्राणी मात्र में उसका न्यूनाधिक मात्रा में सद्भाव होता है। यद्यपि सत्ता रूप में चैतन्य शक्ति सब प्राणियों में अनन्त होती है, पर विकास की अपेक्षा वह सब में एक सी नहीं होती। ज्ञान के आवरण की प्रबलता एवं दुर्बलता के अनुसार उसका विकास न्यून या अधिक होता है। एकेन्द्रिय वाले जीवों में भी कम से कम एक (स्पर्शन) इन्द्रिय का अनुभव मिलेगा। यदि वह न रहे, तब फिर जीव और अजीव में कोई अन्तर नहीं रहता। जीव और अजीव का भेद बतलाते हुए शास्त्रों में कहा है—"सव्व जीवाणं पि य अक्खरस्स अणंतमो भागो निच्चुग्घाडियो। सो वि पुण आवरेज्जा, तेण जीवा अजीवत्तणं पावेज्जा"—केवलज्ञान (पूर्ण ज्ञान) का अनन्तवां भाग तो सब जीवों के विकसित रहता है। यदि वह भी आवृत्त हो जाए तो जीव अजीव बन जाए।

मध्यम और विराट् परिमाण

उपनिषदों में आत्मा के परिमाण की विभिन्न कल्पनाएं मिलती हैं। यह मनोमय पुरुष (आत्मा) अन्तर् हृदय में चावल या जौ के दाने जितना है[४१]।

यह आत्मा प्रदेश मात्र (अंगूठे के सिरे से तर्जनी के सिरे तक की दूरी जितना) है[४२]।

यह आत्मा शरीर-व्यापी है[४३]।

यह आत्मा सर्व-व्यापी है[४४]।

हृदय कमल के भीतर यह मेरा आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोकों की अपेक्षा बड़ा है [४५]।

जीव संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। प्रत्येक जीव के प्रदेश या अविभागी अवयव असंख्य हैं। जीव असंख्य प्रदेशी हैं। अतः व्याप्त होने की क्षमता की दृष्टि से लोक के समान विराट् है [४६]। 'केवली-समुद्घात' की प्रक्रिया में आत्मा कुछ समय के लिए व्यापक बन जाती है। 'मरण-समुद्घात' के समय भी आंशिक व्यापकता होती है [४७]।

प्रदेश-संख्या की दृष्टि से धर्म, अधर्म, आकाश और जीव—ये चारों सम-तुल्य हैं [४८]। अवगाह की दृष्टि से सम नहीं हैं। धर्म, अधर्म और आकाश स्वीकारात्मक और क्रिया-प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति शून्य हैं, इसलिए उनके परिमाण में कोई परिवर्तन नहीं होता। संसारी जीवों में पुद्गलों का स्वीकरण और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया—ये दोनों प्रवृत्तियां होती हैं, इसलिए उनका परिमाण सदा समान नहीं रहता। वह संकुचित या विकसित होता रहता है। फिर भी अणु जितना संकुचित और लोकाकाश जितना विकसित (केवली समुद्घात के सिवाय) नहीं होता, इसलिए जीव मध्यम परिमाण की कोटि के होते हैं।

संकोच और विकोच जीवों की स्वभाव-प्रक्रिया नहीं है—वे कार्मण शरीर सापेक्ष होते हैं। कर्म-युक्त दशा में जीव शरीर की मर्यादा में बन्धे हुए होते हैं, इसलिए उनका परिमाण स्वतन्त्र नहीं होता। कार्मण शरीर का छोटापन और मोटापन गति-चतुष्टय-सापेक्ष होता है। मुक्त-दशा में संकोच-विकोच नहीं—वहाँ चरम शरीर के ठोस भाग—दो तिहाई भाग में आत्मा का जो अवगाह होता है, वही रह जाता है।

आत्मा के संकोच-विकोच की दीपक के प्रकाश से तुलना की जा सकती है। खुले आकाश में रखे हुए दीपक का प्रकाश अमुक परिमाण का होता है। उसी दीपक को यदि कोठरी में रख दें तो वही प्रकाश कोठरी में समा जाता है। एक घड़े के नीचे रखते हैं तो घड़े में समा जाता है। ढकनी के नीचे रखते हैं तो ढकनी में समा जाता है। उसी प्रकार कार्मण शरीर के आवरण से आत्म-प्रदेशों का भी संकोच और विस्तार होता रहता है।

जो आत्मा बालक-शरीर में रहती है, वही आत्मा युवा-शरीर में रहती है और वही वृद्ध-शरीर में। स्थूल शरीर व्यापी आत्मा कृश-शरीर-व्यापी हो जाती है। कृश-शरीर-व्यापी आत्मा स्थूल-शरीर-व्यापी हो जाती है।

इस विषय में एक शंका हो सकती है कि आत्मा को शरीर-परिमाण मानने से वह अवयव सहित हो जाएगी और अवयव सहित हो जाने से वह अनित्य हो जाएगी, क्योंकि जो अवयव सहित होता है, वह विशरणशील—अनित्य होता है। घड़ा अवयव सहित है, अतः अनित्य है? इसका समाधान यह है कि यह कोई नियम नहीं कि जो अवयव सहित होता है, वह विशरणशील ही होता है। जैसे घड़े का आकाश, पट का आकाश इत्यादिक रूपता से आकाश सावयव है और नित्य है, वैसे ही आत्मा भी सावयव और नित्य है और जो अवयव किसी कारण से इकट्ठे होते हैं, वे ही फिर अलग हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो अविभागी अवयव हैं, वे अवयवी से कभी पृथक् नहीं हो सकते।

विश्व की कोई भी वस्तु एकान्त रूप से नित्य व अनित्य नहीं है, किन्तु नित्यानित्य है। आत्मा नित्य भी है, अनित्य भी है। आत्मा का चैतन्य स्वरूप कदापि नहीं छूटता, अतः आत्मा नित्य है। आत्मा के प्रदेश कभी संकुचित रहते हैं, कभी विकसित रहते हैं, कभी सुख में, कभी दुःख में—इत्यादिक कारणों से तथा पर्यायान्तर से आत्मा अनित्य है। अतः स्याद्वाद दृष्टि से सावयवकता भी आत्मा के शरीर-परिमाण होने में बाधक नहीं है।

जीव-परिमाण

जीवों के दो प्रकार हैं—मुक्त और संसारी। मुक्त जीव अनन्त हैं। संसारी जीवों के छह निकाय हैं। उनका परिमाण निम्नप्रकार है :—

पृथ्वी.........असंख्य जीव
पानी.........,, ,,
अग्नि.........,, ,,
वायु.........,, ,,
वनस्पति.........,, अनन्त जीव
त्रस.........,, असंख्य जीव

त्रस काय के जीव स्थूल ही होते हैं। शेष पांच निकाय के जीव स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म जीवों से समूचा लोक भरा है। स्थूल जीव आधार बिना नहीं रह सकते। इसलिए वे लोक के थोड़े भाग में हैं [४९]।

एक-एक काय में कितने जीव हैं, यह उपमा के द्वारा समझाया गया है :—

एक हरे आंवले के समान मिट्टी के ढेले में जो पृथ्वी के जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक का शरीर कबूतर जितना बड़ा किया जाय तो वे एक लाख योजन लम्बे-चौड़े जम्बूद्वीप में नहीं समाते [५०]।

पानी की एक बून्द में जितने जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक का शरीर सरसों के दाने के समान बनाया जाए तो वे उक्त जम्बूद्वीप में नहीं समाते [५१]।

एक चिनगारी के जीवों में से प्रत्येक के शरीर को लीख के समान किया जाए तो वे भी जम्बूद्वीप में नहीं समाते [५२]।

नीम के पत्ते को छूने वाली हवा में जितने जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक के शरीर को खस खस के दानें के समान किया जाए तो वे जम्बूद्वीप में नहीं समाते [५३]।

शरीर और आत्मा

शरीर और आत्मा का क्या सम्बन्ध है? मानसिक विचारों का हमारे शरीर तथा मस्तिष्क के साथ क्या सम्बन्ध है?—इस प्रश्न के उत्तर में तीन वाद प्रसिद्ध हैं :—

(१) एक पाक्षिक क्रियावाद [भूत चैतन्यवाद]

(२) मनोदैहिक सहचरवाद

(३) अन्योन्याश्रयवाद

भूत चैतन्यवादी केवल शारीरिक व्यापारों को ही मानसिक व्यापारों का कारण मानते हैं। उनकी सम्मति में आत्मा शरीर की उपज है, मस्तिष्क की विशेष कोष्ठ-क्रिया ही चेतना है। ये प्रकृतिवादी भी कहे जाते हैं। आत्मा को प्रकृति-जन्य सिद्ध करने के लिए ये इस प्रकार अपना अभिमत प्रस्तुत

करते हैं। पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है, श्वासोच्छ्वास फेफड़ों की क्रिया का नाम है, वैसे ही चेतना [आत्मा] मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का नाम है। यह भूत-चैतन्यवाद का एक संक्षिप्त रूप है। आत्मवादी इसका निरसन इस प्रकार करते हैं—"चेतना मस्तिष्क के कोष्ठ की क्रिया है" इसमें द्वयर्थक क्रिया शब्द का समानार्थक प्रयोग किया गया है। आमाशय की क्रिया और मस्तिष्क की क्रिया में बड़ा भारी अन्तर है। क्रियाशब्द का दो बार का प्रयोग विचार-भेद का द्योतक है। जब हम यह कहते हैं कि पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है। तब पाचन और आमाशय की क्रिया में भेद नहीं समझते। पर जब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का विचार करते हैं, तब उस क्रिया-मात्र को चेतना नहीं समझते। चेतना का विचार करते हैं तब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का किसी प्रकार का ध्यान नहीं आता। ये दोनों घटनाएँ सर्वथा विभिन्न हैं। पाचन से आमाशय की क्रिया का बोध हो जाता है और आमाशय की क्रिया से पाचन का। पाचन और आमाशय की क्रिया—ये दो घटनाएं नहीं, एक ही क्रिया के दो नाम हैं। आमाशय, हृदय और मस्तिष्क तथा शरीर के सारे अवयव चेतना-हीन तत्त्व से बने हुए होते हैं। चेतना-हीन से चेतना उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए "पादरी बटलर" ने लिखा है—"आप, हाइड्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, ऑक्सीजन तत्त्व के मृत परमाणु, कार्बन तत्त्व के मृत परमाणु, नाइट्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, फासफोरस तत्त्व के मृत परमाणु तथा बारूद की भाँति उन समस्त तत्त्वों के मृत परमाणु जिनसे मस्तिष्क बना है, ले लीजिए। विचारिए कि ये परमाणु पृथक्-पृथक् एवं ज्ञान शून्य हैं, फिर विचारिए कि ये परमाणु साथ-साथ दौड़ रहे हैं और परस्पर मिश्रित होकर जितने प्रकार के स्कन्ध हो सकते हैं, बना रहे हैं। इस शुद्ध यांत्रिक क्रिया का चित्र आप अपने मन में खींच सकते हैं। क्या यह आपकी दृष्टि, स्वप्न या विचार में आ सकता है कि इस यान्त्रिक क्रिया का इन मृत परमाणुओं से बोध, विचार एवं भावनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं? क्या पांसों के खटपटाने से होमर कवि या बिलयर्ड खेल की गेंद के खनखनाने से गणित डिफरेनशियल केल्कुलस [Differential calculus] निकल सकता है?...आप मनुष्य की जिज्ञासा का—

"परमाणुओं के परस्पर सम्मिश्रण की यान्त्रिक क्रिया से ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो गई ?"—सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दे सकते [५४]। पाचन और श्वासोच्छ्वास की क्रिया से चेतना की तुलना भी त्रुटिपूर्ण है। ये दोनों क्रियाएं स्वयं अचेतन हैं। अचेतन मस्तिष्क की क्रिया चेतना नहीं हो सकती। इसलिए यह मानना होगा कि चेतना एक स्वतन्त्र सत्ता है, मस्तिष्क की उपज नहीं। शारीरिक व्यापारों को ही मानसिक व्यापारों के कारण मानने वालों के दूसरी आपत्ति यह आती है कि—"मैं अपनी इच्छा के अनुसार चलता हूँ—मेरे भाव शारीरिक परिवर्तनों को पैदा करने वाले हैं" इत्यादि प्रयोग नहीं किये जा सकते।

दूसरे वाद—'मनो दैहिक सहचरवाद' के अनुसार मानसिक तथा शारीरिक व्यापार परस्पर-सहकारी हैं, इसके सिवाय दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। इस वाद का उत्तर अन्योन्याश्रयवाद है। उसके अनुसार शारीरिक क्रियाओं का मानसिक व्यापारों पर एवं मानसिक व्यापारों का शारीरिक क्रियाओं पर असर होता है। जैसे :—

(१) मस्तिष्क की बीमारी से मानसिक-शक्ति दुर्बल हो जाती है।

(२) मस्तिष्क के परिमाण के अनुसार मानसिक शक्ति का विकास होता है।

साधारणतया पुरुषों का दिमाग ४६ से ५० या ५२ औंस [ounce] तक का और स्त्रियों का ४४-४८ औंस तक का होता है। देश-विशेष के अनुसार इसमें कुछ न्यूनाधिकता भी पायी जाती है। अपवादरूप असाधारण मानसिक शक्ति वालों का दिमाग औसत परिमाण से भी नीचे दर्जे का पाया गया है। पर साधारण नियमानुसार दिमाग के परिमाण और मानसिक विकास का सम्बन्ध रहता है।

(३) ब्राह्मीघृत आदि विविध औषधियों से मानसिक विकास को सहारा मिलता है।

(४) दिमाग पर आघात होने से स्मरण शक्ति क्षीण हो जाती है।

(५) दिमाग का एक विशेष भाग मानसिक शक्ति के साथ सम्बन्धित है, उसकी क्षति से मानस शक्ति में हानि होती है।

मानसिक क्रिया का शरीर पर प्रभाव

जैसे :—

(१) निरन्तर चिन्ता एवं दिमागी परिश्रम से शरीर थक जाता है।

(२) सुख-दुःख का शरीर पर प्रभाव होता है।

(३) उदासीन-वृत्ति एवं चिन्ता से पाचन शक्ति मन्द हो जाती है, शरीर कृश हो जाता है। क्रोध आदि से रक्त विषाक्त बन जाता है।

"चित्तायत्तं धातुबद्धं शरीरं, स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति।
तस्माच्चित्तं सर्वथा रक्षणीयं, चित्ते नष्टे धातवो यान्ति नाशम्।"

अर्थात्—"यह धातुमय शरीर चित्त के अधीन है। चित्त स्वस्थ होता है, तब बुद्धि में स्फुरणा आती है। इसलिए चित्त को सर्वथा स्वस्थ रखना चाहिए। चित्त-ग्लानि होने से धातुएं भी क्षीण हो जाती हैं।"—

इन घटनाओं के आलोकन के बाद शरीर और मन के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में सन्देह का कोई अवकाश नहीं रहता। इस प्रकार अन्योन्याश्रयवादी मानसिक एवं शारीरिक सम्बन्ध के निर्णय तक पहुँच गए। दोनों शक्तियों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर लिया। किन्तु उनके सामने एक उलझन अब तक भी मौजूद है। दो विसदृश पदार्थों के बीच कार्य कारण का सम्बन्ध कैसे? इसका वे अभी समाधान नहीं कर पाए हैं।

दो विसदृश पदार्थों का सम्बन्ध

[अरूप और सरूप का सम्बन्ध]

आत्मा और शरीर—ये विजातीय द्रव्य हैं। आत्मा चेतन और अरूप है, शरीर अचेतन और सरूप। इस दशा में दोनों का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसका समाधान जैन दर्शन में यों किया गया है। संसारी आत्मा सूक्ष्म और स्थूल, इन दो प्रकार के शरीरों से वेष्टित रहता है। एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने के समय स्थूल शरीर छूट जाता है, सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता। सूक्ष्म-शरीरधारी जीवों को एक के बाद दूसरे-तीसरे स्थूल शरीर का निर्माण करना पड़ता है। सूक्ष्म शरीरधारी जीव ही दूसरा शरीर धारण करते हैं, इसलिए अमूर्त जीव मूर्त शरीर में कैसे प्रवेश करते हैं—यह प्रश्न ही नहीं उठता।

सूक्ष्म शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अपश्चानुपूर्वी है। अपश्चानुपूर्वी उसे कहा जाता है, जहाँ पहले-पीछे का कोई विभाग नहीं होता—पौर्वापर्य नहीं निकाला जा सकता। तात्पर्य यह हुआ कि उनका सम्बन्ध अनादि है। इसीलिए संसार-दशा में जीव कथञ्चित् मूर्त भी है। उनका अमूर्त रूप विदेह-दशा में प्रगट होता है। यह स्थिति बनने पर फिर उनका मूर्त द्रव्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु संसार-दशा में जीव और पुद्गल का कथंचित् सादृश्य होता है, इसलिए उनका सम्बन्ध होना असम्भव नहीं। अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध नहीं हो सकता। यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है—यह उचित है। इनमें क्रिया प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अरूप [ब्रह्म] का सरूप [जगत्] के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। अरूप ब्रह्म के रूप-प्रणयन की वेदान्त के लिए एक जटिल समस्या है। संगति से असंगति [ब्रह्म से जगत्] और असंगति से फिर संगति की ओर गति क्यों होती है ? यह उसे और अधिक जटिल बना देती है।

अमूर्त आत्मा का मूर्त शरीर के साथ सम्बन्ध की स्थिति जैन दर्शन के सामने वैसी ही उलझन भरी है। किन्तु वस्तुवृत्या वह उससे भिन्न है। जैन-दृष्टि के अनुसार अरूप का रूप-प्रणयन नहीं हो सकता। संसारी आत्माएं अरूप नहीं होतीं। उनका विशुद्ध रूप अमूर्त होता है किन्तु संसार दशा में उसकी प्राप्ति नहीं होती। उनकी अरूप-स्थिति मुक्त दशा में बनती है। उसके बाद उनका सरूप के घात-प्रत्याघातों से कोई लगाव नहीं होता।

विज्ञान और आत्मा

बहुत से पश्चिमी वैज्ञानिक आत्मा को मन से अलग नहीं मानते। उनकी दृष्टि में मन और मस्तिष्क-क्रिया एक चीज है। दूसरे शब्दों में मन और मस्तिष्क पर्यायवाची शब्द हैं। "पावलोफ्" ने इसका समर्थन किया है कि स्मृति मस्तिष्क [सेरेब्रम] के करोड़ों सैलों [Cells] की क्रिया है। 'बर्गसां' जिस युक्ति के बल पर आत्मा के अस्तित्व की आवश्यकता अनुभव करता है, उसके मूलभूत तथ्य स्मृति को "पावलोफ्" मस्तिष्क के सैलों [Cells] की क्रिया बतलाता है। फोटो के नेगेटिव प्लेट [Negative plate] में जिस प्रकार प्रतिबिम्ब खींचे हुए होते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्क में अतीत के

चित्र प्रतिबिम्बित रहते हैं। जब उन्हें तदनुकूल सामग्री द्वारा नई प्रेरणा मिलती है तब वे जागृत हो जाते हैं। निम्नस्तर से ऊपरीस्तर में आ जाते हैं, इसी का नाम स्मृति है। इसके लिए भौतिक तत्त्वों से पृथक् अन्वयी आत्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं। भूताद्वैतवादी वैज्ञानिकों ने भौतिक प्रयोगों के द्वारा अभौतिक सत्ता का नास्तित्व सिद्ध करने की बहुमुखी चेष्टाएं की हैं, फिर भी भौतिक प्रयोगों का क्षेत्र भौतिकता तक ही सीमित रहता है, अमूर्त्त आत्मा या मन का नास्तित्व सिद्ध करने में उसका अधिकार सम्पन्न नहीं होता। मन भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार का होता है।

मनन, चिन्तन 'तर्क, अनुमान, स्मृति 'तदेवेदम्' इस प्रकार संकलनात्मक ज्ञान-अतीत और वर्तमान ज्ञान की जोड़ करना, ये कार्य अभौतिक मन के हैं [५५]। भौतिक मन उसकी ज्ञानात्मक प्रवृत्ति का साधन है। जिसे हम मस्तिष्क या 'औपचारिक ज्ञान तन्तु' भी कह सकते हैं। मस्तिष्क शरीर का अवयव है। उस पर विभिन्न प्रयोग करने पर मानसिक स्थिति में परिवर्तन पाया जाए, अर्ध स्मरण या विस्मरण आदि मिले, यह कोई आश्चर्य जनक घटना नहीं। क्योंकि कारण के अभाव में कार्य अभिव्यक्त नहीं होता, यह निश्चित तथ्य हमारे सामने है। भौतिकवादी तो "मस्तिष्क भी भौतिक है या और कुछ—इस समस्या में उलझे हुए हैं। उन्हीं के शब्दों में पढ़िए—मन सिर्फ भौतिक तत्त्व नहीं है, ऐसा होने पर उसके विचित्रगुण-चेतन क्रियाओं की व्याख्या नहीं हो सकती। मन (मस्तिष्क) में ऐसे नए गुण देखे जाते हैं, जो पहिले भौतिकतत्त्वों में मौजूद न थे, इसलिए भौतिक-तत्त्वों और मन को एक नहीं कहा जा सकता। साथ ही भौतिक-तत्त्वों से मन इतना दूर भी नहीं है, कि उसे बिलकुल ही एक अलग तत्त्व माना जाए [५६]।"

इन पंक्तियों से यह समझा जाता है कि वैज्ञानिक जगत् मन के विषय में ही नहीं, किन्तु मन के साधनभूत मस्तिष्क के बारे में भी अभी कितना संदिग्ध है। अस्तु मस्तिष्क को अतीत के प्रतिबिम्बों का वाहक और स्मृति का साधन मानकर स्वतंत्र चेतना का लोप नहीं किया जा सकता। मस्तिष्क फोटो के नेगेटिव प्लेट [Negative Plate] की भांति वर्तमान के चित्रों को खींच सकता है, सुरक्षित रख सकता है, इस कल्पना के आधार पर उसे

स्मृति का साधन भले ही माना जाए किन्तु उस स्थिति में वह भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता। उसमें केवल घटनाएं अंकित हो सकती हैं, पर उनके पीछे छिपे हुए कारण स्वतंत्र चेतनात्मक व्यक्ति का अस्तित्व माने बिना नहीं जाने जा सकते। "यह क्यों? यह है तो ऐसा होना चाहिए, ऐसा नहीं होना चाहिए, यह नहीं हो सकता, यह वही है, इसका परिणाम यह होगा"—ज्ञान की इत्यादि क्रियाएं अपना स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करती हैं। प्लेट [Plate] की चित्रावली में नियमन होता है। प्रतिबिम्बित चित्र के अतिरिक्त उसमें और कुछ भी नहीं होता। यह नियमन मानव-मन पर लागू नहीं होता। वह अतीत की धारणाओं के आधार पर बड़े-बड़े निष्कर्ष निकालता है—भविष्य का मार्ग निर्णीत करता है। इसलिए इस दृष्टान्त की भी मानस क्रिया में संगति नहीं होती।

तर्क-शास्त्र और विज्ञान-शास्त्र अंकित प्रतिबिम्बों के परिणाम नहीं। अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व वैज्ञानिक आविष्कार स्वतंत्र मानस की तर्कणा के कार्य हैं, किसी दृष्ट वस्तु के प्रतिबिम्ब नहीं। इसलिए हमें स्वतंत्र चेतना का अस्तित्व और उसका विकास मानना ही होगा। हम प्रत्यक्ष में आने वाली चेतना की विशिष्ट क्रियाओं की किसी भी तरह अवहेलना नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त भौतिकवादी 'वर्गसां' की आत्म-साधक युक्ति को—'चेतन और अचेतन का संबंध कैसे हो सकता है?'—इस प्रश्न के द्वारा व्यर्थ प्रमाणित करना चाहते हैं। 'वर्गसां' के सिद्धान्त की अपूर्णता का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि—'वर्गसां' जैसे दार्शनिक चेतना को भौतिक तत्त्वों से अलग ही एक रहस्यमय वस्तु साबित करना चाहते हैं। ऐसा साबित करने में उनकी सबसे जबरदस्त युक्ति है 'स्मृति'। मस्तिष्क शरीर का अंग होने से एक क्षणिक परिवर्तनशील वस्तु है। वह स्मृति को भूत से वर्तमान में लाने का वाहन नहीं बन सकता। इसके लिए किसी अक्षणिक—स्थायी माध्यम की आवश्यकता है। इसे वह चेतना या आत्मा का नाम देते हैं। स्मृति को अतीत से वर्तमान और परे भी ले जाने की जरूरत है, लेकिन अमर चेतना का मरणधर्मा अचेतन से सम्बन्ध कैसे होता है, यह आसान समस्या नहीं है। चेतन और अचेतन इतने विरुद्ध द्रव्यों का एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध

स्थापित करना तेल में पानी मिलाने जैसा है। इसीलिए इस कठिनाई को दूर करने का तरीका ढूंढ़ा जा रहा है। इससे इतना साफ हो जाता है कि चेतना या स्मृति से ही हमारी समस्या हल नहीं हो सकती।

तज्जीवतच्छरीर वादी वर्ग ने आत्मवादी पाश्चात्य दार्शनिकों की जिस कठिनाई को सामने रखकर सुख की श्वांस ली है,—उस कठिनाई को भारतीय दार्शनिकों ने पहले से ही साफ कर अपना पथ प्रशस्त कर लिया था। संसार-दशा में आत्मा और शरीर—ये दोनों सर्वथा भिन्न नहीं होते। गौतम स्वामी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने आत्मा और शरीर का भेदाभेद बतलाया है—अर्थात् "आत्मा शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी। शरीर रूपी भी है और अरूपी भी तथा वह सचेतन भी है और अचेतन भी [५७]।" शरीर और आत्मा का क्षीर-नीरवत् अथवा अग्नि-लोह-पिण्डवत् तादात्म्य होता है। यह आत्मा की संसारावस्था है। इसमें जीव और शरीर का कथंचित् अभेद होता है। अतएव जीव के दस परिणाम होते हैं [५८]। तथा इसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि पौद्गलिक गुण भी मिलते हैं [५९]। शरीर से आत्मा का कथंचित्-भेद होता है [६०]। इसलिए उसको अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श कहा जाता है [६१]। आत्मा और शरीर का भेदाभेद स्वरूप जानने के पश्चात् "अमर चेतना का मरणधर्मा अचेतन से संबन्ध कैसे होता है?" यह प्रश्न कोई मूल्य नहीं रखता। विश्ववर्त्ती चेतन या अचेतन सभी पदार्थ परिणामी नित्य हैं। ऐकान्तिक रूप से कोई भी पदार्थ मरण-धर्मा या अमर नहीं। आत्मा स्वयं नित्य भी है और अनित्य भी [६२]। सहेतुक भी है और निर्हेतुक भी। कर्म के कारण आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं होती हैं, इसलिए वह अनित्य और सहेतुक है तथा उसके स्वरूप का कभी प्रच्यव नहीं होता, इसलिए वह नित्य और निर्हेतुक है। शरीरस्थ आत्मा ही भौतिक पदार्थों से सम्बद्ध होती है। स्वरूपस्थ होने के बाद वह विशुद्ध चेतनावान् और सर्वथा अमूर्त्त बनती है, फिर उसका कभी अचेतन पदार्थ से सम्बन्ध नहीं होता। बद्ध-आत्मा स्थूल शरीर-मुक्त होने पर भी सूक्ष्म-शरीर-युक्त रहता है। स्थूल शरीर में वह प्रवेश नहीं करती किन्तु सूक्ष्म-शरीरवान् होने के कारण स्वयं उसका निर्माण करती है। अचेतन के साथ उसका अभूतपूर्व संबन्ध नहीं होता, किन्तु

अनादिकालीन प्रवाह में वह शरीर पर्यायात्मक एक कड़ी और जुड़ जाती है। उसमें कोई विरोध नहीं आता। जैसे कहा भी है—"तस्य चानादि कर्म-सम्बद्धस्य कदाचिदपि सांसारिकस्यात्मनः स्वरूपेऽनवस्थानात् सत्यप्यमूर्तत्वे मूर्तेन कर्मणा सम्बन्धो न विरुध्यते[१३]।" संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्म से बन्धा हुआ है। वह कभी भी अपने रूप में स्थित नहीं, अतएव अमूर्त होने पर भी उसका मूर्त कर्म (अचेतन द्रव्य) के साथ सम्बन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं होती।

आत्मा पर विज्ञान के प्रयोग

वैज्ञानिकों ने ९२ तत्त्व माने हैं। वे सब मूर्तिमान् हैं। उन्होंने जितने प्रयोग किये हैं, वे सभी मूर्त द्रव्यों पर ही किये हैं अमूर्त तत्त्व इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता। उस पर प्रयोग भी नहीं किये जा सकते। आत्मा अमूर्त है, इसीलिए आज के वैज्ञानिक, भौतिक साधन सम्पन्न होते हुए भी उसका पता नहीं लगा सके। किन्तु भौतिक साधनों से आत्मा का अस्तित्व नहीं जाना जाता तो उसका नास्तित्व भी नहीं जाना जाता। शरीर पर किये गए विविध प्रयोगों से आत्मा की स्थिति स्पष्ट नहीं होती। रूस के जीव-विज्ञान [Biology] के प्रसिद्ध विद्वान् "पावलोफ" ने एक कुत्ते का दिमाग निकाल लिया[१४]। उससे वह शून्यवत् हो गया। उसकी चेष्टाएँ स्तब्ध हो गईं। वह अपने मालिक और खाद्य तक को नहीं पहचान पाता। फिर भी वह मरा नहीं। इन्जेक्शनों द्वारा उसे खाद्य तत्त्व दिया जाता रहा। इस प्रयोग पर उन्होंने यह बताया कि दिमाग ही चेतना है। उसके निकल जाने पर प्राणी में कुछ भी चैतन्य नहीं रहता। इस पर हमें अधिक टीका टिप्पणी करने की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ सिर्फ इतना समझना ही पर्याप्त होगा कि दिमाग चेतना का उत्पादक नहीं, किन्तु वह मानस प्रवृत्तियों के उपयोग का साधन है। दिमाग निकाल लेने पर उसकी मानसिक चेष्टाएं रुक गईं। इसका अर्थ यह नहीं कि उसकी चेतना विलीन हो गई। यदि ऐसा होता तो वह जीवित भी नहीं रह पाता। खाद्य का स्वीकरण, रक्तसंचार, प्राणापान आदि चेतनावान् प्राणी में ही होता है। बहुत सारे ऐसे भी प्राणी हैं, जिनके मस्तिष्क होता ही नहीं। वह केवल मानस-प्रवृत्ति वाले प्राणी के ही होता है।

वनस्पति भी आत्मा है। उनमें चेतना है; हर्ष, शोक, भय आदि प्रवृत्तियां हैं। पर उनके दिमाग नहीं होता। चेतना का सामान्य लक्षण स्वानुभव है। जिसमें स्वानुभूति होती है, सुख-दुःख का अनुभव करने की क्षमता होती है, वही आत्मा है। फिर चाहे वह अपनी अनुभूति को व्यक्त कर सके या न कर सके, उसको व्यक्त करने के साधन मिले या न मिले। वाणी-विहीन प्राणी को प्रहार से कष्ट नहीं होता, यह मानना यौक्तिक नहीं। उसके पास बोलने का साधन नहीं, इसलिए वह अपना कष्ट कह नहीं सकता। फिर भी वह कष्ट का अनुभव कैसे नहीं करेगा? विकास-शील प्राणी मूक होने पर भी अङ्ग-सञ्चालन-क्रिया से पीड़ा जता सकते हैं। जिनमें यह शक्ति भी नहीं होती, वे किसी तरह भी अपनी स्थिति को स्पष्ट नहीं कर सकते। इससे स्पष्ट है कि बोलना, अङ्ग-सञ्चालन होते दीखना, चेष्टाओं को व्यक्त करना, ये आत्मा के व्यापक लक्षण नहीं हैं। ये केवल विशिष्ट शरीरधारी यानी त्रस-जातिगत आत्माओं के हैं। स्थावर जातिगत आत्माओं में ये स्पष्ट लक्षण नहीं मिलते। इससे क्या उनकी चेतनता और सुख-दुःखानुभूति का लोप थोड़े ही किया जा सकता है। स्थावर जीवों की कष्टानुभूति की चर्चा करते हुए शास्त्रों में लिखा है कि—जन्मान्ध, जन्म-मूक, जन्म-बधिर एवं रोग-ग्रस्त पुरुष के शरीर का कोई युवापुरुष तलवार एवं खड्ग से ३२-३२ बार छेदन-भेदन करे, उस समय उसे जैसा कष्ट होता है वैसा कष्ट पृथ्वी के जीवों को उन पर प्रहार करने से होता है। तथापि सामग्री के अभाव में वे बता नहीं सकते। और मानव प्रत्यक्ष प्रमाण का आग्रही ठहरा। इसलिए वह इस परोक्ष तथ्य को स्वीकार करने से हिचकता है। खैर। जो कुछ हो, इस विषय पर हमें इतना सा स्मरण कर लेना होगा कि आत्मा अरूपी अचेतन सत्ता है, वह किसी प्रकार भी चर्म-चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकती। आज से ढ़ाई हजार वर्ष पहिले कौशाम्बी-पति राजा प्रदेशी ने अपने जीवन के नास्तिक-काल में शारीरिक अवयवों के परीक्षण द्वारा आत्म प्रत्यक्षीकरण के अनेक प्रयोग किए। किन्तु उसका वह समूचा प्रयास विफल रहा। आज के वैज्ञानिक भी यदि वैसी ही असम्भव चेष्टाएं करते रहेंगे तो कुछ भी तथ्य नहीं निकलेगा। इसके विपरीत

यदि वे चेतना के आनुमानिक एवं स्वसंवेदनात्मक अन्वेषण करें तो इस गुत्थी को अधिक सरलतासे सुलझा सकते हैं।

चेतना का पूर्वरूप क्या है ?

निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती—इस तथ्य को स्वीकार करने वाले दार्शनिक चेतन तत्त्व को अनादि-अनन्त मानते हैं। दूसरी श्रेणी उन दार्शनिकों की है जो—निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति-स्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'फ्रायड्' की धारणा भी यही है कि जीवन का आरम्भ निर्जीव पदार्थ से हुआ। वैज्ञानिक जगत् में भी इस विचार की दो धाराएँ हैं—वैज्ञानिक "लुई पास्तुर" और टिंडल आदि निर्जीव से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते। रूसी नारी वैज्ञानिक लेपेसिन-स्काया, अणुवैज्ञानिक डा० डेराल्ड यूरे और उनके शिष्य स्टैनले मिलर आदि निष्प्राण सत्ता से सप्राण सत्ता की उत्पत्ति में विश्वास करते हैं।

चैतन्य को अचेतन की भांति अनुत्पन्न सत्ता या नैसर्गिक सत्ता स्वीकार करने वालों को 'चेतना का पूर्वरूप क्या है ?' यह प्रश्न उलझन में नहीं डालता।

दूसरी कोटि के लोग, जो अहेतुक या आकस्मिक चैतन्योत्पादवादी हैं, उन्हें यह प्रश्न झकझोर देता है। आदि जीव किन अवस्थाओं में, कब और कैसे उत्पन्न हुआ ? यह रहस्य आज भी उनके लिए कल्पना-मात्र है।

लुई पास्तुर और टिंडाल ने वैज्ञानिक परीक्षण के द्वारा यह प्रमाणित किया कि निर्जीव से सजीव पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते। वह परीक्षण यूं है……।

…एक कांच के गोले में उन्होंने कुछ विशुद्ध पदार्थ रख दिया और उसके बाद धीरे-धीरे उसके भीतर से समस्त हवा निकाल दी। वह गोला और उसके भीतर रखा हुआ पदार्थ ऐसा था कि उसके भीतर कोई भी सजीव प्राणी या उसका अण्डा या वैसी ही कोई चीज रह न जाए, यह पहले ही अत्यन्त सावधानी से देख लिया गया। इस अवस्था में रखे जाने पर देखा गया कि चाहे जितने दिन भी रखा जाए, उसके भीतर इस प्रकार की अवस्था में किसी प्रकार की जीव-सत्ता प्रकट नहीं होती, उसी पदार्थ को बाहर निकालकर रख

देने पर कुछ दिनों में ही उसमें कीड़े, मकोड़े या क्षुद्राकार बीजाणु दिखाई देने लगते हैं। इससे यह सिद्ध हो गया कि बाहर की हवा में बहकर ही बीजाणु या प्राणी का अण्डा या छोटे-छोटे विशिष्ट जीव इस पदार्थ में जाकर उपस्थित होते हैं।

स्टैनले मिलर ने डा० यूरे के अनुसार जीवन की उत्पत्ति के समय जो परिस्थितियां थीं, वे ही उत्पन्न कर दीं। एक सप्ताह के बाद उसने अपने रासायनिक मिश्रण की परीक्षा की। उसमें तीन प्रकार के प्रोटीन मिले परन्तु एक भी प्रोटीन जीवित नहीं मिला। मार्क्सवाद के अनुसार चेतना भौतिक सत्ता का गुणात्मक परिवर्तन है। पानी—पानी है। परन्तु उसका तापमान थोड़ा बढ़ा दिया जाए तो एक निश्चित बिन्दु पर पहुंचने के बाद वह भाप बन जाता है। (ताप के इस बिन्दु पर यह होता है, यह वायु-मण्डल के दबाव के साथ बदलता रहता है) यदि उसका तापमान कम कर दिया जाए तो वह बर्फ बन जाता है। जैसे भाप और बर्फ का पूर्व रूप पानी है, उसका भाप या बर्फ के रूप में परिणमन होने पर—गुणात्मक परिवर्तन होने पर, वह पानी नहीं रहता। वैसे चेतना का पहले रूप क्या था जो मिटकर चेतना को पैदा कर सका? इसका कोई समाधान नहीं मिलता। "पानी को गर्म कीजिए तो बहुत समय तक वह पानी ही बना रहेगा। उसमें पानी के सभी साधारण गुण मौजूद रहेंगे केवल उसकी गर्मी बढ़ती जाएगी। इसी प्रकार पानी को ठण्डा कीजिए तो एक हदतक वह पानी ही बना रहता है। लेकिन उसकी गर्मी कम हो जाती है। परन्तु एक बिन्दु पर परिवर्तन का यह क्रम यकायक टूट जाता है। शीत या उष्ण बिन्दु पर पहुँचते ही पानी के गुण एक दम बदल जाते हैं। पानी, पानी नहीं रहता बल्कि भाप या बर्फ बन जाता है।"

जैसे निश्चित बिन्दु पर पहुँचने पर पानी भाप या बर्फ बनता है वैसे भौतिकता का कौन-सा निश्चित बिन्दु है जहाँ पहुंचकर भौतिकता चेतना के रूप में परिवर्तित होती है। मस्तिष्क के घटक तत्त्व हैं—हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन-कार्बन, फॉसफौरस आदि-आदि। इनमें से कोई एक तत्त्व चेतना का उत्पादक है या सबके मिश्रण से वह उत्पन्न होती है और कितने तत्त्वों की कितनी मात्रा बनने पर वह पैदा होती है—इसका कोई ज्ञान अभी तक नहीं

हुआ है। चेतना भौतिक तत्त्वों के मिश्रण से पैदा होती है या वह भौतिकता का गुणात्मक परिवर्तन है, यह तब तक वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं बन सकता, जब तक भौतिकता के उस चरम-बिन्दु की, जहाँ पहुँच कर यह चेतना के रूप में परिवर्तित होता है, निश्चित जानकारी न मिले।

इन्द्रिय और मस्तिष्क आत्मा नहीं

आंख, कान आदि नष्ट होने पर भी उनके द्वारा विज्ञात विषय की स्मृति रहती है, इसका कारण यही है कि आत्मा देह और इन्द्रिय से भिन्न है। यदि ऐसा न होता तो इन्द्रिय के नष्ट होने पर उनके द्वारा किया हुआ ज्ञान भी चला जाता। इन्द्रिय के विकृत होने पर भी पूर्व ज्ञान विकृत नहीं होता। इससे प्रमाणित होता है कि ज्ञान का अधिष्ठान इन्द्रिय से भिन्न है—वह आत्मा है। इस पर यह कहा जा सकता है कि इन्द्रिय बिगड़ जाने पर जो पूर्व ज्ञान की स्मृति होती है, उसका कारण मस्तिष्क है। आत्मा नहीं। मस्तिष्क स्वस्थ होता है, तब तक स्मृति है। उसके बिगड़ जाने पर स्मृति नहीं होती। इसलिए "मस्तिष्क ही ज्ञान का अधिष्ठान है।" उससे पृथक् आत्मा नामक तत्त्व को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह तर्क भी आत्मवादी के लिए नगण्य है। जैसे इन्द्रियां बाहरी वस्तुओं को जानने के साधन हैं, वैसे मस्तिष्क इन्द्रियज्ञान-विषयक चिन्तन और स्मृति का साधन है। उसके विकृत होने पर यथार्थ स्मृति नहीं होती। फिर भी पागल व्यक्ति में चेतना की क्रिया चालू रहती है, वह उससे भी परे की शक्ति की प्रेरणा है। साधनों की कमी होने पर आत्मा की ज्ञान-शक्ति विकल—अधूरी हो जाती है, नष्ट नहीं होती। मस्तिष्क विकृत हो जाने पर अथवा उसे निकाल देने पर भी खाना-पीना, चलना-फिरना, हिलना-डुलना, श्वास-उच्छ्वास लेना आदि-आदि प्राण-क्रियाएं होती हैं। वे यह बताती हैं कि मस्तिष्क के अतिरिक्त जीवन की कोई दूसरी शक्ति है। उसी शक्ति के कारण शरीर में अनुभव और प्राण की क्रिया होती है। मस्तिष्क से चेतना का सम्बन्ध है। इसे आत्मवादी भी अस्वीकार नहीं करते। "तन्दुल-वेयालिय" के अनुसार इस शरीर में १६० ऊर्ध्व गामिनी और रसहारिणी शिराएं हैं, जो नाभि से निकलकर ठेठ सिर तक पहुँचती हैं। वे स्वस्थ होती

हैं, तब तक आँख, कान, नाक और जीभ का बल ठीक रहता है[१५]। भारतीय आयुर्वेद के मत में भी मस्तक प्राण और इन्द्रिय का केन्द्र माना गया है।

"प्राणाः प्राणभृतां यत्र, तथा सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां, शिरस्तदभिधीयते॥ [चरक]

मस्तिष्क चैतन्य सहायक धमनियों का जाल है। इसलिए मस्तिष्क की अमुक शिरा काट देने से अमुक प्रकार की अनुभूति न हो, इससे यह फलित नहीं होता कि चेतना मस्तिष्क की उपज है।

कृत्रिम मस्तिष्क चेतन नहीं है

कृत्रिम मस्तिष्क, जिनका बड़े गणित के लिए उपयोग होता है, चेतनायुक्त नहीं है। वे चेतना-प्रेरित कार्यकारी यन्त्र हैं। उनकी मानव-मस्तिष्क से तुलना नहीं की जा सकती। वास्तव में ये मानव-मस्तिष्क की भाँति सक्रिय और बुद्धियुक्त नहीं होते। ये केवल शीघ्र और तेजी से काम करनेवाले होते हैं। यह मानव-मस्तिष्क की सुषुम्ना और मस्तिष्क-स्थित श्वेत मज्जा के मोटे काम ही कर सकता है और इस अर्थ में यह मानव-मस्तिष्क का एक शतांश भी नहीं। मानव-मस्तिष्क चार भागों में बंटा हुआ है—

१—दीर्घ-मस्तिष्क—जो संवेदना, विचार-शक्ति और स्मरण-शक्ति इत्यादि को प्रेरणा देता है।

२—लघु-मस्तिष्क।

३—सेत।

४—सुषुम्ना।

यान्त्रिक मस्तिष्क केवल सुषुम्ना के ही कार्यों को कर सकता है, जो मानव-मस्तिष्क का क्षुद्रतम अंश है।

यांत्रिक-मस्तिष्क का गणन-यंत्र लगभग मोटर में लगे मीटर की तरह होता है, जिसमें मोटर के चलने की दूरी मीलों में अंकित होती चलती है। इस गणन-यंत्र का कार्य एक और शून्य अंक को जोड़ना अथवा एकत्र करना है। यदि गणन-यंत्र से इन अंकों को निकाला जाता है तो इससे घटाने की क्रिया होती है और जोड़-घटाव की दो क्रियाओं पर ही सारा गणित आधारित है।

प्रदेश और जीवकोष दो हैं

आत्मा असंख्य-प्रदेशी है। एक, दो, तीन प्रदेश जीव नहीं होते। परिपूर्ण असंख्य प्रदेश के समुदय का नाम जीव है। वह असंख्य जीवकोषों का पिण्ड नहीं है। वैज्ञानिक असंख्य सेल्स [Cells]-जीवकोषों के द्वारा प्राणी शरीर और चेतना का निर्माण होना बतलाते हैं। वे शरीर तक ही सीमित हैं। शरीर अस्थायी है—एक पौद्गलिक अवस्था है। उसका निर्माण होता है। और वह रूपी है, इसलिए उसके अङ्गोपाङ्ग देखे जा सकते हैं। उनका विश्लेषण किया जा सकता है। आत्मा स्थायी और अभौतिक द्रव्य है[६६]। वह उत्पन्न नहीं होता। और वह अरूपी है, किसी प्रकार भी इन्द्रिय-शक्ति से देखा नहीं जाता। अतएव जीव कोषों द्वारा आत्मा की उत्पत्ति बतलाना भूल है। प्रदेश भी आत्मा के घटक नहीं हैं। वे स्वयं आत्मरूप हैं। आत्मा का परिमाण जानने के लिए उसमें उनका आरोप किया गया है। यदि वे वास्तविक अवयव होते तो उनमें संगठन, विघटन या न्यूनाधिक्य हुए बिना नहीं रहता। वास्तविक प्रदेश केवल पौद्गलिक स्कन्धों में मिलते हैं। अतएव उनमें संघात या भेद होता रहता है। आत्मा अखण्ड द्रव्य है। उसमें संघात-विघात कभी नहीं होते और न उसके एक-दो-तीन आदि प्रदेश जीव कहे जाते हैं। आत्मा कृत्स्न, परिपूर्ण-लोकाकाश तुल्य प्रदेश परिमाणवाली है[६७]। एक तन्तु भी पट का उपकारी होता है। उसके बिना पट पूरा नहीं बनता। परन्तु एक तन्तु पट नहीं कहा जाता। एक रूप में समुदित तन्तुओं का नाम पट है। वैसे ही जीव का एक प्रदेश जीव नहीं कहा जाता। असंख्य चेतन प्रदेशों का एक पिण्ड है, उसी का नाम जीव है।

अस्तित्व सिद्धि के दो प्रकार

प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व दो प्रकार से सिद्ध होता है—साधक प्रमाण से और बाधक प्रमाण के अभाव से। जैसे साधक प्रमाण अपनी सत्ता से साध्य का अस्तित्व सिद्ध करता है, ठीक उसी प्रकार बाधक प्रमाण न मिलने से भी उसका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। आत्मा को सिद्ध करने के लिए साधक प्रमाण अनेक मिलते हैं, किन्तु बाधक प्रमाण एक भी ऐसा नहीं मिलता, जो आत्मा का निषेधक हो। इससे जाना जाता है कि आत्मा एक स्वतन्त्र

द्रव्य है। हाँ, यह निश्चित है कि इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता। फिर भी आत्म-अस्तित्व में यह बाधक नहीं, क्योंकि बाधक वह बन सकता है, जो उस विषय को जानने में समर्थ हो और अन्य पूरी सामग्री होने पर भी उसे न जान सके। जैसे—आँख घट, पट आदि को देख सकती है। पर जिस समय उचित सामीप्य एवं प्रकाश आदि सामग्री होने पर भी वह उनको न देख सके, तब वह उस विषय की बाधक मानी जा सकती है। इन्द्रियों की ग्रहण-शक्ति परिमित है। वे सिर्फ पार्श्ववर्ती और स्थूल पौद्गलिक पदार्थों को ही जान सकती हैं। आत्मा अपौद्गलिक [अभौतिक] पदार्थ है। इसलिए इन्द्रियों द्वारा आत्मा को न जान सकना नहीं कहा जा सकता। यदि हम बाधक प्रमाण का अभाव होने से किसी पदार्थ का सद्भाव माने तब तो फिर पदार्थ-कल्पना की बाढ़ सी आजाएगी। उसका क्या उपाय होगा? ठीक है, यह सन्देह हो सकता है, किन्तु बाधक प्रमाण का अभाव साधक प्रमाण के द्वारा पदार्थ का सद्भाव स्थापित कर देने पर ही कार्यकर होता है।

आत्मा के साधक प्रमाण मिलते हैं, इसीलिए उसकी स्थापना की जाती है। उस पर भी यदि-सन्देह किया जाता है, तब आत्मवादियों को वह हेतु भी अनात्मवादियों के सामने रखना जरूरी हो जाता है कि आप यह तो बतलाएं कि 'आत्मा नहीं है' इसका प्रमाण क्या है? 'आत्मा है' इसका प्रमाण चैतन्य की उपलब्धि है। चेतना हमारे प्रत्यक्ष है। उसके द्वारा अप्रत्यक्ष आत्मा का भी सद्भाव सिद्ध होता है। जैसे—

'चैतन्यलिङ्गोपलब्धेस्तद्ग्रहणम्[१८]।' धूम को देखकर मनुष्य अग्नि का ज्ञान कर लेता है, आतप को देखकर सूर्योदय का ज्ञान कर लेता है, इसका कारण यही है कि धुआं अग्नि का तथा आतप सूर्योदय का अविनाभावी है—उनके बिना वे निश्चितरूपेण नहीं होते। चेतना भूत समुदय का कार्य या भूत-धर्म है, यह नहीं माना जा सकता क्योंकि भूत जड़ है। 'तयोरत्यन्ताभावात्'—भूत और चेतना में अत्यन्ताभाव—त्रिकालवर्ती विरोध होता है। चेतन कभी अचेतन और अचेतन कभी चेतन नहीं बन सकता। लोक-स्थिति का निरूपण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए, ऐसा न कभी हुआ, न होता है और न कभी

होगा[११]। इसलिए हमें आत्मा की जड़ वस्तु से भिन्न सत्ता स्वीकार करनी होती है। यद्यपि कई विचारक आत्मा को जड़ पदार्थ का विकसित रूप मानते हैं, किन्तु यह संगत नहीं। विकास अपने धर्म के अनुकूल ही होता है और हो सकता है। चैतन्यहीन जड़ पदार्थ से चेतनावान् आत्मा का उपजना विकास नहीं कहा जा सकता। यह तो सर्वथा असत्-कार्यवाद है। इसलिए जड़त्व और चेतनत्व—इन दो विरोधी महाशक्तियों को एक मूल तत्त्वगत न मानना ही युक्ति-संगत है।

स्वतन्त्र सत्ता का हेतु

द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व उसके विशेष गुण द्वारा सिद्ध होता है। अन्य द्रव्यों में न मिलने वाला गुण जिसमें मिले, वह स्वतंत्र द्रव्य होता है। सामान्यगुण जो कई द्रव्यों में मिले, उनसे पृथक् द्रव्य की स्थापना नहीं होती। चैतन्य आत्मा का विशिष्ट गुण है। वह उसके सिवाय और कहीं नहीं मिलता। अतएव आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है और उसमें पदार्थ के व्यापक लक्षण—अर्थ—क्रियाकारित्व और सत् दोनों घटित होते हैं। पदार्थ वही है, जोप्रतिक्षण अपनी क्रिया करता रहे। अथवा पदार्थ वही है, जो सत् हो यानि पूर्व-पूर्ववर्ती अवस्थाओं को त्यागता हुआ, उत्तर-उत्तरवर्ती अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ भी अपने स्वरूप को न त्यागे। आत्मा में जानने की क्रिया निरन्तर होती रहती है। ज्ञान का प्रवाह एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता और वह (आत्मा) उत्पाद, व्यय के स्रोत में बहती हुई भी ध्रुव है। बाल्य, यौवन, जरा आदि अवस्थाओं एवं मनुष्य, पशु आदि शरीरों का परिवर्तन होने पर भी उसका चैतन्य अक्षुण्ण रहता है। आत्मा में रूप आकार एवं वजन नहीं, फिर वह द्रव्य ही क्या? यह निराधार शंका है। क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्य के अवान्तर-लक्षण हैं। सब पदार्थों में उनका होना आवश्यक नहीं होता।

पुनर्जन्म

मृत्यु के पश्चात् क्या होगा? क्या हमारा अस्तित्व स्थायी है या वह मिट जाएगा? इस प्रश्न पर अनात्मवादी का उत्तर यह है कि वर्तमान जीवन समाप्त

होने पर कुछ भी नहीं है। पांच भूतों से प्राण बनता है। उनके अभाव में प्राण-नाश हो जाता है—मृत्यु हो जाती है। फिर कुछ भी बचा नहीं रहता। आत्मवादी आत्मा को शाश्वत मानते हैं। इसलिए उन्होंने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्थापना की। कर्म-लिप्त आत्मा का जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म होना निश्चित है। संक्षेप में यही पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त है।

जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म की परम्परा चलती है—यह विश्व की स्थिति है[७०]। जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्मान्तर करते हैं[७१]। पुनर्जन्म कर्म-संगी जीवों के ही होता है[७२]।

आयुष्य-कर्म के पुद्‌गल-परमाणु जीव में ऊँची-नीची, तिरछी-लम्बी और छोटी गति की शक्ति उत्पन्न करते हैं[७३]। उसी के अनुसार जीव नए जन्म-स्थान में जा उत्पन्न होते हैं।

राग-द्वेष कर्म-बन्ध के और कर्म जन्म-मृत्यु की परम्परा के कारण हैं। इस विषय में सभी क्रियावादी एक मत हैं। भगवान् महावीर के शब्दों में—"क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पुनर्जन्म के मूल को पोषण देने वाले हैं[७४]। गीता कहती है—"जैसे फटे हुए कपड़े को छोड़कर मनुष्य नया कपड़ा पहिनता है, वैसे ही पुराने शरीर को छोड़कर प्राणी मृत्यु के बाद, नए शरीर को धारण करते हैं[७५]। यह आवर्तन प्रकृति से होता है[७६]। महात्मा बुद्ध ने अपने पैर में चुभने वाले कांटे को पूर्वजन्म में किए हुए प्राणीवध का विपाक बताया[७७]।

नव-शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं। उसका कारण पूर्वजन्म की स्मृति है[७८]। नव-शिशु स्तन-पान करने लगता है। यह पूर्वजन्म में किए हुए आहार के अभ्यास से ही होता है[७९]। जिस प्रकार युवक का शरीर बालक-शरीर की उत्तरवर्ती अवस्था है, वैसे ही बालक का शरीर पूर्वजन्म के बाद में होने वाली अवस्था है। यह देह-प्राप्ति की अवस्था है। इसका जो अधिकारी है, वह आत्मा—देही है[८०]।

वर्तमान के सुख-दुःख अन्य सुख-दुःख पूर्वक होते हैं। सुख-दुःख का अनुभव वही कर सकता है, जो पहले उनका अनुभव कर चुका है। नव-शिशु को जो सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह भी पूर्व-अनुभव युक्त है। जीवन

का मोह और मृत्यु का भय। पूर्व-बद्ध संस्कारों का परिणाम है। यदि पूर्व-जन्म में इनका अनुभव न हुआ होता तो नवोत्पन्न प्राणियों में ऐसी वृत्तियां नहीं मिलतीं। इस प्रकार भारतीय आत्मवादियों ने विविध युक्तियों से पूर्वजन्म का समर्थन किया है। पाश्चात्य दार्शनिक भी इस विषय में मौन नहीं हैं।

प्राचीन दार्शनिक प्लेटो [Plato] ने कहा है कि—"आत्मा सदा अपने लिए नए-नए वस्त्र बुनती है तथा आत्मा में एक जैसी नैसर्गिक शक्ति है, जो ध्रुव रहेगी और अनेक बार जन्म लेगी[८१]।"

नवीन दार्शनिक 'शोपनहोर' के शब्दों में पुनर्जन्म निसंदिग्ध तत्त्व है। जैसे—"मैंने यह भी निवेदन किया कि जो कोई पुनर्जन्म के बारे में पहले-पहल सुनता है, उसे भी वह स्पष्टरूपेण प्रतीत हो जाता है[८२]।

पुनर्जन्म की अवहेलना करने वाले व्यक्तियों की प्रायः दो प्रधान शंकाएं सामने आती हैं। जैसे—यदि हमारा पूर्वभव होता तो हमें उसकी कुछ-न-कुछ तो स्मृतियां होतीं? यदि दूसरा जन्म होता तो आत्मा की गति एवं आगति हम क्यों नहीं देख पाते?

पहली शंका का हम अपने बाल्य-जीवन से ही समाधान कर सकते हैं। बचपन की घटनावलियाँ हमें स्मरण नहीं आतीं तो क्या इसका यह अर्थ होगा कि हमारी शैशव-अवस्था हुई नहीं थी? एक दो वर्ष के नव-शैशव की घटनाएं स्मरण नहीं होतीं, तो भी अपने बचपन में किसी को सन्देह नहीं होता। वर्तमान जीवन की यह बात है, तब फिर पूर्वजन्म को हम इस युक्ति से कैसे हवा में उड़ा सकते हैं। पूर्वजन्म की भी स्मृति हो सकती है, यदि उतनी शक्ति जाग्रत हो जाए। जिसे 'जाति-स्मृति' [पूर्वजन्म-स्मरण] हो जाती है, वह अनेक जन्मों के घटनाओं का साक्षात्कार कर सकता है।

दूसरी शङ्का एक प्रकार से नहीं के समान है। आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता—उसके दो कारण हैं—एक तो वह अमूर्त्त है—रूप रहित है। इसलिए दृष्टिगोचर नहीं होता। दूसरे वह सूक्ष्म है, इसलिए शरीर में प्रवेश करता हुआ या निकलता हुआ उपलब्ध नहीं होता। "नाऽभावोऽनीक्षणादपि"—नहीं दीखने मात्र से किसी वस्तु का अभाव नहीं होता। सूर्य के प्रकाश में नक्षत्र-गण नहीं देखा जाता। इससे उसका अभाव थोड़ा ही माना जा सकता है।

अन्धकार में कुछ नहीं दीखता, क्या यह मान लिया जाए कि वहाँ कुछ भी नहीं है? ज्ञान-शक्ति की एकदेशीयता से किसी भी सत्-पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार न करना उचित नहीं होता। अब हमें पुनर्जन्म की सामान्य स्थिति पर भी कुछ दृष्टिपात कर लेना चाहिए। दुनियां में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो अत्यन्त-असत् से सत् बन जाए—जिसका कोई भी अस्तित्व नहीं, वह अपना अस्तित्व बना ले। यहाँ "असओणत्थि भावो, सओणत्थि निसे हो"—या—"नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः"। ये पंक्तियां बड़ी उपयुक्त हैं। अभाव से भाव एवं भाव से अभाव नहीं होता है तब फिर जन्म और मृत्यु, नाश और उत्पाद, यह क्या है? यह परिवर्तन है—प्रत्येक पदार्थ में परिवर्तन होता है। परिवर्तन से पदार्थ एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में चला जाता है। किन्तु न तो सर्वथा नष्ट होता है और न सर्वथा उत्पन्न भी। दूसरे-दूसरे पदार्थों में भी परिवर्तन होता है, वह हमारे सामने है। प्राणियों में भी परिवर्तन होता है। वे जन्मते हैं, मरते हैं। जन्म का अर्थ अत्यन्त नई वस्तु की उत्पत्ति नहीं और मृत्यु से जीव का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता। केवल वैसा ही परिवर्तन है, जैसे यात्री एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में चले जाते हैं। अच्छा होगा कि उक्त सूत्र को एक बार फिर दोहराया जाए—यह एक ध्रुव सत्य है कि सत्ता [अत्यन्त हाँ] से असत्ता [अत्यन्त नहीं] एवं असत्ता से सत्ता कभी नहीं होती। परिवर्तन को जोड़ने वाली कड़ी आत्मा है। वह अन्वयी है। पूर्वजन्म और उत्तर जन्म दोनों उसकी अवस्थाएं हैं। वह दोनों में एक रूप से रहती है। अतएव अतीत और भविष्य की घटनावलियों की श्रृंखला जुड़ती है। शरीर-शास्त्र के अनुसार सात वर्ष के बाद शरीर के पूर्व परमाणु च्युत हो जाते हैं—सब अवयव नए बन जाते हैं। इस सर्वाङ्गीण परिवर्तन में आत्मा का लोप नहीं होता। तब फिर मृत्यु के बाद उसका अस्तित्व कैसे मिट जाएगा?

अन्तर-काल

प्राणी मरता है और जन्मता है, एक शरीर को छोड़ता है और दूसरा शरीर बनाता है। मृत्यु और जन्म के बीच का समय अन्तर-काल कहा जाता है। उसका परिमाण एक, दो, तीन या चार समय तक का है[८]। अन्तर-काल में

स्थूल शरीर-रहित आत्मा की गति होती है। उसका नाम 'अन्तराल-गति' है। वह दो प्रकार की होती है। ऋजु और वक्र। मृत्युस्थान से जन्म-स्थान सरल रेखा में होता है, वहाँ आत्मा की गति ऋजु होती है। और वह विषम रेखा में होता है, वहाँ गति वक्र होती है। ऋजु गति में सिर्फ एक समय लगता है। उसमें आत्मा को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता। क्योंकि जब वह पूर्व शरीर छोड़ता है तब उसे पूर्व शरीर जन्य वेग मिलता है और वह धनुष से छूटे हुए बाण की तरह सीधे ही नए जन्म स्थान में पहुंच जाता है। वक्रगति में घुमाव करने पड़ते हैं। उनके लिए दूसरे प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। घूमने का स्थान आते ही पूर्व-देह जनित वेग मन्द पड़ जाता है और सूक्ष्म शरीर-कार्मण शरीर द्वारा जीव नया प्रयत्न करता है। इसलिए उसमें समय-संख्या बढ़ जाती है। एक घुमाव वाली वक्रगति में दो समय, दो घुमाव वाली में तीन समय और तीन घुमाव वाली में चार समय लगते हैं। इसका तर्क-संगत कारण लोक-संस्थान है। सामान्यतः यह लोक ऊर्ध्व, अधः, तिर्यग्—यों तीन भागों में तथा जीवोत्पत्ति की अपेक्षा त्रस नाड़ी और स्थावर नाड़ी, इस प्रकार दो भागों में विभक्त है।

द्विसामयिक गति—

ऊर्ध्व लोक की पूर्व दिशा से अधोलोक की पश्चिम दिशा में उत्पन्न होने वाले जीव की गति एक वक्राद्विसामयिकी होती है। पहिले समय में समश्रेणी में गमन करता हुआ जीव अधोलोक में जाता है और दूसरे समय में तिर्यग्वर्ती अपने-अपने उत्पत्ति-क्षेत्र में पहुँच जाता है।

त्रि सामयिक गति—

ऊर्ध्व दिशावर्त्ती अग्निकोण से अधोदिशावर्त्ती वायव्य कोण में उत्पन्न होने वाले जीव की गति द्विवक्रात्रिसामयिकी होती है। पहिले समय में जीव सम-श्रेणी गति से नीचे आता है, दूसरे समय में तिरछा चल पश्चिम दिशा में और तीसरे समय में तिरछा चलकर वायव्य कोण में अपने जन्मस्थान पर पहुँच जाता है।

स्थावर-नाड़ी गत अधोलोक की विदशा के इस पार से उस पार की स्थावर-नाड़ी गत ऊर्ध्व लोक की दिशा में पैदा होने वाले जीव की 'त्रि-वक्रा-

चतुः सामयिकी' गति होती है। एक समय अधोवर्ती विदिशा से दिशा में पहुँचने में, दूसरा समय त्रस नाड़ी में प्रवेश करने में, तीसरा समय ऊर्ध्वगमन में और चौथा समय त्रसनाड़ी से निकल उस पार स्थावर नाड़ी गत उत्पत्ति-स्थान तक पहुंचने में लगता है। आत्मा स्थूल शरीर के अभाव में भी सूक्ष्म शरीर द्वारा गति करती है और मृत्यु के बाद वह दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश नहीं करती। किन्तु स्वयं उसका निर्माण करती है। तथा संसार-अवस्था में वह सूक्ष्म-शरीर-मुक्त कभी नहीं होती। अतएव पुनर्जन्म की प्रक्रिया में कोई बाधा नहीं आती।

जन्म व्युत्क्रम और इन्द्रिय :—

आत्मा का एक जन्म से दूसरे जन्म में उत्पन्न होना संक्रान्तिकाल है। उसमें आत्मा की ज्ञानात्मक स्थिति कैसी रहती है। इस पर हमें कुछ विचार करना है। अन्तराल-गति में आत्मा के स्थूल-शरीर नहीं होता। उसके अभाव में आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियां भी नहीं होती। वैसी स्थिति में जीव का जीवत्व कैसे टिका रहे। कम से कम एक इन्द्रिय की ज्ञानमात्रा तो प्राणी के लिए अनिवार्य है। जिसमें यह नहीं होती, वह प्राणी भी नहीं होता। इस समस्या को शास्त्रकारों ने स्याद्वाद के आधार पर सुलझाया है।

"भगवन्! एक जन्म से दूसरे जन्म में व्युत्क्रम्यमाण जीव स-इन्द्रिय होता है या अन्-इन्द्रिय[८४]? इसका उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा— 'गौतम! द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा जीव अन-इन्द्रिय व्युत्क्रान्त होता है और लब्धीन्द्रिय की अपेक्षा स-इन्द्रिय।"

आत्मा में ज्ञानेन्द्रिय की शक्ति अन्तरालगति में भी होती है। त्वचा, नेत्र आदि सहायक इन्द्रियां नहीं होतीं। उसे स्व-संवेदन का अनुभव होता है— किन्तु सहायक इन्द्रियों के अभाव में इन्द्रिय शक्ति का उपयोग नहीं होता। सहायक इन्द्रियों का निर्माण स्थूल-शरीर-रचना के समय इन्द्रिय-ज्ञान की शक्ति के अनुपात पर होता है। एक इन्द्रिय की योग्यतावाले प्राणी की शरीर-रचना में त्वचा के सिवाय और इन्द्रियों की आकृतियां नहीं बनतीं। द्वीन्द्रिय आदि जातियों में क्रमशः रसन, घ्राण, चक्षुः और श्रोत्र की रचना होती है।

दोनों प्रकार की इन्द्रियों के सहयोग से प्राणी इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग करते हैं।

स्व-नियमन

जीव-स्वयं-चालित है। स्वयं-चालित का अर्थ पर सहयोग-निरपेक्ष नहीं, किन्तु संचालक-निरपेक्ष है। जीव की प्रतीति उसी के उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषकार—पराक्रम से होती है [८५]। उत्थान आदि शरीर-उत्पन्न हैं। शरीर जीव द्वारा निष्पन्न है। क्रम इस प्रकार बनता है :—

जीवप्रभव शरीर,

शरीरप्रभव वीर्य,

वीर्यप्रभव योग (मन, वाणी और कर्म) [८६]।

वीर्य दो प्रकार का होता है—(१) लब्धि-वीर्य (२) करणवीर्य। लब्धि-वीर्य सत्तात्मक शक्ति है। उसकी दृष्टि से सब जीव सवीर्य होते हैं। करण वीर्य क्रियात्मक शक्ति है। यह जीव और शरीर दोनों के सहयोग से उत्पन्न होती है [८७]।

जीव में सक्रियता होती है, इसलिए वह पौद्गलिक कर्म का संग्रह या स्वीकरण करता है। पौद्गलिक कर्म का संग्रहण करता है, इसलिए उससे प्रभावित होता है।

कर्तृत्व और फल-भोक्तृत्व एक ही शृंखला के दो सिरे हैं। कर्तृत्व स्वयं का और फल-भोक्तृत्व के लिए दूसरी सत्ता का नियमन—ऐसी स्थिति नहीं बनती।

फल-प्राप्ति इच्छा-नियंत्रित नहीं किन्तु क्रिया-नियंत्रित है। हिंसा, असत्य आदि क्रिया के द्वारा कर्म-पुद्गलों का संचय कर जीव भारी बन जाते हैं [८८]। इनकी विरक्ति करने वाला जीव कर्म-पुद्गलों का संचय नहीं करता, इसलिए वह भारी नहीं बनता [८९]।

जीव कर्म के भार से जितना अधिक भारी होता है, वह उतनी ही अधिक निम्नगति में उत्पन्न होता है[९०] और हलका ऊर्ध्वगति में [९१]। गुरुकर्मा जीव इच्छा न होने पर भी अधोगति में जावेगा। कर्म-पुद्गलों को उसे कहाँ ले जाना है—यह ज्ञान नहीं होता। किन्तु पर भव योग्य आयुष्य कर्म-पुद्गलों

का जो संग्रह हुआ होता है, वह पकते ही अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देता है। पहले जीवन यानि वर्तमान आयुष्य के कर्म-परमाणुओं की क्रिया समाप्त होते ही अगले आयुष्य के कर्म-पुद्‌गल अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देते हैं। दो आयुष्य के कर्म-पुद्‌गल जीव को एक साथ प्रभावित नहीं करते[१२]। वे पुद्‌गल जिस स्थान के उपयुक्त बने हुए होते हैं, उसी स्थान पर जीव को घसीट ले जाते हैं[१३]। उन पुद्‌गलों की गति उनकी रासायनिक क्रिया [रस-बंध या अनुभाव बन्ध] के अनुरूप होती है। जीव उनसे बद्ध होता है, इसलिए उसे भी वहीं जाना पड़ता है। इस प्रकार पुनरावर्तन एक जन्म से दूसरे जन्म में गति और आगति स्व-नियमन से ही होती है।

संसार का हेतु

जीव की वैभाविक दशा का नाम संसार है। संसार का मूल कर्म है। कर्म के मूल राग, द्वेष हैं। जीव की असंयममय प्रवृत्ति रागमूलक या द्वेषमूलक होती है। उसे समझा जा सके या नहीं, यह दूसरी बात है। जीव को फंसाने वाला दूसरा कोई नहीं। जीव भी कर्मजाल को अपनी ही अज्ञान-दशा और आशा-वाञ्छा से रच लेता है। कर्म व्यक्तिरूप से अनादि नहीं है, प्रवाहरूप से अनादि है। कर्म का प्रवाह कब से चला, इसकी आदि नहीं है। जब से जीव तब से कर्म है। दोनों अनादि हैं। अनादि का प्रारम्भ न होता है और न बताया जा सकता है। एक-एक कर्म की अपेक्षा सब कर्मों की निश्चित अवधि होती है[1]। परिपाक-काल के बाद वे जीव से विलग हो जाते हैं। अतएव आत्मा की कर्म-मुक्ति में कोई बाधा नहीं आती। आत्म संयम से नए कर्म चिपकने बन्द हो जाते हैं। पहले चिपके हुए कर्म तपस्या के द्वारा धीमे-धीमे निर्जीर्ण हो जाते हैं। नए कर्मों का बन्ध नहीं होता, पुराने कर्म टूट जाते हैं। तब वह अनादि प्रवाह रुक जाता है—आत्मा मुक्त हो जाती है। यह प्रक्रिया आत्म-साधकों की है। आत्म-साधना से विमुख रहने वाले नए-नए कर्मों का संचय करते हैं। उसी के द्वारा उन्हें जन्म-मृत्यु के अविरल प्रवाह में बहना पड़ता है।

सूक्ष्म शरीर

सूक्ष्म शरीर दो हैं—तैजस और कार्मण। तैजस शरीर तैजस परमाणुओं से बना हुआ विद्युतशरीर है। इससे स्थूल शरीर में सक्रियता, पाचन, दीप्ति और तेज बना रहता है। कार्मण शरीर सुख-दुःख के निमित्त बनने वाले कर्म-अणुओं के समूह से बनता है। यही शेष सब शरीरों का, जन्म-मरण की परम्परा का मूल कारण होता है। इससे छुटकारा पाए बिना जीव अपनी असली दशा में नहीं पहुंच पाता।

गर्भ

प्राणी की उत्पत्ति का पहला रूप दूसरे में छिपा होता है, इसलिए उस दशा का नाम 'गर्भ' हो गया। जीवन का अन्तिम छोर जैसे मौत है, वैसे

उसका आदि छोर गर्भ है। मौत के बाद क्या होगा—यह जैसे अज्ञात रहता है। वैसे ही गर्भ से पहले क्या था—यह अज्ञात रहता है। उन दोनों के बारे में विवाद है, गर्भ प्रत्यक्ष है, इसलिए यह निर्विवाद है।

मौत क्षण भर के लिए आती है। गर्भ महीनों तक चलता है। इसलिए जैसे मौत अन्तिम दशा का प्रतिनिधित्व करती है, वैसे गर्भ जीवन के प्रारम्भ का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं करता। इसीलिए प्रारम्भिक दशा का प्रतिनिधि शब्द और चुनना पड़ा। वह है—'जन्म'। 'जन्म' ठीक जीवन की आदि-रेखा का अर्थ देता है। जो प्राणी है, वह जन्म लेकर ही हमारे सामने आता है। जन्म की प्रणाली सब प्राणियों की एक नहीं है। भिन्न-भिन्न प्राणी भिन्न-भिन्न ढङ्ग से जन्म लेते हैं। एक बच्चा मां के पेट में जन्म लेता है और पौधा मिट्टी में। बच्चे की जन्म-प्रक्रिया पौधे की जन्म-प्रक्रिया से भिन्न है। बच्चा स्त्री और पुरुष के रज तथा वीर्य के संयोग से उत्पन्न होता है। पौधा बीज से पैदा हो जाता है। इस प्रक्रिया-भेद के आधार पर जैन-आगम जन्म के दो विभाग करते हैं—गर्भ और सम्मूर्छन। स्त्री-पुरुष के संयोग से होने वाले जन्म को गर्भ और उनके संयोग-निरपेक्ष जन्म को सम्मूर्छन कहा जाता है। साधारणतया उत्पत्ति और अभिव्यक्ति के लिए गर्भ शब्द का प्रयोग सब जीवों के लिए होता है। स्थानांग में बादलों के गर्भ बतलाए हैं[१]। किन्तु जन्म-भेद की प्रक्रिया के प्रसंग में 'गर्भ' का उक्त विशेष अर्थ में प्रयोग हुआ है। चैतन्य-विकास की दृष्टि से भी 'गर्भ' को विशेष अर्थ में रूढ करना आवश्यक है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और माता-पिता के संयोग-निपेक्ष जन्म वाले प्राणी वर्गों में मानसिक-विकास नहीं होता। माता-पिता के संयोग से जन्म-पाने वाले जीवों में मानसिक-विकास होता है। इस दृष्टि से समनस्क जीवों की जन्म-प्रक्रिया 'गर्भ' और समनस्क जीवों की जन्म-प्रक्रिया 'सम्मूर्छन'—ऐसा विभाग करना आवश्यक था। जन्म-विभाग के आधार पर चैतन्य विकास का सिद्धान्त स्थिर होता है—गर्भज समनस्क और सम्मूर्छन अमनस्क।

गर्भज जीवों के मनुष्य और पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च (जलचर—मछली आदि, स्थलचर—बैल आदि, खेचर—कबूतर आदि, उरपरिसृप—सांप आदि भुजपरि

सृप—नेवला आदि) ये दो वर्ग हैं। मनुष्य गर्भज ही होते हैं[३]। तिर्यञ्च गर्भज भी होते हैं और सम्मूर्छनज भी।

मानुषी गर्भ के चार विकल्प हैं—स्त्री, पुरुष, नपुंसक और बिम्ब[४]। ओज की मात्रा अधिक वीर्य की मात्रा अल्प तब स्त्री होती है। ओज अल्प और वीर्य अधिक तब पुरुष होता है। दोनों के तुल्य होने पर नपुंसक होता है। वायु के दोष से ओज गर्भाशय में स्थिर हो जाता है, उसका नाम 'बिम्ब' है[५]। वह गर्भ नहीं, किन्तु गर्भ का आकार होता है। वह आर्त्तव की निर्जीव परिणति होती है। ये निर्जीव बिम्ब जैसे मनुष्य जाति में होते हैं, वैसे ही पशु-पक्षी जाति में भी होते हैं। निर्जीव अण्डे, जो आजकल प्रचुर मात्रा में पैदा किये जाते हैं, की यही प्रक्रिया हो सकती है।

गर्भाधान की कृत्रिम-पद्धति

गर्भाधान की स्वाभाविक पद्धति स्त्री-पुरुष का संयोग है। कृत्रिम रीति से भी गर्भाधान हो सकता है। 'स्थानांग' में उसके पांच कारण बतलाए हैं[६]। उन सब का सार कृत्रिम रीति से वीर्य-प्रक्षेप है। गर्भाधान के लिए मुख्य शर्त वीर्य और आर्त्तव के संयोग की है। उसकी विधि स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों प्रकार की हो सकती है।

गर्भ की स्थिति

तिर्यञ्च की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट आठ वर्ष की है[७]। मनुष्य की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट बारह वर्ष की है[८]। काय-भवस्थ की गर्भ-स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट चौबीस वर्ष की है[९]। गर्भ में बारह वर्ष बिता मर जाता है और वही फिर जन्म ले और बारह वर्ष वहाँ रहता है—इस प्रकार काय-भवस्थ अधिक से अधिक चौबीस वर्ष तक गर्भ में रह जाता है[१०]।

योनिभूत वीर्य की स्थिति जघन्य अन्तर्-मुहूर्त्त और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त की होती है।

गर्भ संख्या

एक स्त्री के गर्भ में एक-दो यावत् नौ लाख तक जीव उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु वे सब निष्पन्न नहीं होते। अधिकांश निष्पन्न हुए बिना ही मर जाते हैं[११]।

गर्भ-प्रवेश की स्थिति

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्! जीव गर्भ में प्रवेश करते समय स-इन्द्रिय होता है अथवा अन्-इन्द्रिय ?

भगवान् बोले—गौतम ! स इन्द्रिय भी होता है और अन्-इन्द्रिय भी।

गौतम ने फिर पूछा—यह कैसे भगवन् ?

भगवान् ने उत्तर दिया—द्रव्य-इन्द्रिय की अपेक्षा वह अन्-इन्द्रिय होता है और भाव-इन्द्रिय की अपेक्षा स-इन्द्रिय[१२]।

इसी प्रकार दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने बताया—गर्भ में प्रवेश करते समय जीव स्थूल-शरीर (औदारिक, वैक्रिय, आहारक) की अपेक्षा अ-शरीर और सूक्ष्म-शरीर (तैजस, कार्मण) की अपेक्षा स-शरीर होता है[१३]।

गर्भ में प्रवेश पाते समय जीव का पहला आहार ओज और वीर्य होता है। गर्भ-प्रविष्ट जीव का आहार मां के आहार का ही सार-अंश होता है। उसके कवल-आहार नहीं होता। वह समूचे शरीर से आहार लेता है और समूचे शरीर से परिणत करता है। उसके उच्छ्वास निःश्वास भी सर्वात्मना होते हैं। उसके आहार, परिणमन, उच्छ्वास-निःश्वास बार बार होते हैं[१४]।

बाहरी स्थिति का प्रभाव

गर्भ में रहे हुए जीव पर बाहरी स्थिति का आश्चर्यकारी प्रभाव होता है। किसी-किसी गर्भ-गत जीव में वैक्रिय-शक्ति (विविध रूप बनाने की सामर्थ्य) होती है। वह शत्रु-सैन्य को देखकर विविध रूप बना उससे लड़ता है। उसमें अर्थ, राज्य, भोग और काम की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है। कोई-कोई धार्मिक प्रवचन सुन विरक्त बन जाता है। उसका धर्मानुराग तीव्र हो जाता है[१५]।

एक तीसरे प्रकार का जन्म है। उसका नाम है—उपपात। स्वर्ग और नरक में उत्पन्न होने वाले जीव उपपात जन्म वाले होते हैं। वे निश्चित जन्म-कक्षों में उत्पन्न होते हैं और अन्तर्-मुहूर्त्त में युवा बन जाते हैं।

जन्म के प्रारम्भ में

तीन प्रकार से पैदा होने वाले प्राणी अपने जन्म स्थानों में आते ही सबसे पहले आहार लेते हैं[१६]। वे स्व—प्रायोग्य पुद्गलों का आकर्षण और संग्रह

करते हैं। सम्मूर्च्छनज प्राणी उत्पत्ति-क्षेत्र के पुद्गलों का आहार करते हैं। गर्भज प्राणी का प्रथम आहार रज-वीर्य के अणुओं का होता है। देवता अपने-अपने स्थान के पुद्गलों का संग्रह करते हैं। इसके अनन्तर ही उत्पन्न प्राणी पौद्गलिक शक्तियों का क्रमिक निर्माण करते हैं। वे छह हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन। इन्हें पर्याप्ति कहते हैं। कम से कम चार पर्याप्तियां प्रत्येक प्राणी में होती हैं।

जन्म

१—लोगस्सय सासयं भावं, संसारस्सय अणादिभावं, जीवस्सय णि च भावं, कम्म बहुत्तं, जम्मणमरण बाहुल्लं, च पडु च नत्थि केइ परमाणुपोग्गल मेत्ते वि पएसे जत्थणं अयं जीवे न जाए वा न। मएवावि से तेणट्टेणं तं चेव जाव न मए वावि··· [—भग० १२।७]

२—असइं वा अणंतखुत्तो······ —भग०

३—न सा जाई न सा जोणी, न तं ठाणं न तं कुलं।
ण जाया ण मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणंतसो—

लोक शाश्वत है, संसार अनादि है, जीव नित्य है। कर्म की बहुलता है, जन्म-मृत्यु की बहुलता है, इसीलिए एक परमाणु मात्र भी लोक में ऐसा स्थान नहीं, जहाँ जीव न जन्मा हो और न मरा हो।

ऐसी जाति, योनि, स्थान या कुल नहीं, जहाँ जीव अनेक बार या अनन्त बार जन्म धारण न कर चुके हों।

जब तक आत्मा कर्म-मुक्त नहीं होती, तब तक उसकी जन्म-मरण की परम्परा नहीं रुकती। मृत्यु के बाद जन्म निश्चित है। जन्म का अर्थ है उत्पन्न होना। सब जीवों का उत्पत्ति-क्रम एकसा नहीं होता। अनेक जातियां हैं, अनेक योनियां हैं और अनेक कुल हैं। प्रत्येक प्राणी के उत्पत्ति-स्थान में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का कुछ न कुछ तारतम्य होता ही है। फिर भी उत्पत्ति की प्रक्रियाएं अनेक नहीं हैं। सब प्राणी तीन प्रकार से उत्पन्न होते हैं। अतएव जन्म के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात। जिनका उत्पत्ति स्थान नियत नहीं होता और जो गर्भ धारण नहीं करते, उन जीवों की उत्पत्ति को 'सम्मूर्च्छन' कहते हैं। कई चतुरिन्द्रिय तक के

सब जीव सम्मूर्च्छन जन्म वाले होते हैं। कई तिर्यञ्च—पञ्चेन्द्रिय तथा मनुष्य के मल, मूत्र, श्लेष्म आदि चौदह स्थानों में उत्पन्न होने वाले पञ्चेन्द्रिय मनुष्य भी सम्मूर्च्छनज होते हैं। स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य से जिनकी उत्पत्ति होती है, उनके जन्म का नाम 'गर्भ' है। अण्डज, पोतज और जरायुज पञ्चेन्द्रिय प्राणी गर्भज होते हैं। जिनका उत्पत्ति-स्थान नियत होता है, उनका जन्म 'उपपात' कहलाता है। देव और नारक उपपात जन्मा होते हैं। नारकों के लिए कुम्भी (छोटे मुंह की कुण्डें) और देवता के लिए शय्याएँ नियत होती हैं। प्राणी सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के शरीर में उत्पन्न होते हैं।

प्राण और पर्याप्ति

आहार, चिन्तन, जल्पन आदि सब क्रियाएं प्राण और पर्याप्ति—इन दोनों के सहयोग से होती हैं। जैसे—बोलने में प्राणी का आत्मीय प्रयत्न होता है, वह प्राण है। उस प्रयत्न के अनुसार जो शक्ति भाषा-योग्य पुद्गलों का संग्रह करती है, वह भाषा-पर्याप्ति है। आहार-पर्याप्ति और आयुष्य-प्राण, शरीर पर्याप्ति और काय-प्राण, इन्द्रिय-पर्याप्ति और इन्द्रिय-प्राण, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास-प्राण, भाषा-पर्याप्ति और भाषा-प्राण, मन-पर्याप्ति और मन-प्राण, ये परस्पर सापेक्ष हैं। इससे हमें यह निश्चिय होता है कि प्राणियों की शरीर के माध्यम से होने वाली जितनी क्रियाएं हैं, वे सब आत्म-शक्ति और पौद्गलिक शक्ति दोनों के पारस्परिक सहयोग से ही होती हैं।

प्राण-शक्ति

प्राणी का जीवन प्राण-शक्ति पर अवलम्बित रहता है। प्राण शक्तियां दस हैं :—

(१) स्पर्शन-इन्द्रिय-प्राण।
(२) रसन ” ”
(३) घ्राण ” ”
(४) चक्षु ” ”
(५) श्रोत्र ” ”

(६) मन-प्राण

(७) वचन-प्राण

(८) काय-प्राण

(९) श्वासोच्छ्वास-प्राण

(१०) आयुष्य-प्राण

प्राण शक्तियां सब जीवों में समान नहीं होतीं। फिर भी कम से कम चार तो प्रत्येक प्राणी में होती ही हैं।

शरीर, श्वास-उच्छ्वास, आयुष्य और स्पर्शन इन्द्रिय, इन जीवन-शक्तियों में जीवन का मौलिक आधार है। प्राण-शक्ति और पर्याप्ति का कार्य-कारण सम्बन्ध है। जीवन-शक्ति को पौद्गलिक शक्ति की अपेक्षा रहती है। जन्म के पहले क्षण में प्राणी कई पौद्गलिक शक्तियों की रचना करता है। उनके द्वारा स्वयोग्य पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और उत्सर्जन होता है। उनकी रचना प्राण-शक्ति के अनुपात पर होती है। जिस प्राणी में जितनी प्राण-शक्ति की योग्यता होती है, वह उतनी ही पर्याप्तियों का निर्माण कर सकता है। पर्याप्ति-रचना में प्राणी को अन्तर्-मुहूर्त्त का समय लगता है। यद्यपि उनकी रचना प्रथम क्षण में ही प्रारम्भ हो जाती है पर आहार-पर्याप्ति के सिवाय शेष सबों की समाप्ति अन्तर्-मुहूर्त से पहले नहीं होती। स्वयोग्य पर्याप्तियों की परि-समाप्ति न होने तक जीव अपर्याप्त कहलाते हैं और उसके बाद पर्याप्त। उनकी समाप्ति से पूर्व ही जिनकी मृत्यु हो जाती है, वे अपर्याप्त कहलाते हैं। यहाँ इतना-सा जानना आवश्यक है कि आहार, शरीर और इन्द्रिय—इन तीन पर्याप्तियों की पूर्ण रचना किए बिना कोई प्राणी नहीं मरता।

जीवों के १४ भेद और उनका आधार

जीवों के निम्नोक्त १४ भेद हैं :—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
बादर एकेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
द्वीन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
त्रीन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
चतुरिन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त

असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त
संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के दो भेद	अपर्याप्त और पर्याप्त

पर्याप्त और अपर्याप्त की संक्षिप्त चर्चा करने के बाद अब हमें यह देखना चाहिए कि जीवों के चौदह भेदों का मूल आधार क्या है? पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों जीवों की अवस्थाएँ हैं। जीवों को जो श्रेणियां की गई हैं उन्हीं के आधार पर ये चवदह भेद बनते हैं। इनमें एकेन्द्रिय जीवों के सिवाय सूक्ष्म और बादर ऐसा भेद-करण और किसी का नहीं है। क्योंकि एकेन्द्रिय के सिवाय और कोई जीव सूक्ष्म नहीं होते। सूक्ष्म की कोटि में हम उन जीवों को परिगणित करते हैं, जो समूचे लोक में जमे हुए होते हैं, जिन्हें अग्नि जला नहीं सकती; तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्र छेद नहीं सकते, जो अपनी आयु से जीते हैं और अपनी मौत से मरते हैं, और जो इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जाते[१७]। प्राचीन शास्त्रों में "सर्व जीवमयं जगत्" इस सिद्धान्त की स्थापना हुई है वह इन्हीं जीवों को ध्यान में रखकर हुई है। कई भारतीय दार्शनिक परम ब्रह्म को जगत् व्यापक मानते हैं कई आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं और जैन-दृष्टि के अनुसार इन सूक्ष्म जीवों से समूचा लोक व्याप्त है। सबका तात्पर्य यही है कि चेतन-सत्ता लोक के सब भागों में है। कई कृमि, कीट, सूक्ष्म कहे जाते हैं किन्तु वस्तुतः वे बादर-स्थूल हैं। वे आंखों से देखे जा सकते हैं। साधारणतया न देखें जाएं तो सूक्ष्म दर्शक-यन्त्रों से देखे जा सकते हैं। अतएव उनमें सूक्ष्म जीवों की कोई श्रेणि नहीं। बादर एकेन्द्रिय के एक जीव का एक शरीर हमारी दृष्टि का विषय नहीं बनता। हमें जो एकेन्द्रिय शरीर दीखते हैं, वे असंख्य जीवों के, असंख्य शरीरों के पिण्ड होते हैं। सचित्त मिट्टी का एक छोटा-सा रज-कण पानी की एक बून्द या अग्नि की एक चिनगारी[१८]— वे एक जीव के शरीर नहीं हैं। इनमें से प्रत्येक में अपनी-अपनी जाति के असंख्य जीव होते हैं और उनके असंख्य शरीर पिण्डीभूत हुए रहते हैं। तथा उस दशा में दृष्टि के विषय भी बनते हैं। इसलिए वे बादर हैं। साधारण वनस्पति के एक, दो, तीन या चार जीवों का शरीर नहीं दीखता क्योंकि उनमें से एक-एक जीव में शरीर-निष्पादन की शक्ति नहीं होती। वे अनन्त जीव मिलकर एक शरीर का निर्माण करते हैं। इसलिए अनन्त जीवों के शरीर

स्थूल परिणतिमान होने के कारण दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय के सूक्ष्म—अपर्याप्त और पर्याप्त, बादर-अपर्याप्त और पर्याप्त—ये चार भेद होते हैं। इसके बाद चतुरिन्द्रिय तक के सब जीवों के दो-दो भेद होते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों के चार विभाग हैं। जैसे एकेन्द्रिय जीवों की सूक्ष्म और बादर—ये दो प्रमुख श्रेणियां हैं, वैसे पंचेन्द्रियजीव समनस्क और अमनस्क—इन दो भागों में बंटे हुए हैं। चार-इन्द्रिय तक के सब जीव अमनस्क होते हैं। इसलिए मन की लब्धि या अनुपलब्धि के आधार पर उनका कोई विभाजन नहीं होता। सम्मूर्च्छनज पंचेन्द्रिय जीवों के मन नहीं होता। गर्भज और उपपातज पंचेन्द्रिय जीव समनस्क होते हैं। अतएव असंज्ञी-पंचेन्द्रिय-अपर्याप्त और पर्याप्त, संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त और पर्याप्त—ये चार भेद होते हैं। संसार के प्राणी मात्र इन चौदह वर्गों में समा जाते हैं। इस वर्गीकरण से हमें जीवों के क्रमिक विकास का भी पता चलता है। एक इन्द्रिय वाले जीवों से दो इन्द्रिय वाले जीव, द्वीन्द्रिय से तीन इन्द्रिय वाले जीव—यों क्रमशः पूर्व श्रेणी के जीवों से उत्तर श्रेणी के जीव अधिक विकसित हैं।

इन्द्रिय ज्ञान और पांच जातियां

इन्द्रिय-ज्ञान परोक्ष है। इसीलिए परोक्ष-ज्ञानी को पौद्गलिक इन्द्रियों की अपेक्षा रहती है। किसी मनुष्य की आंख फूट जाती है, फिर भी वह चतुरिन्द्रिय नहीं होता। उसकी दर्शन-शक्ति कहीं नहीं जाती किन्तु आंख के अभाव में उसका उपयोग नहीं होता। आंख में विकार होता है, दीखना बन्द हो जाता है। उसकी उचित चिकित्सा हुई, दर्शन-शक्ति खुल जाती है। यह पौद्गलिक इन्द्रिय (चक्षु) के सहयोग का परिणाम है। कई प्राणियों में सहायक इन्द्रियों के बिना भी उसके ज्ञान का आभास मिलता है, किन्तु वह उनके होने पर जितना स्पष्ट होता है, उतना स्पष्ट उनके अभाव में नहीं होता। वनस्पति में रसन आदि पाँचों इन्द्रियों के चिह्न मिलते हैं[११]। उनमें भावेन्द्रिय का पूर्ण विकास और सहायक इन्द्रिय का सद्भाव नहीं होता, इसलिए वे एकेन्द्रिय ही कहलाते हैं। उक्त विवेचन से दो निष्कर्ष निकलते हैं। पहला यह कि इन्द्रिय ज्ञान चेतन-इन्द्रिय और जड़-इन्द्रिय दोनों के सहयोग से होता है। फिर भी जहाँ तक ज्ञान का सम्बन्ध है—उसमें चेतन-इन्द्रिय

की प्रधानता है। दूसरा निष्कर्ष यह है कि प्राणियों की एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय—ये पांच जातियां बनने में दोनों प्रकार की इन्द्रियां कारण हैं। फिर भी यहाँ द्रव्येन्द्रिय की प्रमुखता है [२०]। एकेन्द्रिय में अतिरिक्त भावेन्द्रिय के चिह्न मिलने पर भी वे शेष बाह्य इन्द्रियों के अभाव में पञ्चेन्द्रिय नहीं कहलाते [२१]।

मानस-ज्ञान और संज्ञी-असंज्ञी

इन्द्रिय के बाद मन का स्थान है। यह भी परोक्ष है। पौद्‌गलिक मन के बिना इसका उपयोग नहीं होता। इन्द्रिय ज्ञान से इसका स्थान ऊंचा है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना विषय नियत होता है, मन का विषय अनियत। वह सब विषयों को ग्रहण करता है। इन्द्रिय ज्ञान वार्तमानिक होता है, मानस ज्ञान त्रैकालिक। इन्द्रिय-ज्ञान में तर्क, वितर्क नहीं होता। मानस ज्ञान आलोचनात्मक होता है [२२]।

मानस प्रवृत्ति का प्रमुख साधन मस्तिष्क है। कान का पर्दा फट जाने पर कर्णेन्द्रिय का उपयोग नहीं होता, वैसे ही मस्तिष्क की विकृति हो जाने पर मानस शक्ति का उपयोग नहीं होता। मानस ज्ञान गर्भज और उपपातज पंचेन्द्रिय प्राणियों के ही होता है। इसलिए उसके द्वारा प्राणी दो भागों में बंट जाते हैं—संज्ञी और असंज्ञी या समनस्क और अमनस्क। द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों में आत्म-रक्षा की भावना, इष्ट-प्रवृत्ति, अनिष्ट निवृत्ति, आहार भय आदि संज्ञाएँ, संकुचन, प्रसरण, शब्द, पलायन, आगति, गति, आदि-चेष्टाएं होती हैं—ये मन के कार्य हैं। तब फिर वे असंज्ञी क्यों? बात सही है। इष्ट प्रवृत्ति और अनिष्ट निवृत्ति का संज्ञान मानस ज्ञान की परिधि का है, फिर भी वह सामान्य है—नगण्य है, इसलिए उससे कोई प्राणी संज्ञी नहीं बनता। एक कौड़ी भी धन है पर उससे कोई धनी नहीं कहलाता। संज्ञी वही होते हैं—जिनमें दीर्घकालिकी संज्ञा मिले, जो भूत, वर्तमान और भविष्य की ज्ञान-शृङ्खला को जोड़ सके [२३]।

इन्द्रिय और मन

पूर्व पंक्तियों में इन्द्रिय और मन का संक्षिप्त विश्लेषण किया। उससे इन्हीं का स्वरूप स्पष्ट होता है। संज्ञी और असंज्ञी के इन्द्रिय और मन का

क्रम स्पष्ट नहीं होता। असंज्ञी और संज्ञी के इन्द्रिय ज्ञान में कुछ तरतम रहता है या नहीं? मन से उसका कुछ सम्बन्ध है या नहीं? इसे स्पष्ट करना चाहिए। असंज्ञी के केवल इन्द्रिय ज्ञान होता है, संज्ञी के इन्द्रिय और मानस दोनों ज्ञान होते हैं। इन्द्रिय ज्ञान की सीमा दोनों के लिए एक है। एक किसी रंग को देखकर संज्ञी और असंज्ञी दोनों चक्षु के द्वारा सिर्फ इतना ही जानेंगे कि यह रंग है। इन्द्रिय ज्ञान में भी अपार तरतम होता है। एक प्राणी चक्षु के द्वारा जिसे स्पष्ट जानता है, दूसरा उसे बहुत स्पष्ट जान सकता है। फिर भी अमुक रंग है, इससे आगे नहीं जाना जा सकता। उसे देखने के पश्चात् यह ऐसा क्यों? इससे क्या लाभ? यह स्थायी है या अस्थायी? कैसे बना? आदि-आदि प्रश्न या जिज्ञासाएं मन का कार्य है। असंज्ञी के ऐसी जिज्ञासाएं नहीं होतीं। उनका सम्बन्ध अप्रत्यक्ष धर्मों से होता है। इन्द्रिय ज्ञान में प्रत्यक्ष धर्म से एक सूत भी आगे बढ़ने की क्षमता नहीं होती। संज्ञी जीवों में इन्द्रिय और मन दोनों का उपयोग होता है। मन-इन्द्रिय ज्ञान का सहचारी भी होता है और उसके बाद भी इन्द्रिय द्वारा जाने हुए पदार्थ की विविध-अवस्थाओं को जानता है। मन का मनन या चिन्तन स्वतन्त्र हो सकता है किन्तु बाह्य विषयों का पर्यालोचन इन्द्रिय द्वारा उनका ग्रहण होने के बाद ही होता है, इसलिए संज्ञी ज्ञान में इन दोनों का गहरा सम्बन्ध है।

जाति-स्मृति

पूर्वजन्म की स्मृति (जाति-स्मृति) 'मति' का ही एक विशेष प्रकार है। इससे पिछले नौ समनस्क जीवन की घटनावलियां जानी जा सकती हैं। पूर्व जन्म में घटित घटना के समान घटना घटने पर वह पूर्व परिचित-सी लगती है। ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने से चित्त की एकाग्रता और शुद्धि होने पर पूर्व जन्म की स्मृति उत्पन्न होती है। सब समनस्क जीवों को पूर्व-जन्म की स्मृति नहीं होती—इसकी कारण मीमांसा करते हुए एक आचार्य ने लिखा है—

"जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो।
तेण दुक्खेण संमूढो, जाइं सरइ न अप्पणो" ॥

—व्यक्ति 'मृत्यु' और 'जन्म' की वेदना से सम्मूढ़ हो जाता है; इसलिए साधारणतया उसे जाति की स्मृति नहीं होती। एक ही जीवन में दुःख-व्यग्रदशा (सम्मोह-दशा) में स्मृति-भ्रंश हो जाता है, तब वैसी स्थिति में पूर्व-जन्म की स्मृति लुप्त हो जाए, उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पूर्व जन्म के स्मृति-साधन मस्तिष्क आदि नहीं होते, फिर भी आत्मा के दृढ़-संस्कार और ज्ञान-बल से उसकी स्मृति हो आती है। इसीलिए ज्ञान दो प्रकार का बतलाया है—इस जन्म का ज्ञान और अगले जन्म का ज्ञान [२४]।

अतीन्द्रियज्ञान-योगीज्ञान

अतीन्द्रिय ज्ञान इन्द्रिय और मन दोनों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह प्रत्यक्ष है, इसलिए इसे पौद्गलिक साधनों—शारीरिक अवयवों के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती। वह 'आत्ममात्रापेक्ष' होता है। हम जो त्वचा से छूते हैं, कानों से सुनते हैं, आँखों से देखते हैं, जीभ से चखते हैं, वह वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं। हमारा ज्ञान शरीर के विभिन्न अवयवों से सम्बन्धित होता है, इसलिए उसकी नैश्चयिक सत्य [निरपेक्ष सत्य] तक पहुँच नहीं होती। उसका विषय केवल व्यावहारिक सत्य [सापेक्ष सत्य] होता है। उदाहरण के लिए स्पर्शन-इन्द्रिय को लीजिए। हमारे शरीर का सामान्य तापमान ९७ या ९८ डिग्री होता है। उससे कम तापमान वाली वस्तु हमारे लिए ठंडी होगी। जिसका तापमान हमारी उष्मा से अधिक होगा, वह हमारे लिए गर्म होगी। हमारा यह ज्ञान स्वस्थिति स्पर्शी होगा, वस्तु-स्थिति-स्पर्शी नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द और संस्थान [वृत्त, परिमंडल, त्र्यंस, चतुरंश] का ज्ञान सहायक-सामग्री-सापेक्ष होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान परिस्थिति की अपेक्षा से मुक्त होता है। उसकी ज्ञप्ति में देश, काल और परिस्थिति का व्यवधान या विपर्यास नहीं आता। इसलिए उससे वस्तु के मौलिक रूप की सही-सही जानकारी मिलती है।

इक्कीस

अनादि-अनन्त

विश्व-स्थिति के मूल सूत्र

विकास और ह्रास

विकास और ह्रास के कारण

प्राणी-विभाग

उत्पत्ति-स्थान

स्थावर जगत्

संघीय जीवन

साधारण वनस्पति जीवों का परिमाण

प्रत्येक वनस्पति

प्रत्येक वनस्पति जीवों का परिमाण

क्रम-विकासवाद के मूलसूत्र

शारीरिक परिवर्तन का ह्रास या उल्टा क्रम

प्रभाव के निमित्त

अनादि-अनन्त

जीवन-प्रवाह के बारे में अनेक धारणाएं हैं। बहुत सारे इसे अनादि-अनन्त मानते हैं तो बहुत सारे सादि-सान्त। जीवन-प्रवाह को अनादि-अनन्त मानने वालों को उसकी उत्पत्ति पर विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। चैतन्य कब, कैसे और किससे उत्पन्न हुआ, ये समस्याएं उन्हें सताती हैं—जो असत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। 'उपादान' की मर्यादा को स्वीकार करने वाले असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं मान सकते। नियामकता की दृष्टि से ऐसा होना भी नहीं चाहिए। अन्यथा समझ से परे की अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

जैन-दृष्टि के अनुसार यह जगत् अनादि-अनन्त है। इसकी मात्रा न घटती है, न बढ़ती है, केवल रूपान्तर होता है [1]।

विश्वस्थिति के मूल सूत्र

विश्वस्थिति की आधारभूत दस बातें हैं[2]—

(१) पुनर्जन्म—जीव मरकर पुनरपि बार-बार जन्म लेते हैं।

(२) कर्मबन्ध—जीव सदा (प्रवाहरूपेण अनादिकाल से) कर्म बांधते हैं।

(३) मोहनीय-कर्मबन्ध—जीव सदा (प्रवाह रूपेण अनादि काल से) निरन्तर मोहनीय कर्म बांधते हैं।

(४) जीव-अजीव का अत्यन्ताभाव—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए।

(५) त्रस-स्थावर-अविच्छेद—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि सभी त्रस जीव स्थावर बन जाएं या सभी स्थावर जीव त्रस बन जाएं या सभी जीव केवल त्रस या केवल स्थावर हो जाएं।

(६) लोकालोक-पृथक्त्व—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक हो जाए और अलोक लोक हो जाए।

(७) लोकालोक-अन्योन्याऽप्रवेश—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक में प्रवेश करे और अलोक लोक में प्रवेश करे।

(८) लोक और जीवों का आधार-आधेय-सम्बन्ध—जितने क्षेत्र का नाम लोक है, उतने क्षेत्र में जीव है और जितने क्षेत्र में जीव है, उतने क्षेत्र का नाम लोक है।

(९) लोक-मर्यादा—जितने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं, उतना क्षेत्र 'लोक' है और जितना क्षेत्र 'लोक' है उतने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं।

(१०) अलोक-गति-कारणाभाव—लोक के सब अन्तिम भागों में आबद्ध पार्श्व-स्पृष्ट पुद्गल हैं। लोकान्त के पुद्गल स्वभाव से ही रूखे होते हैं। वे गति में सहायता करने की स्थिति में संघटित नहीं हो सकते। उनकी सहायता के बिना जीव अलोक में गति नहीं कर सकते।

विकास और ह्रास

विकास और ह्रास—ये भी परिवर्तन के मुख्य पहलू हैं। एकान्तनित्य-स्थिति में न विकास हो सकता है और न ह्रास। किन्तु जहाँ परिणामी-नित्यत्व की स्थिति है, वहाँ ये दोनों अवश्य होंगे। डार्विन के मतानुसार यह विश्व क्रमशः विकास की ओर बढ़ रहा है। जैन-दृष्टि इसे स्वीकार नहीं करती। विकास और ह्रास जीव और पुद्गल—इन दो द्रव्यों में होता है। जीव का अन्तिम विकास है—मुक्त-दशा। यहाँ पहुँचने पर फिर ह्रास नहीं होता। इससे पहले आध्यात्मिक क्रम-विकास की जो चौदह भूमिकाएं हैं, उनमें आठवीं (क्षपक-श्रेणी) भूमिका पर पहुँचने के बाद मुक्त बनने से पहले क्षण तक क्रमिक विकास होता है। इससे पहले विकास और ह्रास—ये दोनों चलते हैं। कभी ह्रास से विकास और कभी विकास से ह्रास होता रहता है। विकास-दशाएं ये हैं :—

(१) अव्यवहार राशि······साधारण-वनस्पति

(२) व्यवहार राशि·········प्रत्येक-वनस्पति

(क) एकेन्द्रिय······साधारण-वनस्पति, प्रत्येक-वनस्पति, पृथ्वी, पानी, तेजस्, वायु।

(ख) द्वीन्द्रिय.........

(ग) त्रीन्द्रिय.........

(घ) चतुरिन्द्रिय......

(ङ) पंचेन्द्रिय......अमनस्क, समनस्क

प्रत्येक प्राणी इन सबको क्रमशः पार करके आगे बढ़ता है, यह बात नहीं। इनका उत्क्रमण भी होता है। यह प्राणियों की योग्यता का क्रम है, उत्क्रान्ति का क्रम नहीं। उत्क्रमण और अपक्रमण जीवों की आध्यात्मिक योग्यता और सहयोगी परिस्थितियों के समन्वय पर निर्भर है।

दार्शनिकों का 'ध्येयवाद' भविष्य को प्रेरक मानता है और वैज्ञानिकों का 'विकासवाद' अतीत को। ध्येय की ओर बढ़ने से जीव का आध्यात्मिक विकास होता है—ऐसी कुछ दार्शनिकों की मान्यता है। किन्तु ये दार्शनिक विचार भी बाह्य प्रेरणा है। आत्मा स्वतः स्फूर्त है। वह ध्येय की ओर बढ़ने के लिए बाध्य नहीं, स्वतन्त्र है। ध्येय को उचित रीति से समझ लेने के बाद वह उसकी ओर बढ़ने का प्रयत्न कर सकती है। उचित सामग्री मिलने पर वह प्रयत्न सफल भी हो सकता है। किन्तु 'ध्येय की ओर प्रगति' यह सर्व सामान्य नियम नहीं है। यह काल, स्वभाव, नियति, उद्योग आदि विशेषसामग्री-सापेक्ष है।

वैज्ञानिक विकासवाद बाह्य स्थितियों का आकलन है। अतीत की अपेक्षा विकास की परम्परा आगे बढ़ती है, यह निश्चित सत्य नहीं है। किन्हीं का विकास हुआ है तो किन्हीं का ह्रास भी हुआ है। अतीत ने नई आकृतियों की परम्परा को आगे बढ़ाया है, तो वर्तमान ने पुराने रूपों को अपनी गोद में समेटा भी है। इसलिए अकेले अवसर की दी हुई अधिक स्वतन्त्रता मान्य नहीं हो सकती। विकास बाह्य परिस्थिति द्वारा परिचालित हो—आत्मा अपने से बाहर वाली शक्ति से परिचालित हो तो वह स्वतन्त्र नहीं हो सकती। परिस्थिति का दास बनकर आत्मा कभी अपना विकास नहीं साध सकता।

पुद्गल की शक्तियों का विकास और ह्रास—ये दोनों सदा चलते हैं। इनके विकास या ह्रास का निरवधिक चरम रूप नहीं है [१]। शक्ति की दृष्टि से एक

पौद्गलिक स्कन्ध में अनन्त गुण तारतम्य हो जाता है। आकार-रचना की दृष्टि से एक-एक परमाणु मिलकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध बन जाता है और फिर वे बिखर कर एक-एक परमाणु बन जाते हैं।

पुद्गल अचेतन है, इसलिए उसका विकास या ह्रास चैतन्य-प्रेरित नहीं होता। जीव के विकास या ह्रास की यह विशेषता है। उसमें चैतन्य होता है, इसलिए उसके विकास ह्रास में बाहरी प्रेरणा के अतिरिक्त आन्तरिक प्रेरणा भी होती है।

जीव (चैतन्य) और शरीर का लोलीभूत संश्लेष होता है, इसलिए आन्तरिक प्रेरणा के दो रूप बन जाते हैं—(१) आत्म-जनित
(२) शरीर-जनित

आत्म-जनित आन्तरिक प्रेरणा से आध्यात्मिक विकास होता है और शरीर-जनित से शारीरिक विकास।

शरीर पाँच हैं [४]। उनमें दो सूक्ष्म हैं और तीन स्थूल। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का प्रेरक होता है। इसकी वर्गणाएं शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की होती हैं [५]। शुभ वर्गणाओं के उदय से पौद्गलिक या शारीरिक विकास होता है और अशुभ वर्गणाओं के उदय से आत्म-चेतना का ह्रास, आवरण और शारीरिक स्थिति का भी ह्रास होता है।

जैन-दृष्टि के अनुसार चेतना और अचेतन-पुद्गल-संयोगात्मक सृष्टि का विकास क्रमिक ही होता है, ऐसा नहीं है।

विकास और ह्रास के कारण

विकास और ह्रास का मुख्य कारण है आन्तरिक प्रेरणा या आन्तरिक-स्थिति या आन्तरिक योग्यता और सहायक कारण है बाहरी स्थिति। डार्विन का सिद्धान्त बाहरीस्थिति को अनुचित महत्त्व देता है। बाहरी स्थितियां केवल आन्तरिक वृत्तियों को जगाती हैं, उनका नये सिरे से निर्माण नहीं करती। चेतन में योग्यता होती है, वही बाहरी स्थिति का सहारा पा विकसित हो जाती है।

(१) अन्तरंग योग्यता और बहिरंग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न होता है।
(२) अन्तरंग अयोग्यता और बहिरंग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता।

(३) अन्तरंग योग्यता और बहिरंग प्रतिकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता।
(४) अन्तरंग अयोग्यता और बहिरंग प्रतिकूलता—,, ,, ,, ,,

प्रत्येक प्राणी में दस संज्ञाएँ और जीवन-सुख की आकांक्षाएँ होती हैं [१]। तीन एषणायें भी होती हैं—

(१) प्राणैषणा—मैं जीवित रहूँ।
(२) पुत्रैषणा—मेरी सन्तति चले।
(३) वित्तैषणा—मैं धनी बनूं।

अर्थ और काम की इस आन्तरिक प्रेरणा तथा भूख, प्यास, ठंडक, गर्मी आदि-आदि बाहरी स्थितियों के प्रहार से प्राणी की बहिर्मुखी वृत्तियों का विकास होता है। यह एक जीवन-गत-विकास की स्थिति है। विकास का प्रवाह भी चलता है। एक पीढ़ी का विकास दूसरी पीढ़ी को अनायास मिल जाता है। किन्तु उद्‌भिद्-जगत् से लेकर मनुष्य-जगत् तक जो विकास है, वह पहली पीढ़ी के विकास की देन नहीं है। यह व्यक्ति-विकास की स्वतन्त्र गति है। उद्‌भिद्-जगत् से भिन्न जातियां उसकी शाखाएं नहीं किन्तु स्वतन्त्र हैं। उद्‌भिद् जाति का एक जीव पुनर्जन्म के माध्यम से मनुष्य बन सकता है। यह जातिगत विकास नहीं, व्यक्तिगत विकास है।

विकास होता है, इसमें दोनों विचार एक रेखा पर हैं। किन्तु दोनों की प्रक्रिया भिन्न है। डार्विन के मतानुसार विकास जाति का होता है और जैन दर्शन के अनुसार व्यक्ति का। डार्विन को आत्मा और कर्म की योग्यता ज्ञात होती तो उनका ध्यान केवल जाति, जो कि बाहरी वस्तु है, के विकास की ओर नहीं जाता। आन्तरिक योग्यता की कमी होने पर एक मनुष्य फिर से उद्‌भिद् जाति में जा सकता है, यह व्यक्तिगत ह्रास है।

प्राणी-विभाग

प्राणी दो प्रकार के होते हैं—चर और अचर। अचर प्राणी पांच प्रकार के होते हैं—पृथ्वी काय, अप् काय, तेजस् काय, वायु काय और वनस्पति काय। चर प्राणियों के आठ भेद होते हैं—(१) अण्डज (२) पोतज (३) जरायुज (४) रसज (५) संस्वेदज (६) सम्मूर्च्छिम, (७) उद्‌भिज्ज और (८) उपपातज।

(१) अण्डज—अण्डों से उत्पन्न होने वाले प्राणी अण्डज कहलाते हैं। जैसे—सांप, केंचुआ, मच्छ, कबूतर, हंस, काक, मोर आदि जन्तु।

(२) पोतज—जो जीव खुले अंग से उत्पन्न होते हैं, वे पोतज कहलाते हैं। जैसे—हाथी, नकुल, चूहा, बगुली आदि।

(३) जरायुज—जरायु एक तरह का जाल जैसा रक्त एवं मांस से लथड़ा हुआ आवरण होता है और जन्म के समय वह बच्चे के शरीर पर लिपटा हुआ रहता है, ऐसे जन्म वाले प्राणी जरायुज कहलाते हैं। जैसे—मनुष्य, गौ, भैंस, ऊंट, घोड़ा, मृग, सिंह, रींछ, कुत्ता, बिल्ली आदि-आदि।

(४) रसज—मद्य आदि में जो कृमि उत्पन्न होते हैं, वे रसज कहलाते हैं।

(५) संस्वेदज—संस्वेद में उत्पन्न होने वाले संस्वेदज कहलाते हैं। जैसे जूं आदि।

(६) सम्मूर्च्छिम—किसी संयोग की प्रधानतया अपेक्षा नहीं रखते हुए यत्र कुत्र जो उत्पन्न हो जाते हैं, वे सम्मूर्च्छिम हैं। जैसे—चींटी, मक्खी आदि

(७) उद्‌भिद्—भूमि को भेदकर निकलने वाले प्राणी उद्‌भिद् कहलाते हैं। जैसे—टिड्डी आदि।

(८) उपपातज—शैय्या एवं कुम्भी में उत्पन्न होने वाले उपपातज हैं। जैसे…देवता, नारकी आदि।

उत्पत्ति-स्थान

…"सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा, णाणाविहवुक्कमा सरीर जोणिया सरीर संभवा सरीर वुक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्मनियाणा कम्मगतीया, कम्मठीइया कम्मणा चेव विप्परियासमुवेंति।" —सूत्र० २।३।६२

…"सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्व नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं और वहीं स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वे शरीर से उत्पन्न होते हैं, शरीर में रहते हैं, शरीर में वृद्धि को प्राप्त करते हैं और शरीर का ही आहार करते हैं। वे कर्म के अनुगामी हैं। कर्म ही उनकी

उत्पत्ति, स्थिति और गति का आदि-कारण है। वे कर्म के प्रभाव से ही विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं……।"

प्राणियों के उत्पत्ति-स्थान ८४ लाख हैं और उनके कुल एक करोड़ साढ़े सत्तानवें लाख (१,९७,५०,०००) हैं। एक उत्पत्ति-स्थान में अनेक कुल होते हैं। जैसे गोबर एक ही योनि है और उसमें कृमि-कुल, कीट-कुल, वृश्चिक-कुल आदि अनेक कुल हैं।

स्थान	उत्पत्ति	कुल
१—पृथ्वीकाय	७ लाख	१२ लाख
२—अप्काय	७ ,,	७ ,,
३—तेजस्काय	७ ,,	३ ,,
४—वायुकाय	७ ,,	७ ,,
५—वनस्पतिकाय	२४ लाख	२८ ,,
६—द्वीन्द्रिय	२ ,,	७ ,,
७—त्रीन्द्रिय	२	८ ,,
८—चतुरिन्द्रिय	२ ,,	९ ,,
९—तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय	४ ,,	जलचर—१२॥ लाख
		खेचर—१२ ,,
		स्थलचर १० ,,
		उर-परिसर्प-१० ,,
		भुज-परिसर्प-९ ,,
१०—मनुष्य	१४ लाख	१२ लाख
११—नारकी	४ ,,	२५ ,,
१२—देव	,,४	२६ ,,

उत्पत्ति-स्थान एवं कुल-कोटि के अध्ययन से जाना जाता है कि प्राणियों की विविधता एवं भिन्नता का होना असम्भव नहीं।

स्थावर-जगत्

उक्त प्राणी विभाग जन्म-प्रक्रिया की दृष्टि से है…गति की दृष्टि से प्राणी दो भागों में विभक्त होते हैं। (१) स्थावर और (२) त्रस। त्रस जीवों में गति, आगति, भाषा, इच्छाव्यक्तिकरण आदि-आदि चैतन्य के स्पष्ट चिह्न प्रतीत होते हैं, इसलिए उनकी सचेतनता में कोई सन्देह नहीं होता। स्थावर जीवों में जीव के व्यावहारिक लक्षण स्पष्ट प्रतीत नहीं होते, इसलिए उनकी सजीवता चक्षुगम्य नहीं है। जैन सूत्र बताते हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—के पांचों स्थावर-काय सजीव हैं। इसका आधारभूत सिद्धान्त यह है—हमें जितने पुद्गल दीखते हैं, ये सब जीवशरीर या जीव-मुक्त शरीर हैं। जिन पुद्गल-स्कन्धों को जीव अपने शरीर रूप में परिणत कर लेते हैं, उन्हीं को हम देख सकते हैं, दूसरों को नहीं। पांच स्थावर के रूप में परिणत पुद्गल दृश्य हैं। इससे प्रमाणित होता है कि वे सजीव हैं। जिस प्रकार मनुष्य का शरीर उत्पत्तिकाल में सजीव ही होता है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी प्रारम्भ में सजीव ही होते हैं। जिस प्रकार स्वाभाविक अथवा प्रायोगिक मृत्यु से मनुष्य-शरीर निर्जीव या आत्म-रहित हो जाता है उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी स्वाभाविक या प्रायोगिक मृत्यु से निर्जीव बन जाते हैं। सिद्धान्त की भाषा में—

(१) पृथ्वी-मिट्टी…सचित्त—सजीव है।

(२) पानी……सचित्त है—तरलमात्र वस्तु सजीव होती है।

(३) अग्नि……सचित्त है—प्रकाश या ताप मात्र जीव संयोग से पैदा होता है।

(४) वायु……सचित्त है।

(५) वनस्पति…सचित्त है।

विरोधी शस्त्र या घातक पदार्थ द्वारा उपहत होने पर ये अचित्त-निर्जीव बन जाते हैं [७]। इनकी सजीवता का बोध कराने के लिए पूर्ववर्ती आचार्यों ने तुलनात्मक युक्तियां भी प्रस्तुत की हैं। जैसे—

(१) मनुष्य-शरीर में समान जातीय मांसांकुर पैदा होते हैं, वैसे ही पृथ्वी में भी समान जातीय अंकुर पैदा होते हैं, इसलिए वह सजीव है।

(२) अण्डे का प्रवाही रस सजीव होता है, पानी भी प्रवाही है, इसलिए सजीव है। गर्भकाल के प्रारम्भ में मनुष्य तरल होता है, वैसे ही पानी तरल है, इसलिए सजीव है। मूत्र आदि तरल पदार्थ शस्त्र-परिणत होते हैं, इसलिए वे निर्जीव होते हैं।

(३) जुगनू का प्रकाश और मनुष्य के शरीर में ज्वरावस्था में होने वाला जीव संयोगी है। वैसे ही अग्नि का प्रकाश और ताप जीव-संयोगी है। आहार के भाव और अभाव में होने वाली वृद्धि और हानि की अपेक्षा मनुष्य और अग्नि की समान स्थिति है। दोनों का जीवन वायु-सापेक्ष है। वायु के बिना मनुष्य नहीं जीता, वैसे अग्नि भी नहीं जीती। मनुष्य में जैसे प्राण वायु का ग्रहण और विषवायु का उत्सर्ग रहता है, वैसे अग्नि में भी होता है। इसलिए वह मनुष्य की भांति सजीव है। सूर्य का प्रकाश भी जीव-संयोगी है। सूर्य, 'आतप' नाम कर्मोदययुक्त पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर-पिण्ड है।

(४) वायु में व्यक्त-प्राणी की भांति अनियमित स्व-प्रेरित गति होती है। इससे उसकी सचेतनता का अनुमान किया जा सकता है। स्थूल-पुद्‌गल स्कन्धों में अनियमित गति पर-प्रेरणा से होती है, स्वयं नहीं।

ये चार जीव-निकाय हैं। इनमें से प्रत्येक में असंख्य-असंख्य जीव हैं। मिट्टी का एक छोटा-सा ढेला, पानी की एक बून्द, अग्नि का एक कण, वायु का एक सूक्ष्म भाग—ये सब असंख्य जीवों के असंख्य-शरीरों के पिण्ड हैं। इनके एक जीव का एक शरीर अति सूक्ष्म होता है, इसलिए वह दृष्टि का विषय नहीं, बनता। हम इनके पिण्डीभूत असंख्य शरीरों को ही देख सकते हैं।

(५) वनस्पति का चैतन्य पूर्ववर्ती निकायों से स्पष्ट है। इसे जैनेतर दार्शनिक भी सजीव मानते आये हैं और वैज्ञानिक जगत् में भी इसके चैतन्य सम्बन्धी विविध परीक्षण हुए हैं···बेतार की तरंगों (Wireless Waves) के बारे में अन्वेषण करते समय जगदीशचन्द्र बसु को यह अनुभव हुआ कि धातुओं के परमाणु पर भी अधिक दबाव पड़ने से रुकावट आती है, और उन्हें

फिर उत्तेजित करने पर वह दूर हो जाती है। उन्होंने सूक्ष्म छानबीन के बाद बताया कि धान्यादि पदार्थ भी थकते हैं, चंचल होते हैं, विष से मुरझाते हैं, नशे से मस्त होते हैं और मरते हैं...अन्त में यह प्रमाणित किया कि संसार के सभी पदार्थ सचेतन हैं [८]। वेदान्त की भाषा में सभी पदार्थों में एक ही चेतन प्रवाहित हो रहा है। जैन की भाषा में समूचा संसार अनन्त जीवों से व्याप्त है। एक अणुमात्र प्रदेश भी जीवों से खाली नहीं है [९]।

वनस्पति की सचेतनता सिद्ध करते हुए उसकी मनुष्य के साथ तुलना की गई है।

जैसे मनुष्य शरीर जाति, (जन्म) धर्मक है, वैसे वनस्पति भी जाति-धर्मक है। जैसे मनुष्य-शरीर बालक, युवक व वृद्ध अवस्था प्राप्त करता है, वैसे वनस्पति शरीर भी। जैसे मनुष्य सचेतन है, वैसे वनस्पति भी। जैसे मनुष्य शरीर छेदन करने से मलिन हो जाता है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य-शरीर आहार करने वाला है, वैसे वनस्पति-शरीर भी। जैसे मनुष्य-शरीर अनित्य है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य का शरीर अशाश्वत है (प्रतिक्षण मरता है), वैसे वनस्पति के शरीर की भी प्रतिक्षण मृत्यु होती है। जैसे मनुष्य-शरीर में इष्ट और अनिष्ट आहार की प्राप्ति से वृद्धि और हानि होती है, वैसे ही वनस्पति के शरीर में भी। जैसे मनुष्य-शरीर विविध परिणमनयुक्त है अर्थात् रोगों के सम्पर्क से पाण्डुत्व, वृद्धि, सूजन, कृशता, छिद्र आदि युक्त हो जाता है और औषधि-सेवन से कान्ति, बल, पुष्टि आदि युक्त हो जाता है, वैसे वनस्पति-शरीर भी नाना प्रकार के रोगों से ग्रस्त होकर पुष्प, फल और त्वचा विहीन हो जाता है और औषधि के संयोग से पुष्प, फलादि युक्त हो जाता है। अतः वनस्पति चेतना युक्त है।

वनस्पति के जीवों में अव्यक्त रूप से दस संज्ञाएँ होती हैं। संज्ञा कहते हैं अनुभव को। दस संज्ञाओं के नाम निम्नोक्त हैं :—

आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा, परिग्रह-संज्ञा, क्रोध-संज्ञा, मान संज्ञा, माया-संज्ञा, लोभ-संज्ञा, ओघ-संज्ञा, एवं लोक-संज्ञा। इनको सिद्ध करने के लिए टीकाकारों ने उपयुक्त उदाहरण भी खोज निकाले हैं। वृक्ष जल का आहार तो करते ही हैं। इसके सिवाय 'अमर बेल' अपने आसपास होने

वाले वृक्षों का सार खींच लेती है। कई वृक्ष रक्त-शोषक भी होते हैं। इसलिए वनस्पति में आहार-संज्ञा होती है। 'छुई-मुई' आदि स्पर्श के भय से सिकुड़ जाती है, इसलिए वनस्पति में भय-संज्ञा होती है। 'कुरुबक' नामक वृक्ष स्त्री के आलिंगन से पल्लवित हो जाता है और 'अशोक' नामक वृक्ष स्त्री के पादघात से प्रमुदित हो जाता है, इसलिए वनस्पति में मैथुन-संज्ञा है। लताएं अपने तन्तुओं से वृक्ष को बींट लेती हैं, इसलिए वनस्पति में परिग्रह-संज्ञा है। 'कोकनद' (रक्तोत्पल) का कंद क्रोध से हुंकार करता है। 'सिदंती' नाम की बेल मान से झरने लग जाती है। लताएँ अपने फलों को माया से ढांक लेती हैं। बिल्व और पलाश आदि वृक्ष लोभ से अपने मूल निधान पर फैलते हैं। इससे जाना जाता है कि वनस्पति में क्रोध, मान, माया और लोभ भी है। लताएं वृक्षों पर चढ़ने के लिए अपना मार्ग पहले से तय कर लेती हैं, इसलिए वनस्पति में ओघ-संज्ञा है। रात्रि में कमल सिकुड़ते हैं, इसलिए वनस्पति में लोक-संज्ञा है।

वृक्षों में जलादि सींचते हैं वह फलादि के रस के रूप में परिणत हो जाता है, इसलिए वनस्पति में उच्छ्वास का सद्भाव है। स्नायविक धड़कनों के बिना रस का प्रसार नहीं हो सकता। जैसे मनुष्य-शरीर में उच्छ्वास से रक्त का प्रसार होता है और मृत-शरीर में उच्छ्वास नहीं होता, अतः रक्त का प्रसार भी नहीं होता, इसलिए वनस्पति में उच्छ्वास है। इत्यादि अनेकों युक्तियों से वनस्पति की सचेतनता सिद्ध की गई है।

वनस्पतिकाय के दो भेद हैं—(१) साधारण (२) प्रत्येक। एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं। वह साधारण-शरीरी, अनन्त काय या सूक्ष्म-निगोद हैं। एक शरीर में एक ही जीव होता है, वह प्रत्येक-शरीरी है।

संघीय जीवन

साधारण-वनस्पति का जीवन संघ-बद्ध होता है। फिर भी उनकी आत्मिक सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। कोई भी जीव अपना अस्तित्व नहीं गंवाता। उन एक शरीराश्रयी अनन्त जीवों के सूक्ष्म शरीर तैजस् और कार्मण पृथक्-पृथक् होते हैं। उन पर एक-दूसरे का प्रभाव नहीं होता। उनके साम्यवादी जीवन की परिभाषा करते हुए बताया है कि—"साधारण वनस्पति का एक

जीव जो कुछ आहार आदि पुद्गल-समूह का ग्रहण करता है, वह तत्शरीरस्थ शेष सभी जीवों के उपभोग में आता है और बहुत सारे जीव जिन पुद्गलों का ग्रहण करते हैं, वे एक जीव के उपभोग्य बनते हैं [१०]।" उनके आहार-विहार, उच्छ्वास-निश्वास, शरीर-निर्माण और मौत—ये सभी साधारण कार्य एक साथ होते हैं [११]। साधारण जीवों का प्रत्येक शारीरिक कार्य साधारण होता है। पृथक्-शरीरी मनुष्यों के कृत्रिम संघों में ऐसी साधारणता कभी नहीं आती। साधारण जीवों का स्वाभाविक संघात्मक जीवन साम्यवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है।

जीव अमूर्त है, इसलिए वे क्षेत्र नहीं रोकते। क्षेत्र-निरोध स्थूल पौद्गलिक वस्तुएं ही करती हैं। साधारण जीवों के स्थूल शरीर पृथक्-पृथक् नहीं होते। जो-जो निजी शरीर हैं, वे सूक्ष्म होते हैं, इसलिए एक सुई के अग्र भाग जितने से छोटे शरीर में अनन्त जीव समा जाते हैं।

सुई की नोक टिके उतने लक्ष्य पाक तेल में एक लाख औषधियों की अस्तिता होती है। सब औषधियों के परमाणु उसमें मिले हुए होते हैं। इससे अधिक सूक्ष्मता आज के विज्ञान में देखिए—

रसायन-शास्त्र के पण्डित कहते हैं कि आल्पीन के सिरे के बराबर बर्फ के टुकड़े में १०,००,००,००,००,००,००,००,००० अणु हैं। इन उदाहरणों को देखते हुए साधारण जीवों की एक शरीराश्रयी स्थिति में कोई संदेह नहीं होता। आग में तपा लोहे का गोला अग्निमय होता है, वैसे साधारण वनस्पति-शरीर जीवमय होता है।

साधारण वनस्पति जीवों का परिमाण

लोकाकाश के असंख्य प्रदेश हैं। उसके एक-एक आकाश प्रदेश पर एक-एक निगोद-जीव को रखते चले जाइए। वे एक लोक में नहीं समायेंगे, दो-चार में भी नहीं। वैसे अनन्त लोक आवश्यक होंगे [१२]। इस काल्पनिक संख्या से उनका परिमाण समझिए। उनकी शारीरिक स्थिति संकीर्ण होती है। इसी कारण वे ससीम लोक में समा रहे हैं।

प्रत्येक वनस्पति

प्रत्येक वनस्पति जीवों के शरीर पृथक्-पृथक् होते हैं। प्रत्येक जीव अपने

शरीर का निर्माण स्वयं करता है। उनमें पराश्रयता भी होती है। एक घटक जीव के आश्रय में असंख्य जीव पलते हैं। वृक्ष के घटक बीज में एक जीव होता है। उसके आश्रय में पत्र, पुष्प और फूल के असंख्य जीव उपजते हैं। बीजावस्था के सिवाय वनस्पति-जीव संघातरूप में रहते हैं। श्लेष्म-द्रव्य-मिश्रित सरसों के दाने अथवा तिलपपड़ी के तिल एक रूप बन जाते हैं [१३]। तब भी उसकी सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। प्रत्येक वनस्पति के शरीरों की भी यही बात है। शरीर की संघात-दशा में भी उनकी सत्ता स्वतन्त्र रहती है।

प्रत्येक वनस्पति जीवों का परिमाण

साधारण वनस्पति जीवों की भांति प्रत्येक वनस्पति का एक-एक जीव लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर रखा जाए तो ऐसे असंख्य लोक बन जाए। यह लोक असंख्य आकाश प्रदेश वाला है, ऐसे असंख्य लोकों के जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उतने प्रत्येक शरीरी वनस्पति जीव हैं [१४]। *

क्रम-विकासवाद के मूल सूत्र

डार्विन का सिद्धान्त चार मान्यताओं पर आधारित है—

(१) पितृ-नियम—समान में से समान संतति की उत्पत्ति।

(२) परिवर्तन का नियम—निश्चित दशा में सदा परिवर्तन होता है, उसके विरुद्ध नहीं होता। वह (परिवर्तन) सदा आगे बढ़ता है, पीछे नहीं हटता। उससे उन्नति होती है, अवनति नहीं होती।

(३) अधिक उत्पत्ति का नियम—यह जीवन-संग्राम का नियम है। अधिक होते हैं, वहाँ परस्पर संघर्ष होते हैं। यह अस्तित्व को बनाये रखने की लड़ाई है।

(४) योग्य विजय—अस्तित्व की लड़ाई में जो योग्य होता है विजय उसी के हाथ में आती है। स्वाभाविक चुनाव में योग्य को ही अवसर मिलता है।

प्रकारान्तर से इसका वर्गीकरण यों भी हो सकता है :—

(१) स्वतः परिवर्तन।

(२) वंश-परम्परा द्वारा अगली पीढ़ी में परिवर्तन।

(३) जीवन-संघर्ष में योग्यतम अवशेष।

---

* इसका पूरा विवरण यन्त्र-पृष्ठ में देखिए।

इसके अनुसार पिता-माता के अर्जित गुण सन्तान में संक्रान्त होते हैं। वही गुण वंशानुक्रम से पीढ़ी-दरपीढ़ी धीरे-धीरे उपस्थित होकर सुदीर्घ काल में सुस्पष्ट आकार धारण करके एक जाति से अभिनव जाति उत्पन्न कर देते हैं।

डार्विन के मतानुसार पिता-माता के प्रत्येक अंग से सूक्ष्मकला या अवयव निकलकर शुक्र और शोणित में संचित होते हैं। शुक्र और शोणित से सन्तान का शरीर बनता है। अतएव पिता-माता के उपार्जित गुण सन्तान में संक्रान्त होते हैं।

इसमें सत्यांश है, किन्तु वस्तुस्थिति का यथार्थ चित्रण नहीं। एक सन्तति में स्वतः बुद्धिगम्य कारणों के बिना भी परिवर्तन होता है। उस पर माता-पिता का भी प्रभाव पड़ता है, जीवन-संग्राम में योग्यतम विजयी होता है, यह सच है किन्तु यह उससे अधिक सच है कि परिवर्तन की भी एक सीमा है। वह समान जातीय होता है, विजातीय नहीं। द्रव्य की सत्ता का अति-क्रम नहीं होता, मौलिक गुणों का नाश नहीं होता।

विकास या नई जाति उत्पन्न होने का अर्थ है कि स्थितियों में परिवर्तन हो, वह हो सकता है। किन्तु तिर्यञ्च पशु, पक्षी या जल-जन्तु आदि से मनुष्य जाति की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

प्राणियों की मौलिक जातियां ५ हैं। वे क्रम-विकास से उत्पन्न नहीं, स्वतन्त्र हैं। पांच जातियां योग्यता की दृष्टि से क्रमशः विकसित हैं। किन्तु पूर्व योग्यता से उत्तर योग्यता सृष्ट या विकसित हुई ऐसा नहीं। पंचेन्द्रिय प्राणी की देह से पंचेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होता है। वह पंचेन्द्रिय ज्ञान का विकास पिता से न्यून या अधिक पा सकता है। पर यह नहीं हो सकता कि वह किसी चतुरिन्द्रिय से उत्पन्न हो जाए या किसी चतुरिन्द्रिय को उत्पन्न कर दे। सजातीय से उत्पन्न होना और सजातीय को उत्पन्न करना, यह गर्भज-प्राणियों की निश्चित मर्यादा है।

विकासवाद जाति-विकास नहीं, किन्तु जाति-विपर्यास मानता है। उसके अनुसार इस विश्व में कुछ-न-कुछ विशुद्ध से तप्त पदार्थ ही चारों ओर भरे पड़े थे। जिनकी गति और उष्णता में क्रमशः कमी होते हुए बाद में उनमें से सर्व ग्रहों और हमारी इस पृथ्वी की भी उत्पत्ति हुई, इसी प्रकार जैसे-जैसे

हमारी यह पृथ्वी ठंडी होने लगी, वैसे-वैसे इस पर वायु जलादि की उत्पत्ति हुई और उसके बाद वनस्पति की उत्पत्ति हुई। उद्भिद्-राज्य हुआ। उससे जीव राज्य हुआ। जीव-राज्य का विकास-क्रम इस प्रकार माना जाता है—पहले सरीसृप हुए, फिर पक्षी, पशु, बन्दर और मनुष्य हुए।

डार्विन के इस विलम्बित "क्रम-विकास- प्रसर्पणवाद" को विख्यात प्राणी तत्त्ववेत्ता "डी० व्राइस" ने सान्ध्य—प्रिमरोज (इस पेड़ का थोड़ा सा चारा हालैण्ड से लाया जाकर अन्य देशों की मिट्टी में लगाया गया। इससे अकस्मात् दो नई श्रेणियों का उदय हुआ) के उदाहरण से असिद्ध ठहरा कर 'प्लुत सञ्चारवाद' को मान्य ठहराया है, जिसका अर्थ है कि एक जाति से दूसरी उपजाति का जन्म आकस्मिक होता है, क्रमिक नहीं।

विज्ञान का सृष्टि-क्रम असत् से सत् (उत्पादवाद या अहेतुकवाद) है। यह विश्व कब, क्यों और कैसे उत्पन्न हुआ ? इसका आनुमानिक कल्पनाओं के अतिरिक्त कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता···डार्विन ने सिर्फ शारीरिक विवर्तन के आधार पर क्रम-विकास का सिद्धान्त स्थिर किया। शारीरिक विवर्तन में वर्ण-भेद, संहनन-भेद[१], संस्थान-भेद, लम्बाई-चौड़ाई का तारतम्य, ऐसे ऐसे और भी सूक्ष्म-स्थूल भेद हो सकते हैं[१]। ये पहले भी हुआ करते थे और आज भी होते हैं। ये देश, काल, परिस्थिति के भेद से किसी विशेष प्रयोग के बिना भी हो सकते हैं और विशेष प्रयोग के द्वारा भी। १७६१ ई० में भेड़ों के झुण्ड में अकस्मात् एक नई जाति उत्पन्न हो गई। उन्हें आजकल "अनेकन" भेड़ कहा जाता है। यह जाति, मर्यादा के अनुकूल परिवर्तन है जो यदा तदा, यत् किंचित् सामग्री से हुआ करता है। प्रायोगिक परिवर्तन के नित नए उदाहरण विज्ञान जगत् प्रस्तुत करता ही रहता है।

अभिनव जाति की उत्पत्ति का सिद्धान्त एक जाति में अनेक व्यक्ति प्राप्त भिन्नताओं की बहुलता के आधार पर स्वीकृत हुआ है। उत्पत्ति-स्थान और कुल-कोटि की भिन्नता से प्रत्येक जाति में भेद—बाहुल्य होता है···उन अवान्तर भेदों के आधार पर मौलिक जाति की सृष्टि नहीं होती। एक जाति उससे मौलिक भेद वाली जाति को जन्म देने में समर्थ नहीं होती। जो जीव जिस जाति में जन्म लेता है, वह उसी जाति में प्राप्त गुणों का विकास कर

सकता है। जाति के विभाजक नियमों का अतिक्रमण नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो जीव स्वार्जित कर्म-पुद्गलों की प्रेरणा से जिस जाति में जन्म लेता है, उसी(जाति) के आधार पर उसके शरीर, संहनन, संस्थान ज्ञान आदि का निर्णय किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

बाहरी स्थितियों का प्राणियों पर प्रभाव होता है। किन्तु उनकी आनुवंशिकता में वे परिवर्तन नहीं ला सकतीं। प्रो० डार्लिंगटन के अनुसार—"जीवों की बाहरी परिस्थितियां प्रत्यक्ष रूप से उनके विकास-क्रम को पूर्णतया निश्चित नहीं करतीं। इससे यह साबित हुआ कि मार्क्स ने अपने और डार्विन के मतों में जो समानान्तरता पाई थी, वह बहुत स्थायी और दूरगामी नहीं थी। विभिन्न स्वाभावों वाले मानव-प्राणियों के शरीर में बाह्य और आन्तरिक भौतिक प्रभेद मौजूद होते हैं। उसके भीतर के भौतिक प्रभेद के आधार को ही आनुवंशिक या जन्मजात कहा जाता है। इस भौतिक आन्तरिक प्रभेद के आधारों का भेद ही व्यक्तियों, जातियों और वर्गों के भेदों का कारण होता है। ये सब भेद बाहरी अवयवों में होने वाले परिवर्तनों का ही परिणाम हैं। इन्हें जीवधारी देह के पहलुओं के सिवाय कोई बाहरी शक्ति नष्ट नहीं कर सकती। आनुवंशिकता के इस असर को अच्छे भोजन, शिक्षा अथवा सरकार के किसी भी कार्य से चाहे वह कितना ही उदार या क्रूर क्यों न हो, सुधार या उन्नत करना कठिन है।

अनुवंशिकता के प्रभाव को इस नए आविष्कार के बाद 'जेनेटिक्स का विज्ञान' कहा गया [१७]।

हमें दो श्रेणी के प्राणी दिखाई देते हैं। एक श्रेणी के गर्भज हैं, जो माता-पिता के शोणित, रज और शुक्र-बिन्दु के मेल से उत्पन्न होते हैं। दूसरी श्रेणी के सम्मूर्च्छिम हैं, जो गर्भाधान के बिना स्व-अनुकूल सामग्री के सान्निध्य मात्र से उत्पन्न हो जाते हैं।

एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय के जीव सम्मूर्च्छिम और तिर्यञ्च जाति के ही होते हैं। पंचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम और गर्भज दोनों प्रकार के होते हैं। इन दोनों (सम्मूर्च्छिम और गर्भज पंचेन्द्रिय) की दो जातियां हैं—

(१) तिर्यञ्च (२) मनुष्य। (मनुष्य के मल, मूत्र, लहू आदि अशुचि स्थान में उत्पन्न होने वाले पंचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिम मनुष्य कहलाते हैं [१८])

तिर्यञ्च जाति की मुख्य दशाएं तीन हैं :—

(१) जलचर—मत्स्य आदि।

(२) स्थलचर—गाय, भैंस आदि।

(क) उरपरिसृप—रेंगने वाले प्राणी—सांप आदि।

(ख) भुजपरिसृप—भुजा के बल पर चलने वाले प्राणी—नेवला आदि इसीकी उपशाखाएं हैं।

(३) खेचर—पक्षी।

सम्मूर्च्छिम जीवों का जाति-विभाग गर्भ-व्युत्क्रान्त जीवों के जाति-विभाग जैसा सुस्पष्ट और संबद्ध नहीं होता।

आकृति-परिवर्तन और अवयवों की न्यूनाधिकता के आधार पर जाति-विकास की जो कल्पना है, वह औपचारिक है, तात्त्विक नहीं। सेव के वृक्ष की लगभग २ हजार जातियां मानी जाती हैं। भिन्न-भिन्न देश की मिट्टी में बोया हुआ बीज भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधों के रूप में परिणत होता है। उनके फूलों और फलों में वर्ण, गन्ध, रस आदि का अन्तर भी आ जाता है। 'कलम' के द्वारा भी वृक्षों में आकस्मिक परिवर्तन किया जाता है। इसी प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्य के शरीर पर भी विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। शीत प्रधान देश में मनुष्य का रंग श्वेत होता है, उष्ण-प्रधान देश में श्याम। यह परिवर्तन मौलिक नहीं है। वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा औपचारिक परिवर्तन के उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। मौलिक परिवर्तन प्रयोगसिद्ध नहीं हैं। इसलिए जातिगत औपचारिक परिवर्तन के आधार पर क्रम-विकास की धारणा अधिक मूल्यवान् नहीं बन सकती।

शारीरिक परिवर्तन का ह्रास या उल्टा क्रम

पारिपार्श्विक वातावरण या बाहरी स्थितियों के कारण जैसे विकास या प्रगति होती है, वैसे ही उसके बदलने पर ह्रास या पूर्व गति भी होती है।

इस दिशा में सब से आश्चर्यजनक प्रयोग हैं—म्यूनिख की जन्तुशाला के डाइरेक्टर श्री हिंज हेक के, जिन्होंने विकासवाद की गाड़ी ही आगे से पीछे

की ओर ढकेल दी है और ऐसे घोड़े पैदा किये हैं, जैसे कि पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व होते थे। प्रागैतिहासिक युग के इन घोड़ों को इतिहासकार 'टरपन' कहते हैं [१९]।

इससे जाना जाता है कि शरीर, संहनन, संस्थान और रंग का परिवर्तन होता है। उससे एक जाति के अनेक रूप बन जाते हैं, किन्तु मूलभूत जाति नहीं बदलती।

दो जाति के प्राणियों के संगम से तीसरी एक नई जाति पैदा होती है। उस मिश्र जाति में दोनों के स्वभाव मिलते हैं, किन्तु यह भी शारीरिक भेद वाली उपजाति है। आत्मिक ज्ञानकृत जैसे ऐन्द्रियिक और मानसिक शक्ति का भेद उनमें नहीं होता। जातिभेद का मूल कारण है—आत्मिक विकास इन्द्रियां, स्पष्ट भाषा और मन, इनका परिवर्तन मिश्रण और काल-क्रम से नहीं होता। एक स्त्री के गर्भ में 'गर्भ-प्रतिबिम्ब' पैदा होता है, जिसके रूप भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं [२०]। आकृति-भेद की समस्या जाति भेद में मौलिक नहीं है।

प्रभाव के निमित्त

एक प्राणी पर माता-पिता का, आसपास के वातावरण का, देश-काल की सीमा का, खान-पान का, ग्रहों-उपग्रहों का अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसके जो निमित्त हैं उन पर जैन-दृष्टि का क्या निर्णय है—यह थोड़े में जानना है।

प्रभावित स्थितियों को वर्गीकृत कर हम दो मान लें—शरीर और बुद्धि। ये सारे निमित्त इन दोनों को प्रभावित करते हैं।

प्रत्येक प्राणी आत्मा और शरीर का संयुक्त एक रूप होता है। प्रत्येक प्राणी को आत्मिक शक्ति का विकास और उसकी अभिव्यक्ति के निमित्तभूत शारीरिक साधन उपलब्ध होते हैं।

आत्मा सूक्ष्म शरीर का प्रवर्तक है, सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का। बाहरी स्थितियां स्थूल शरीर को प्रभावित करती हैं, स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर को और सूक्ष्म शरीर आत्मा को—इन्द्रिय, मन या चेतन वृत्तियों को।

शरीर पौद्गलिक होते हैं—सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म वर्गणाओं का संगठन होता है और स्थूल शरीर स्थूल वर्गणाओं का।

(१) आनुवंशिक समानता का कारण है वर्गणा का साम्य। जन्म के आरम्भ काल में जीव जो आहार लेता है, वह उसके जीवन का मूल आधार होता है। वे वर्गणाएं मातृ-पितृ सात्म्य होती हैं, इसलिए माता और पिता का उस पर प्रभाव होता है। सन्तान के शरीर में मांस, रक्त और मस्तुलुंग (भेजा) ये तीन अंग माता के और हाड़, मज्जा और केश-दाढ़ी-रोम-नख— ये तीन अंग पिता के होते हैं [३१]। वर्गणाओं का साम्य होने पर भी आन्तरिक योग्यता समान नहीं होती। इसलिए माता-पिता से पुत्र की रुचि, स्वभाव, योग्यता भिन्न भी होती हैं। यही कारण है कि माता-पिता के गुण दोषों का सन्तान के स्वास्थ्य पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना बुद्धि पर नहीं पड़ता।

(२) वातावरण भी पौद्‌गलिक होता है। पुद्‌गल-पुद्‌गल पर असर डालते हैं। शरीर, भाषा और मन की वर्गणाओं के अनुकूल वातावरण की वर्गणाएं होती हैं, उन पर उनका अनुकूल प्रभाव होता है और प्रतिकूल दशा में प्रतिकूल। आत्मिक शक्ति विशेष जाग्रत हो तो इसमें अपवाद भी हो सकता है। मानसिक शक्ति वर्गणाओं में परिवर्तन ला सकती है। कहा भी है—

"चित्तायत्तं धातुबद्धं शरीरं, स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति।
तस्माच्चित्तं सर्वथा रक्षणीयं, चित्ते नष्टे बुद्धयो यान्ति नाशम्" ॥

—यह धातु-बद्ध शरीर चित्त के अधीन है। स्वस्थ चित्त में बुद्धि की स्फुरणा होती है। इसलिए चित्त को स्वस्थ रखना चाहिए। चित्त नष्ट होने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि पवित्र और बलवान् मन पवित्र वर्गणाओं को ग्रहण करता है, इसलिए बुरी वर्गणाएं शरीर पर भी बुरा असर नहीं डाल सकतीं। गांधीजी भी कहते थे—'विकारी मन ही रोग का केन्द्र बनता है, यह भी सर्वथा निरपवाद नहीं है।

(३) खान-पान और औषधि का असर भी भिन्न-भिन्न प्राणियों पर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसका कारण भी उनके शरीर की भिन्न-भिन्न वर्गणाएं हैं। वर्गणाओं के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में अनन्त प्रकार का वैचित्र्य और तरतमभाव होता है। एक ही रस का दो व्यक्ति दो प्रकार का अनुभव करते हैं। यह उनका बुद्धि-दोष या अनुभव-शक्ति का दोष नहीं

किन्तु इस भेद का आधार उनकी विभिन्न वर्गणाएं हैं। अलग-अलग परिस्थिति में एक ही व्यक्ति को इस भेद का शिकार होना पड़ता है।

खान-पान, औषधि आदि का शरीर के अवयवों पर असर होता है। शरीर के अवयव इन्द्रिय-मन-भाषा के साधन होते हैं, इसलिए जीव की प्रवृत्ति के ये भी परस्पर कारण बनते हैं। ये बाहरी वर्गणाएं आन्तरिक योग्यता को सुधार या बिगाड़ नहीं सकतीं, और न बढ़ा-घटा भी सकतीं। किन्तु जीव की आन्तरिक योग्यता की साधनभूत आन्तरिक वर्गणाओं में सुधार या बिगाड़ ला सकती हैं। यह स्थिति दोनों प्रकार की वर्गणाओं के बलाबल पर निर्भर है।

(४) ग्रह-उपग्रह से जो रश्मियां निकलती हैं, उनका भी शारीरिक वर्गणाओं के अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव होता है। विभिन्न रंगों के शीशों द्वारा सूर्य-रश्मियों को एकत्रित कर शरीर पर डाला जाए तो स्वास्थ्य या मन पर उनकी विभिन्न प्रतिक्रियाएं होती हैं। संगठित दशा में हमें तत्काल उनका असर मालूम पड़ता है। असंगठित दशा और सूक्ष्म रूप में उनका जो असर हमारे ऊपर होता है, उसे हम पकड़ नहीं सकते।

ज्योतिर्विद्या में उल्का की और योग-विद्या में विविध रंगों की प्रतिक्रिया भी उनकी रश्मियों के प्रभाव से होती है।

यह बाहरी असर है। अपनी आन्तरिक वृत्तियों का भी अपने पर प्रभाव पड़ता है। ध्यान या मानसिक एकाग्रता से चंचलता की कमी होती है, आत्म-शक्ति का विकास होता है। मन की चंचलता से जो शक्ति बिखर जाती है, वह ध्यान से केन्द्रित होती है। इसीलिए आत्म-विकास में मन-गुप्ति, वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति का बड़ा महत्त्व है।

मानसिक अनिष्ट-चिन्तन से प्रतिकूल वर्गणाएं गृहीत होती हैं, उनका स्वास्थ्य पर हानिजनक प्रभाव होता है। प्रसन्न दशा में अनुकूल वर्गणाएँ अनुकूल प्रभाव डालती हैं।

क्रोध आदि वर्गणाओं की भी ऐसी ही स्थिति है। ये वर्गणाएं समूचे लोक में भरी पड़ी हैं। इनकी बनावट अलग-अलग ढंग की होती है। और उसके अनुसार ही ये निमित्त बनती हैं।

वेदना

काल-निर्णय

निर्जरा

आत्मा स्वतंत्र है या कर्म के अधीन

कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया

अनादि का अन्त कैसे ?

लेश्या

कर्म के संयोग और वियोग से होने वाली आध्यात्मिक विकास और ह्रास की रेखाएं।

क्षयोपशम

"मलावृतमणेर्व्यक्तिर्यथानेकविधेष्यते।
कर्मावृतात्मनस्तद्वत्, योग्यता विविधा न किम् ॥"

—तत्त्वार्थ-श्लोक वार्तिक-१६१

"आत्मा तदन्यसंयोगात्, संसारी तद्वियोगतः।
स एव मुक्त एतौ च, तत् स्वाभाव्यात्तयो स्तथा ॥" —योगबिन्दु

भारत के सभी आस्तिक दर्शनों में जगत् की विभक्ति,[1] विचित्रता[2] और साधन तुल्य होने पर भी फल के तारतम्य या अन्तर को सहेतुक माना है[3]। उस हेतु को वेदान्ती 'अविद्या,' बौद्ध 'वासना' सांख्य 'क्लेश' और न्याय-वैशेषिक 'अदृष्ट' तथा जैन 'कर्म' कहते हैं[4]। कई दर्शन कर्म का सामान्य निर्देशमात्र करते हैं और कई उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करते-करते बहुत आगे बढ़ जाते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार अदृष्ट आत्मा का गुण है। अच्छे-बुरे कर्मों का आत्मा पर संस्कार पड़ता है, वह अदृष्ट है। जब तक उसका फल नहीं मिल जाता, तब तक वह आत्मा के साथ रहता है। उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है[5]। कारण कि यदि ईश्वर कर्म-फल की व्यवस्था न करे तो कर्म निष्फल हो जाएं। सांख्य कर्म को प्रकृति का विकार मानता है[6]। अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत-संस्कार से ही कर्मों के फल मिलते हैं। बौद्धों ने चित्तगत वासना को कर्म माना है। यही कार्य कारण-भाव के रूप में सुख-दुःख का हेतु बनती है। जैन-दर्शन कर्म को स्वतन्त्र तत्त्व मानता है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं। वे समूचे लोक में जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बंध जाते हैं, यह उनकी बध्यमान (बंध) अवस्था है। बन्धने के बाद उनका परिपाक होता है, वह सत् (सत्ता) अवस्था है। परिपाक के बाद उनसे सुख-दुःख रूप तथा आवरण रूप फल मिलता है, वह उदयमान (उदय) अवस्था है। अन्य दर्शनों में कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध—ये तीन अवस्थाएं बताई गई हैं। वे ठीक क्रमशः बन्ध, सत् और उदय की समानार्थक हैं…बन्ध के प्रकृति, स्थिति, विपाक और प्रदेश—ये चार

प्रकार, उदीरणा—कर्म का शीघ्र फल मिलना, उद्वर्तन—कर्म की स्थिति और विपाक की वृद्धि होना, अपवर्तन—कर्म की स्थिति और विपाक में कमी होना, संक्रमण—कर्म की सजातीय प्रकृतियों का एक दूसरे के रूप में बदलना, आदि आदि अवस्थाएं जैनों के कर्म-सिद्धान्त के विकास की सूचक हैं।

बन्ध के कारण क्या हैं? बन्धे हुए कर्मों का फल निश्चित होता है या अनिश्चित? कर्म जिस रूप में बन्धते हैं, उसी रूप में उनका फल मिलता है या अन्यथा? धर्म करने वाला दुःखी और अधर्म करने वाला सुखी कैसे? आदि-आदि विषयों पर जैन ग्रन्थकारों ने खूब विस्तृत विवेचन किया है। इन सबको लिया जाए तो दूसरा ग्रन्थ बन जाए। इसीलिए यहाँ इन सब प्रसंगों में न जाकर कुछ विशेष बातों की ही चर्चा करना उपयुक्त होगा।

आत्मा का आन्तरिक वातावरण

पदार्थ के असंयुक्त रूप में शक्ति का तारतम्य नहीं होता। दूसरे पदार्थ से संयुक्त होने पर ही उसकी शक्ति न्यून या अधिक बनती है। दूसरा पदार्थ शक्ति का बाधक होता है, वह न्यून हो जाती है। बाधा हटती है, वह प्रगट हो जाती है। संयोग-दशा में यह ह्रास-विकास का क्रम चलता ही रहता है। असंयोग-दशा में पदार्थ का सहज रूप प्रगट हो जाता है, फिर उसमें ह्रास या विकास कुछ भी नहीं होता।

आत्मा की आन्तरिक योग्यता के तारतम्य का कारण कर्म है। कर्म के संयोग से वह (आन्तरिक योग्यता) आवृत होती है या विकृत होती है। कर्म के विलय (असंयोग) से उसका स्वभावोदय होता है। बाहरी स्थिति आन्तरिक स्थिति को उत्तेजित कर आत्मा पर प्रभाव डाल सकती है, सीधा नहीं। शुद्ध या कर्म-मुक्त आत्मा पर बाहरी परिस्थिति का कोई भी असर नहीं होता। अशुद्ध या कर्म-बद्ध आत्मा पर ही उसका प्रभाव होता है। वह भी अशुद्धि की मात्रा के अनुपात से। शुद्धि की मात्रा बढ़ती है, बाहरी वातावरण का असर कम होता है, शुद्धि की मात्रा कम होती है, बाहरी वातावरण छा जाता है। परिस्थिति ही प्रधान होती तो शुद्ध और अशुद्ध पदार्थ पर समान असर होता, किन्तु ऐसा नहीं होता है। परिस्थिति उत्तेजक है, कारक नहीं।

विजातीय सम्बन्ध विचारणा की दृष्टि से आत्मा के साथ सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध कर्म पुद्‌गलों का है। समीपवर्ती का जो प्रभाव पड़ता है, वह दूरवर्ती का नहीं पड़ता। परिस्थिति दूरवर्ती घटना है। वह कर्म की उपेक्षा कर आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकती। उसकी पहुँच कर्म संघटना तक ही है। उससे कर्म संघटना प्रभावित होती है फिर उससे आत्मा। जो परिस्थिति कर्म-संस्थान को प्रभावित न कर सके, उसका आत्मा पर कोई असर नहीं होता।

बाहरी परिस्थिति सामूहिक होती है। कर्म को वैयक्तिक परिस्थिति कहा जा सकता है। यही कर्म की सत्ता का स्वयंभू-प्रमाण है।

परिस्थिति

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म की सह-स्थिति का नाम ही परिस्थिति है।

काल से ही सब कुछ होता है, यह एकान्त दृष्टि मिथ्या है।
क्षेत्र ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
स्वभाव से ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
पुरुषार्थ से ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
नियति ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
कर्म ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,

काल से भी कुछ बनता है, यह सापेक्ष-दृष्टि सत्य है।
क्षेत्र (स्थान) से भी कुछ बनता है, यह सापेक्ष दृष्टि सत्य है।
स्वभाव से भी ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
पुरुषार्थ से भी ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
नियति ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
कर्म ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,

वर्तमान के जैन मानस में काल-मर्यादा, क्षेत्र-मर्यादा, स्वभाव-मर्यादा, पुरुषार्थ-मर्यादा और नियति-मर्यादा का जैसा स्पष्ट विवेक या अनेकान्त-दर्शन है, वैसा कर्म-मर्यादा का नहीं रहा है। जो कुछ होता है, वह कर्म से ही होता है—ऐसा घोष साधारण हो गया है। यह एकान्तवाद सच नहीं है। आत्म-गुण का विकास कर्म से नहीं होता, कर्म के विलय से होता है।

परिस्थितिवाद के एकान्त-आग्रह के प्रति जैन-दृष्टि यह है—रोग देश-काल की स्थिति से ही पैदा नहीं होता, किन्तु देश-काल की स्थिति से कर्म की उत्तेजना (उदीरणा) होती है और उत्तेजित कर्म-पुद्गल रोग पैदा करते हैं। इस प्रकार जितनी भी बाहरी परिस्थितियां हैं, वे सब कर्म-पुद्गलों में उत्तेजना लाती हैं। उत्तेजित कर्म-पुद्गल आत्मा में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाते हैं। परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव सिद्ध धर्म है। वह संयोग-कृत होता है, तब विभाव-रूप होता है। दूसरे के संयोग से नहीं होता, तब उसकी परिणति स्वाभाविक हो जाती है।

कर्म की पौद्गलिकता

अन्य दर्शन कर्म को जहाँ संस्कार या वासना रूप मानते हैं, वहाँ जैन-दर्शन उसे पौद्गलिक मानता है। 'जिस वस्तु का जो गुण होता है, वह उसका विघातक नहीं बनता।' आत्मा का गुण उसके लिए आवरण पारतन्त्र्य और दुःख का हेतु कैसे बने ?

कर्म जीवात्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखों का हेतु है—गुणों का विघातक है। इसलिए वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता।

बेड़ी से मनुष्य बन्धता है, सुरापान से पागल बनता है, क्लोरोफार्म से बेभान बनता है। ये सब पौद्गलिक वस्तुएं हैं। ठीक इसी प्रकार कर्म के संयोग से भी आत्मा की ये दशाएं बनती हैं। इसलिए वह भी पौद्गलिक है। ये बेड़ी आदि बाहरी बन्धन एवं अल्प सामर्थ्य वाली वस्तुएं हैं। कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए तथा अधिक सामर्थ्य वाले सूक्ष्म स्कन्ध हैं। इसीलिए उनकी अपेक्षा कर्म-परमाणुओं का जीवात्मा पर गहरा और आन्तरिक प्रभाव पड़ता है।

शरीर पौद्गलिक है, उसका कारण कर्म है। इसलिए वह भी पौद्गलिक है। पौद्गलिक कार्य का समवायी कारण पौद्गलिक होता है। मिट्टी भौतिक है तो उससे बनने वाला पदार्थ भौतिक ही होगा।

आहार आदि अनुकूल सामग्री से सुखानुभूति और शस्त्र-प्रहार आदि से दुःखानुभूति होती है। आहार और शस्त्र पौद्गलिक हैं, इसी प्रकार सुख-दुःख के हेतुभूत कर्म भी पौद्गलिक हैं।

बन्ध की अपेक्षा जीव और पुद्गल अभिन्न हैं—एकमेक हैं। लक्षण की अपेक्षा वे भिन्न हैं। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन, जीव अमूर्त है और पुद्गल मूर्त।

इन्द्रिय के विषय स्पर्श आदि मूर्त हैं। उनको भोगने वाली इन्द्रियां मूर्त हैं। उनसे होने वाला सुख-दुःख मूर्त है। इसलिए उनके कारण-भूत कर्म भी मूर्त हैं [७]।

मूर्त ही मूर्त का स्पर्श करता है। मूर्त ही मूर्त से बंधता है। अमूर्त जीव मूर्त कर्मों को अवकाश देता है। वह उन कर्मों से अवकाश-रूप हो जाता है [८]।

गीता, उपनिषद् आदि में अच्छे-बुरे कार्यों को जैसे कर्म कहा है, वैसे जैन-दर्शन में कर्म-शब्द क्रिया का वाचक नहीं है। उसके अनुसार वह (कर्म-शब्द) आत्मा पर लगे हुए सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ का वाचक है।

आत्मा की प्रत्येक सूक्ष्म और स्थूल मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के द्वारा उसका आकर्षण होता है। इसके बाद स्वीकरण (आत्मीकरण-प्रदेशबन्ध-जीव और कर्म-परमाणुओं का एकी भाव) होता है।

कर्म के हेतुओं को भाव-कर्म या मल और कर्म-पुद्गलों को द्रव्य-कर्म या रज कहा जाता है। इनमें निमित्त-नैमित्तिक भाव है। भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म का संग्रह और द्रव्य-कर्म के उदय से भाव-कर्म तीव्र होता है [९]।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कैसे ?

आत्मा अमूर्त है, तब उसका मूर्त कर्म से सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? यह भी कोई जटिल समस्या नहीं है। प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने संसार और जीवात्मा को अनादि माना है। वह अनादिकाल से ही कर्मबद्ध और विकारी है। कर्मबद्ध आत्माएं कथंचित् मूर्त हैं अर्थात् निश्चय दृष्टि के अनुसार स्वरूपतः अमूर्त होते हुए भी वे संसार दशा में मूर्त होती हैं [१०]। जीव दो प्रकार के हैं—रूपी और अरूपी [११]। मुक्त जीव अरूपी हैं और संसारी जीव रूपी।

कर्ममुक्त आत्मा के फिर कभी कर्म का बन्ध नहीं होता। कर्मबद्ध आत्मा

के ही कर्म बन्धते हैं—उन दोनों का अपश्चानुपूर्वी (न पहले और न पीछे) रूप से अनादिकालीन सम्बन्ध चला आरहा है।

अमूर्त ज्ञान पर मूर्त मादक द्रव्यों का असर होता है, वह अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध हुए बिना नहीं हो सकता। इससे जाना जाता है कि विकारी अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त का सम्बन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं आती।

बन्ध के हेतु[१२]

कर्म-सम्बन्ध के अनुकूल आत्मा की परिणति या योग्यता ही बन्ध का हेतु है। बन्ध के हेतुओं का निरूपण अनेक रूपों में हुआ है।

गौतम ने पूछा[१३]—भगवन्! जीव कांक्षा मोहनीय कर्म बांधता है?

भगवान्—गौतम! बांधता है।

गौतम—भगवन्! वह किन कारणों से बांधता है?

भगवान्—गौतम! उसके दो हेतु हैं (१) प्रमाद, (२) योग।

गौतम—भगवन्! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—योग से।

गौतम—योग किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—वीर्य से।

गौतम—वीर्य किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—शरीर से।

गौतम—शरीर किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—जीव से।

तात्पर्य यह है कि जीव शरीर का निर्माता है। क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है। शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म (कांक्षा-मोहनीय) का बन्ध करता है। स्थानांग[१४] और प्रज्ञापना में कर्मबन्ध के क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कारण बतलाए हैं[१५]।

बन्ध

"णत्थि बन्धे व मोक्खे वा णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि बन्धे व मोक्खे वा एवं सन्नं निवेसए॥ —सूत्र० २।५

माकंदिक-पुत्र ने पूछा—"भगवन्! भाव बन्ध कितनी प्रकार का है?"

भगवान् ने कहा—"माकंदिक-पुत्र ! भाव-बन्ध दो प्रकार का है:— (१) मूल-प्रकृति-बन्ध (२) उत्तर-प्रकृति-बन्ध [१६]।"

बन्ध आत्मा और कर्म के सम्बन्ध की पहली अवस्था है। वह चतूरूप है:— (१) प्रकृति (२) स्थिति (३) अनुभाग (४) प्रदेश [१७]।

बन्ध का अर्थ है—आत्मा और कर्म का संयोग और कर्म का निर्मापण—व्यवस्थाकरण [१८]। ग्रहण के समय कर्म-पुद्गल अविभक्त होते हैं। ग्रहण के पश्चात् वे आत्म-प्रदेशों के साथ एकीभूत होते हैं। यह प्रदेश-बन्ध (या एकीभाव की व्यवस्था) है।

इसके साथ-साथ वे कर्म-परमाणु कार्य-भेद के अनुसार आठ वर्गों में बंट जाते हैं। इसका नाम प्रकृति-बन्ध (स्वभाव-व्यवस्था) है। कर्म की मूल प्रकृतियां (स्वभाव) आठ हैं—(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयुष्य (६) नाम (७) गोत्र (८) अन्तराय [१९]।

संक्षिप्त-विभाग :—

(१) ज्ञानावरण	(क) देशज्ञानावरण	(ख) सर्वज्ञानावरण
(२) दर्शनावरण	(क) देश दर्शनावरण	(ख) सर्व दर्शनावरण
(३) वेदनीय	(क) सात-वेदनीय	(ख) असात-वेदनीय
(४) मोहनीय	(क) दर्शन-मोहनीय	(ख) चारित्र-मोहनीय
(५) आयुष्य	(क) अद्धायु	(ख) भवायु
(६) नाम	(क) शुभ-नाम	(ख) अशुभ-नाम
(७) गोत्र	(क) उच्च-गोत्र	(ख) नीच-गोत्र
(८) अन्तराय	(क) प्रत्युत्पन्न-विनाशी	(ख) पिहित आगामीपथ [२०]

विस्तृत-विभाग :—

१—ज्ञानावरण—ज्ञान को आवृत्त करने वाले कर्म-पुद्गल।

(१) आभिनिबोधिक ज्ञानावरण—इन्द्रिय और मन के द्वारा होने वाले ज्ञान को आवृत्त करने वाले कर्म-पुद्गल।

(२) श्रुत-ज्ञानावरण—शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से होने वाले ज्ञान को आवृत्त करने वाले कर्म-पुद्गल।

(३) अवधि-ज्ञानावरण—मूर्त्त द्रव्य-पुद्गल को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

(४) मनः पर्याय-ज्ञानावरण—दूसरों के मन की पर्यायों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत्त करने वाले कर्म-पुद्गल।

(५) केवल-ज्ञानावरण—सर्व द्रव्य और पर्यायों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

२—दर्शनावरण—सामान्य बोध को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

(१) चक्षु दर्शनावरण—चक्षु के द्वारा होने वाले दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

(२) अचक्षु दर्शनावरण—चक्षु के सिवाय शेष इन्द्रिय और मन से होने वाले दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

(३) अवधि-दर्शनावरण—मूर्त्त द्रव्यों के साक्षात् दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

(४) केवल-दर्शनावरण—सर्व-द्रव्य-पर्यायों के साक्षात् दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

(५) निद्रा—सामान्य नींद (सोया हुआ व्यक्ति सुख से जाग जाए, वह नींद)

(६) निद्रानिद्रा—घोर नींद (सोया हुआ व्यक्ति कठिनाई से जागे, वह नींद)

(७) प्रचला—खड़े या बैठे हुए जो नींद आये।

(८) प्रचला-प्रचला—चलते-फिरते जो नींद आए।

(९) स्त्यानर्धि—(स्त्यान-गृद्धि) संकल्प किये हुए कार्य को नींद में कर डाले, वैसी प्रगाढ़तम नींद।

३—वेदनीय—अनुभूति के निमित्त कर्म-पुद्गल :—

(१) सात वेदनीय-सुखानुभूति का निमित्त—

(क) मनोज्ञ शब्द, (ख) मनोज्ञ रूप, (ग) मनोज्ञ गन्ध, (घ) मनोज्ञ रस,

(क) मनोज्ञ स्पर्श, (च) सुखित मन, (छ) सुखित वाणी, (ज) सुखित काम।

(२) असात वेदनीय—दुःखानुभूति के निमित्त कर्म पुद्‌गल।

(क) अमनोज्ञ शब्द, (ख) अमनोज्ञ रूप, (ग) अमनोज्ञ गन्ध, (घ) अमनोज्ञ रस, (ङ) अमनोज्ञ स्पर्श, (च) दुःखित मन, (छ) दुःखित वाणी, (ज) दुःखित काय।

४—मोहनीय—आत्मा को मूढ़ बनाने वाले कर्म-पुद्‌गल।

(क) दर्शन मोहनीय—सम्यक्-दृष्टि को विकृत करने वाले कर्म-पुद्‌गल।

(१) सम्यक्त्व-वेदनीय—औपशमिक और क्षायिक सम्यक्-दृष्टि के प्रतिबन्धक कर्म पुद्‌गल।

(२) मिथ्यात्व वेदनीय—सम्यक्-दृष्टि (क्षायोपशमिक) के प्रतिबन्धक कर्म-पुद्‌गल।

(३) मिश्र वेदनीय—तत्त्व-श्रद्धा की दोलायमान दशा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्‌गल।

(ख) चारित्र मोहनीय—चरित्र-विकार उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्‌गल।

(१) कषाय-वेदनीय—राग द्वेष उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्‌गल।

अनन्तानुबन्धी क्रोध—पत्थर की रेखा (स्थिरतम)

,, मान—पत्थर का खम्भा (दृढ़तम)

अनन्तानुबन्धी माया—बांस की जड़ (वक्रतम)

,, लोभ—कृमि-रेशम (गाढ़तम रंग)

अप्रत्याख्यान क्रोध—मिट्टी की रेखा

,, मान—हाड़ का खम्भा

,, माया—मेंढ़े का सींग

,, लोभ—कीचड़

संज्वलन क्रोध—जल-रेखा (अस्थिर-तात्कालिक)

,, मान—लता का खम्भा (लचीला)

,, माया—छिलते बांस की छाल (स्वल्पतम वक्र)

,, लोभ—हल्दी का रंग (तत्काल उड़ने वाला (रंग)

(२) नो-कषाय-वेदनीय—कषाय को उत्तेजित करने वाले कर्म-पुद्गल—

१—हास्य—सकारण या अकारण (बाहरी कारण के बिना भी) हंसी-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

२—रति—सकारण या अकारण पौद्गलिक पदार्थों के प्रति राग-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

३—अरति—सकारण या अकारण पौद्गलिक पदार्थों के प्रति द्वेष-उत्पन्न करने वाले या संयम में अरुचि-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

४—शोक—सकारण या अकारण शोक-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

५—भय—सकारण या अकारण भय-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

६—जुगुप्सा—सकारण या अकारण घृणा-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

७—स्त्री-वेद—पुरुष के साथ भोग की अभिलाषा-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

८—पुरुष-वेद—स्त्री के साथ भोग की अभिलाषा-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

९—नपुंसक-वेद—स्त्री-पुरुष दोनों के साथ भोग की अभिलाषा-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

५—आयु—जीवन के निमित्त कर्म-पुद्गल—

(१) नरकायु—नरक-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(२) तिर्यञ्चायु—तिर्यंच-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(३) मनुष्यायु—मनुष्य-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(४) देवायु—देव-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।

६—नाम—जीवन की विविध सामग्री की उपलब्धि के हेतुभूत कर्म-पुद्गल

(१) गति-नाम—जन्म-सम्बन्धी विविधता की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) निरय-गति-नाम—नारक जीवन दुःखमय दशा की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) तिर्यञ्च गति नाम—पशु, पक्षी आदि के जीवन (दुःख-बहुल दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) मनुष्य-गति नाम—मनुष्य-जीवन (सुख-दुःख मिश्रित दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) देव-गति नाम—देव-जीवन (सुखमय दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(२) जाति-नाम—इन्द्रिय-रचना के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) एकेन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन, (त्वग्) इन्द्रिय की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) द्वीन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन और जिह्वा—इन दो इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) त्रीन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन जिह्वा और नाक—इन तीन इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) चतुरिन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन, जिह्वा, नाक, और चक्षु—इन चार इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) पंचेन्द्रिय जाति नाम—स्पर्शन, जिह्वा, नाक चक्षु और कान—इन पांच इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(३) शरीर-नाम—शरीर-प्राप्ति के लिए निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर-नाम—स्थूल शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-नाम—विविध क्रिया कर सकने वाले कामरूपी शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर-नाम—आहारक-लब्धिजन्य शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) तैजस्-शरीर-नाम—तेज, पाक तथा तेजस् व शीत लेश्या का निर्गमन कर सकने वाले शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) कार्मण-शरीर-नाम—कर्म समूह या कर्म विकारमय शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(४) शरीर-अंगोपांग-नाम—शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर अंगोपांग-नाम—औदारिक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-अंगोपांग-नाम—वैक्रिय शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर अंगोपांग नाम—आहारक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) तैजस् और कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इसलिए इनके अवयव नहीं होते।

(५) शरीर-बन्धन-नाम—पहले ग्रहण किये हुए और वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले शरीर-पुद्गलों के पारस्परिक सम्बन्ध का हेतुभूत कर्म।

(क) औदारिक-शरीर-बन्धन-नाम—इस शरीर के पूर्व-पश्चाद् गृहीत पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध जोड़ने वाला कर्म।

(ख) वैक्रिय-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत्।

(ग) आहारक ,, ,, ,, — ,,

(घ) तैजस ,, ,, ,, — ,,

(ङ) कार्मण ,, ,, ,, — ,,

कर्म ग्रन्थ में शरीर-बन्धन नाम-कर्म के पन्द्रह भेद किये गए हैं—

(१) औदारिक औदारिक बन्धन नाम।

(२) औदारिक तैजस् ,, ,,

(३) ,, कार्मण ,, ,,

(४) वैक्रिय वैक्रिय ,, ,,

(५) ,, तैजस ,, ,,

(६) ,, कार्मण ,, ,,

(७) आहारक आहारक ,, ,,

(८) ,, तैजस ,, ,,

(९) ,, कार्मण बन्धन नाम।

(१०) औदारिक तैजस कार्मण बन्धन नाम।
(११) वैक्रिय ,, ,, ,, ,,
(१२) आहारक ,, ,, ,, ,,
(१३) तैजस् तैजस् ,, ,,
(१४) तैजस् कार्मण ,, ,,
(१५) कार्मण कार्मण ,, ,,

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—ये तीन शरीर परस्पर विरोधी होते हैं। इसलिए इनके पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध नहीं होता।

(६) शरीर संघातन नाम[२१]—शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) तैजस-शरीर संघातन नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) कार्मण-शरीर-संघातन नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघातन के निमित्त कर्म-पुद्गल।

७—संहनन-नाम—इसके उदय का 'हड्डियों की व्यवस्था' पर प्रभाव होता है इसके हेतुभूत कर्म पुदगल[२२]।

(क) वज्रऋषभ-नाराच-संहनन नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल —वज्र-कील, ऋषभ-वेष्टन-पट्ट, नाराच-मर्कट-बन्ध—दोनों ओर आपस में एक दूसरे को बांधे हुए हों, वैसी आकृति, आंटी लगाए हुये हो वैसी आकृति, बन्दर का बच्चा जैसे अपनी मां की छाती से चिपका हुआ हो वैसी आकृति, जिसमें सन्धि की दोनों हड्डियां आपस में आंटी लगाए हुये हों, उन पर तीसरी हड्डी

का वेष्टन हो, चौथी हड्डी की कील उन तीनों को भेद कर रही हुई हो—ऐसे सुदृढ़तम अस्थि-बन्धन का नाम 'वज्र-ऋषभ नाराच संहनन' है।

(ख) ऋषभनाराच-संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल, "ऋषभनाराच संहनन" में हड्डियों की आंटी और वेष्टन होता है, कील नहीं होती। यह दृढ़तर है।

(ग) नाराच-संहनन नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'नाराच-संहनन' में केवल हड्डियों की आंटी होती है, वेष्टन और कील नहीं होती।

(घ) अर्धनाराच-संहनन नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'अर्धनाराच संहनन' में हड्डी का एक छोर मर्कट-बन्ध से बंधा हुआ और दूसरा छोर कील से भिदा हुआ होता है।

(ङ) कीलिका—संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'कीलिका संहनन, में हड्डियां केवल कील से जुड़ी हुई होती हैं।

(च) सेवार्त-संहनन नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'सेवार्त संहनन' में केवल हड्डियां ही आपस में जुड़ी हुई होती हैं।

८—संस्थान-नाम—इसके उदय का शरीर की आकृति-रचना पर प्रभाव होता है इसके हेतुभूत कर्म पुद्गल।

(१) समचतुरस्र-संस्थान—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। पालथी मार कर बैठे हुये व्यक्ति के चारों कोण सम होते हैं। वह 'सम चतुरस्र संस्थान' है।

(२) न्यग्रोध-परिमंडल-संस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण और नीचे के अवयव प्रमाणहीन होते हैं, वह 'न्यग्रोध-परिमंडल संस्थान' है।

(३) सादि-संस्थान नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। नाभि से ऊपर के अवयव प्रमाण-हीन और नीचे के अवयव पूर्ण होते हैं, वह सादि-संस्थान' है।

(४) वामन संस्थान नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'वामन-संस्थान'—बौना।

(५) कुब्ज संस्थान नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'कुब्ज संस्थान'—कुबड़ा।

(६) हुंड-संस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। जब अवयव बेढब या प्रमाणशून्य होते हैं, वह हुंड-संस्थान है।

६—वर्ण नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के रंग पर प्रभाव पड़ता है—

(क) कृष्ण-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रंग काला हो जाता है

(ख) नील-वर्ण-नाम— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, नीला ,, ,, ,,

(ग) लोहित-वर्ण-नाम—,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, लाल ,, ,, ,,

(घ) हारिद्र-वर्ण नाम—,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, पीला ,, ,, ,,

(ङ) श्वेत-वर्ण-नाम— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, सफेद ,, ,, ,,

१०—गन्ध नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के गन्ध पर प्रभाव पड़ता है।

(क) सुरभि-गन्ध-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर सुगन्धवासित होता है।

(ख) दुरभि-गन्ध-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर दुर्गन्धवासित होता है।

११—रस नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के रस पर प्रभाव पड़ता है।

(क) तिक्त-रस नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस तिक्त होता है।

(ख) कटु रस नाम— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, कडुआ होता है।

(ग) कषाय-रस-नाम—,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, कसैला होता है।

(घ) आम्ल-रस-नाम—,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, खट्टा ,, ,,

(ङ) मधुर-रस-नाम— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, मीठा ,, ,,

१२—स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के स्पर्श पर प्रभाव पड़ता है।

(क) कर्कश-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर कठोर होता है।

(ख) मृदु ,, ,, —,, ,, ,, ,, ,, ,, कोमल ,, ,,

(ग) गुरु ,, ,, —,, ,, ,, ,, ,, ,, भारी ,, ,,

(घ) लघु ,, ,, —,, ,, ,, ,, ,, ,, हल्का ,, ,,

(ङ) स्निग्ध ,, ,, —,, ,, ,, ,, ,, ,, चिकना ,, ,,

(च) रूक्ष ,, ,, —,, ,, ,, ,, ,, ,, रूखा ,, ,,

(छ) शीत ,, ,, —,, ,, ,, ,, ,, ,, ठंडा ,, ,,

(ज) उष्ण ,, ,, —,, ,, ,, ,, ,, ,, गरम ,, ,,

(१३) अगुरुलघु-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर न सम्हल सके वैसा भारी भी नहीं होता और हवा में उड़ जाए वैसा हल्का भी नहीं होता।

(१४) उपघात, नाम—इस कर्म के उदय से विकृत बने हुए अपने ही अवयवों से जीव क्लेश पाता है। (अथवा) इसके उदय से जीव आत्म-हत्या करता है।

(१५) पराघात-नाम—इसके उदय से जीव प्रतिपक्षी और प्रतिवादी द्वारा अपराजेय होता है।

(१६) आनुपूर्वी नाम[२३]—विश्रेणि-स्थित जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(क) नरक-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि स्थित नरक-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(ख) तिर्यंच-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित तिर्यंच-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(ग) मनुष्य-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित मनुष्य-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(घ) देव-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित देव-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(१७) उच्छ्वास-नाम—इसके उदय से जीव श्वास-उच्छ्वास लेता है।

(१८) आतप नाम[२४]—इसके उदय से शरीर में से उष्ण प्रकाश निकलता है।

(१९) उद्योत-नाम[२५]—इसके उदय से शरीर में से शीत-प्रकाश निकलता है।

(२०) विहायोगति नाम[२६]—इसके उदय का जीव की चाल पर प्रभाव पड़ता है।

(क) प्रशस्त विहायोगति नाम—इसके उदय से जीव की चाल श्रेष्ठ होती है।

(ख) अप्रशस्त विहायोगति नाम—इसके उदय से जीव की चाल खराब होती है।

(२१) त्रस नाम—इसके उदय से जीव चर (इच्छापूर्वक गति करने वाले) होते हैं।

(२२) स्थावर नाम—इसके उदय से जीव स्थिर (इच्छा पूर्वक गति न करने वाले) होते हैं।

(२३) सूक्ष्म नाम—इस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) शरीर मिलता है[२७]।

(२४) बादर नाम—इस कर्म के उदय से जीव को स्थूल शरीर मिलता है[२८]।

(२५) पर्याप्त-नाम—इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण करते हैं।

(२६) अपर्याप्त-नाम—इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण नहीं करते हैं।

(२७) साधारण-शरीर-नाम—इसके उदय से अनन्त जीवों को एक शरीर मिलता है।

(२८) प्रत्येक-शरीर-नाम—इसके उदय से प्रत्येक जीव को अपना स्वतन्त्र शरीर मिलता है।

(२९) स्थिर-नाम—इसके उदय से शरीर के अवयव स्थिर होते हैं।

(३०) अस्थिर-नाम—इसके उदय से शरीर के अवयव अस्थिर होते हैं।

(३१) शुभ नाम—इसके उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं।

(३२) अशुभ-नाम—इसके उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ होते हैं[२९]।

(३३) सुभग-नाम—इसके उदय से किसी प्रकार का उपकार किए बिना व सम्बन्ध के बिना भी जीव दूसरों को प्रिय लगता है।

(३४) दुर्भग नाम—इसके उदय से उपकारक व सम्बन्धी भी अप्रिय लगते हैं।

(३५) सुस्वर-नाम—इसके उदय से जीव का स्वर प्रीतिकारक होता है।

(३६) दुःस्वर नाम—इसके उदय से जीव का स्वर अप्रीतिकारक होता है।

(३७) आदेय-नाम—इसके उदय से जीव का वचन मान्य होता है।

(३८) अनादेय-नाम—इसके उदय से जीव का वचन युक्तिपूर्ण होते हुए भी मान्य नहीं होता।

(३९) यशकीर्ति-नाम—यश और कीर्ति के हेतुभूत कर्म-पुद्‌गल।

(४०) अयशकीर्तिनाम—अयश और अकीर्ति के हेतुभूत कर्म-पुदगल।

(४१) निर्माण-नाम—अवयवों के व्यवस्थित निर्माण के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

(४२) तीर्थंकर-नाम—तीर्थंकर पद की प्राप्ति का निमित्त भूत कर्म।

७—गोत्र—

(१) उच्च गोत्र—इसके उदय से सम्मान व प्रतिष्ठा मिलती है।

(क) जाति-उच्च-गोत्र—मातृपक्षीय सम्मान।
(ख) कुल ,, ,, —पितृ ,, ,,
(ग) बल ,, ,, —बल ,, ,,
(घ) रूप ,, ,, —रूप ,, ,,
(ङ) तप ,, ,, —तप ,, ,,
(च) श्रुत ,, ,, —ज्ञान ,, ,,
(छ) लाभ ,, ,, —प्राप्ति ,, ,,
(ज) ऐश्वर्य ,, ,, —ऐश्वर्य ,, ,,

(२) नीच गोत्र—इसके उदय से असम्मान व अप्रतिष्ठा मिलती है।

(क) जाति नीच गोत्र—मातृपक्षीय असम्मान।
(ख) कुल ,, ,, —पितृ ,, ,,
(ग) बल ,, ,, —बल ,, ,,
(घ) रूप ,, ,, —रूप ,, ,,
(ङ) तप ,, ,, —तप ,, ,,
(च) श्रुत ,, ,, —ज्ञान ,, ,,
(छ) लाभ ,, ,, —प्राप्ति,, ,,
(ज) ऐश्वर्य ,, ,, —ऐश्वर्य,, ,,

८—अन्तराय—इसके उदय का क्रियात्मक शक्ति पर प्रभाव होता है।

(क) दान-अन्तराय—इसके उदय से सामग्री की पूर्णता होने पर भी दान नहीं दिया जा सकता।
(ख) लाभ अन्तराय—इसके उदय से लाभ नहीं होता।
(ग) भोग अन्तराय—इसके उदय से भोग नहीं होता।
(घ) उपभोग अन्तराय—इसके उदय से उपभोग नहीं होता।
(ङ) वीर्य अन्तराय—इसके उदय से सामर्थ्य का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ और उनकी स्थिति

	कर्म की प्रकृतियाँ	जघन्य-स्थिति	उत्कृष्ट-स्थिति
५	ज्ञानावरणीय	अन्तर्-मुहूर्त	३० कोटा कोटि सागर
१०	निद्रापंचक	एक सागर के ३/७ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	३० कोटा कोटि सागर
१४	दर्शन-चतुष्क	अन्तर्-मुहूर्त	३० कोटा कोटि सागर
१५	सात-वेदनीय (ईर्यापथिक, सम्पराय)	२ समय	२ समय
१६	असात-वेदनीय	एक सागर के ३/७ वें भाग में— पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	३० कोटा कोटि सागर
१७	सम्यक्त्व-वेदनीय	अन्तर्-मुहूर्त	कुछ अधिक ६६ सागर से
१८	मिथ्यात्व-वेदनीय	एक सागर में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	७० कोटा कोटि सागर
१९	सम्यक्त्व-मिथ्यात्व वेदनीय	अन्तर्-मुहूर्त	अन्तर्-मुहूर्त
३१	कषाय-द्वादशक (अनन्तानुबन्ध, अप्रत्याख्यान, क्रोध, मान, माया, लोभ)	एक सागर के ४/७ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	४० कोटा कोटि सागर
३२	क्रोध—सञ्ज्वलन	२ मास	४० कोटा कोटि सागर

३३	मान—सञ्ज्वलन	१ मास	४० कोटा कोटि सागर
३४	माया सञ्ज्वलन	अर्द्ध-मास	४० कोटा कोटि सागर
३५	लोभ—सञ्ज्वलन	अन्तर् मुहूर्त	४० कोटा कोटि सागर
३६	स्त्री-वेद	एक सागर के $\frac{१.५}{७}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१५ कोटा कोटि सागर
३७	पुरुष-वेद	८ वर्ष	१० कोटा कोटि सागर
४२	नपुंसक वेद, अरति, भय, शोक, दुगुंछा	एक सागर के $\frac{२}{७}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	२० कोटा कोटि सागर
४४	हास्य, रति	एक सागर के $\frac{१}{७}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१० कोटा कोटि सागर
४६	नैरयिकायुष, देवायुष	१० हजारवर्ष अन्तर्-मुहूर्त अधिक	३३ सागर क्रोड पूर्व का तीसरा भाग अधिक।
४८	तिर्यञ्चायुष, मनुष्यायुष	अन्तर् मुहूर्त	३ पल्य और क्रोड पूर्व का तीसरा भाग अधिक।
५४	नैरयिकगतिनाम, नरकानुपूर्वीनाम, वैक्रयिक चतुष्क (शरीर, अंगोपांग, बंधन, संघातन)	हजार सागर के $\frac{२}{७}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	२० कोटा कोटि सागर

५६	तिर्यञ्च गतिनाम तिर्यञ्चानुपूर्वीनाम	यथा नपुंसक वेद।	
५८	मनुष्य गतिनाम, मनुष्यानुपूर्वी नाम	एक सागर के $\frac{१॥}{७}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१५ कोटा कोटि सागर
६०	देव-गति-नाम, देवानुपूर्वीनाम	हजार सागर $\frac{२}{७}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१० कोटा कोटि सागर
७२	एकेन्द्रिय, जातिनाम, पंचेन्द्रिय जातिनाम, औदारिक चतुष्क (शरीर, अंगोपांग, बंधन, संघातन) तैजस, कार्मण दोनों कालिक (शरीर, बन्धन, संघातन)	एक सागर के $\frac{२}{७}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	२० कोटा कोटि सागर
७५	द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, जातिनाम	एक सागर के $\frac{९}{३५}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१८ कोटा कोटि सागर
८०	आहारक चतुष्क, तीर्थंकर नाम	अन्तः कोटा कोटि सागर	अन्तः कोटि कोटि सागर
८२	वज्रऋषभनाराच-संहनन नाम समचतुरस्र-संस्थान नाम	हास्यवत्	
८४	ऋषभनाराच-संहनन नाम न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान नाम	एक सागर के $\frac{६}{३५}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१२ कोटा कोटि सागर

८६	नाराच संहनन नाम सादिसंस्थान नाम	एक सागर के $\frac{७}{३५}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१४ कोटा कोटि सागर
८८	अर्द्धनाराच संहनन नाम वामन संस्थान नाम	एक सागर के $\frac{८}{३५}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१६ कोटा कोटि सागर
९०	कीलक संहनन नाम कुब्ज संस्थान नाम	तीन विकलेन्द्रियवत्	३ विकलेन्द्रियवत्
९२	सेवार्त्त संहनन नाम हुंडक संस्थान नाम	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
९४	श्वेतवर्ण नाम, मधुर-रस-नाम	हास्यवत्	
९६	पीत-वर्ण-नाम, आम्ल-रस-नाम	एक सागर के $\frac{५}{२८}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१२॥ कोटा कोटि सागर
९८	रक्त-वर्ण-नाम, कषाय-रस-नाम	एक सागर के $\frac{६}{२८}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१५ कोटा कोटि सागर
१००	नील वर्ण, कटुक रस	एक सागर के $\frac{७}{२८}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१७॥ कोटा कोटि सागर

१०२	कृष्ण-वर्ण, तिक्त रस	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१०४	सुरभि गन्ध, प्रशस्त विहायोगति	हास्यवत्	हास्यवत्
१०६	दुरभिगन्ध, अप्रशस्त विहायोगति	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
११०	कर्कश-स्पर्शनाम, गुरु-स्पर्शमान, शीत-स्पर्शनाम, रूक्ष-स्पर्शनाम	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
११४	मृदु-स्पर्शनाम, लघु-स्पर्शनाम स्निग्ध-स्पर्शनाम, उष्ण-स्पर्शनाम	हास्यवत्	हास्यवत्
१२१	पराघात नाम, उच्छ्वास नाम, आतप नाम उद्योत नाम, अगुरु लघु नाम, निर्माण नाम, उपघात नाम	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१२४	सूक्ष्म नाम, अपर्याप्ति नाम, साधारण नाम	तीन विकलेन्द्रियवत्	३ विकलेन्द्रियवत्
१३५	त्रसनाम, बादर-नाम, प्रत्येक-नाम पर्याप्त-नाम, स्थावर-नाम, अस्थिर नाम अशुभ-नाम, दुर्भग-नाम, दुःस्वर-नाम अनादेय-नाम, अयशः कीर्तिनाम।	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१४०	स्थिर-नाम, सुभ-नाम, शुभग-नाम, सुस्वर-नाम, आदेय-नाम	हास्यवत्	हास्यवत्
१४२	यशः कीर्ति नाम, उच्चगोत्र	अष्ट-मुहूर्त्त	१० कोटा कोटि सागर
१४३	नीच-गोत्र	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१४८	अन्तराय पंचक	अन्तर्-मुहूर्त्त	३० कोटा कोटि सागर

इनमें चार कोटि की पुद्‌गल-वर्गणाएं चेतना और आत्म-शक्ति की आवारक, विकारक और प्रतिरोधक है। चेतना के दो रूप हैं (१) ज्ञान-जानना वस्तु स्वरूप का विमर्षण (२) दर्शन—साक्षात् करना—वस्तु का स्वरूप ग्रहण। ज्ञान और दर्शन के आवारक पुद्‌गल क्रमशः 'ज्ञानावरण' और 'दर्शनावरण' कहलाते हैं। आत्मा को विकृत बनाने वाले पुद्‌गलों की संज्ञा 'मोहनीय' है। आत्म-शक्ति का प्रतिरोध करने वाले पुद्‌गल अन्तराय कहलाते हैं। ये चार घाति कर्म हैं। वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु—ये चार अघाति कर्म हैं। ये शुभ-अशुभ पौद्‌गलिक दशा के निमित्त हैं।

चार कोटि की वर्गणाएं जीवन-निर्माण और अनुभूतिकारक है। जीवन का अर्थ है आत्मा और शरीर का सहभाव। (१) शुभ-अशुभ शरीर का निर्माण करने वाली कर्म-वर्गणाएं नाम (२) शुभ-अशुभ जीवन को बनाए रखने वाली कर्म-वर्गणाएं 'आयुष्य' (३) व्यक्ति को सम्माननीय और असम्माननीय बनाने वाली कर्म-वर्गणाएं 'गोत्र' (४) सुख-दुःख की अनुभूति कराने वाली कर्म-वर्गणाएं 'वेदनीय' कहलाती हैं। तीसरी व्यवस्था काल-मर्यादा की है। प्रत्येक कर्म आत्मा के साथ निश्चित समय तक ही रह सकता है। स्थिति पकने पर वह आत्मा से अलग जा पड़ता है। यह स्थिति बन्ध है। चौथी अवस्था फल-दान शक्ति की है। इसके अनुसार उन पुद्‌गलों में रस की तीव्रता और मन्दता का निर्माण होता है। यह अनुभाव बन्ध है।

बन्ध के चारों प्रकार एक साथ ही होते हैं। कर्म की व्यवस्था के ये चारों प्रधान अंग है। आत्मा के साथ कर्म पुद्‌गलों के आश्लेष या एकीभाव की दृष्टि से 'प्रदेश बन्ध' सबसे पहला है। इसके होते ही उनमें स्वभाव निर्माण, काल-मर्यादा और फलशक्ति का निर्माण हो जाता है। इसके बाद अमुक-अमुक स्वभाव, स्थिति और रस शक्ति वाला पुद्‌गल-समूह अमुक-अमुक परिमाण में बंट जाता है—यह परिमाण-विभाग भी प्रदेश बन्ध है। बन्ध के वर्गीकरण का मूल बिन्दु स्वभाव निर्माण है। स्थिति और रस का निर्माण उसके साथ-साथ हो जाता है। परिमाण-विभाग इनका अन्तिम विभाग है।

बन्ध की प्रक्रिया

आत्मा में अनन्त वीर्य (सामर्थ्य) होता है। उसे लब्धि-वीर्य कहा जाता है।

यह शुद्ध आत्मिक सामर्थ्य है। इसका बाह्य जगत् में कोई प्रयोग नहीं होता। आत्मा का बहिर्-जगत् के साथ जो सम्बन्ध है, उसका माध्यम शरीर है। वह पुद्गल परमाणुओं का संगठित पुंज है। आत्मा और शरीर—इन दोनों के संयोग से जो सामर्थ्य पैदा होती है, उसे करण-वीर्य या क्रियात्मक शक्ति कहा जाता है। शरीरधारी जीव में यह सतत बनी रहती है। इसके द्वारा जीव में भावनात्मक या चैतन्य-प्रेरित क्रियात्मक कम्पन होता रहता है। कम्पन अचेतन वस्तुओं में भी होता है। किन्तु वह स्वाभाविक होता है। उनमें चैतन्य-प्रेरित कम्पन नहीं होता। चेतन में कम्पन का प्रेरक गूढ़ चैतन्य होता है। इसलिए इसके द्वारा विशेष स्थिति का निर्माण होता है। शरीर की आन्तरिक वर्गणा द्वारा निर्मित कम्पन में बाहरी पौद्गलिक धाराएं मिलकर आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा परिवर्तन करती रहती हैं।

क्रियात्मक-शक्ति-जनित कम्पन के द्वारा आत्मा और कर्म-परमाणुओं का संयोग होता है। इस प्रक्रिया को आस्रव कहा जाता है।

आत्मा के साथ संयुक्त कर्म योग्य परमाणु कर्म रूप में परिवर्तित होते हैं—इस प्रक्रिया को बन्ध कहा जाता है।

आत्मा और कर्म-परमाणुओं का फिर वियोग होता है—इस प्रक्रिया को निर्जरा कहा जाता है।

बन्ध, आस्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति है। आस्रव के द्वारा बाहरी पौद्गलिक धाराएं शरीर में आती हैं। निर्जरा के द्वारा वे फिर शरीर के बाहर चली जाती हैं। कर्म-परमाणुओं के शरीर में आने और फिर से चले जाने के बीच की दशा को संक्षेप में बन्ध कहा जाता है।

शुभ और अशुभ परिणाम आत्मा की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाह हैं। ये अजस्र रहते हैं। दोनों एक साथ नहीं। दोनों में से एक अवश्य रहता है।

कर्म-शास्त्र की भाषा में शरीर-नाम-कर्म के उदय काल में चंचलता रहती है। उसके द्वारा कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है। शुभ परिणति के समय शुभ और अशुभ परिणति के समय अशुभ कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है[३०]।

कर्म कौन बांधता है ?

अकर्म के कर्म का बन्ध नहीं होता। पूर्व कर्म से बंधा हुआ जीव ही नए कर्मों का बन्ध करता है [३१]।

मोह-कर्म के उदय से जीव राग-द्वेष में परिणत होता है तब वह अशुभ कर्मों का बन्ध करता है [३२]।

मोह-रहित प्रवृत्ति करते समय शरीर नाम-कर्म के उदय से जीव शुभ कर्म का बन्ध करता है [३३]।

नए बन्धन का हेतु पूर्व बन्धन न हो तो अबद्ध (मुक्त) जीव भी कर्म से बन्धे बिना नहीं रह सकता। इस दृष्टि से यह सही है कि बंधा हुआ ही बंधता है, नए सिरे से नहीं।

गौतम ने पूछा—"भगवन् ! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है या अदुःखी दुःख से स्पृष्ट होता है[३४] ?"

भगवान् ने कहा—गौतम ! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है, अदुःखी दुःख से स्पृष्ट नहीं होता। दुःख का स्पर्श, पर्यादान (ग्रहण) उदीरणा, वेदना और निर्जरा दुखी जीव करता है, अदुखी जीव नहीं करता [३५]।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! कर्म कौन बांधता है ? संयत, असंयत अथवा संयतासंयत [३६] ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! असंयत, संयतासंयत और संयत—ये सब कर्म बन्ध करते हैं। दशवें गुण-स्थान के अधिकारी पुण्य और पाप दोनों का बन्ध करते हैं और ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान के अधिकारी केवल पुण्य का बन्ध करते हैं।

कर्म-बन्ध कैसे ?

गौतम—"भगवन् ! जीव कर्म-बन्ध कैसे करता है ?"

भगवान्—"गौतम ! ज्ञानावरण के तीव्र उदय से दर्शनावरण का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरण के तीव्र उदय से दर्शन-मोह का तीव्र उदय होता है। दर्शन-मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है। मिथ्यात्व के उदय से जीव के आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध होता है [३७]।

कर्म-बन्ध का मुख्य हेतु कषाय है। संक्षेप में कषाय के दो भेद हैं—राग और द्वेष। विस्तार में उसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। इनके तारतम्य की चार रेखाएँ हैं—(१) अनन्तानुबन्धी (२) अप्रत्याख्यान (३) प्रत्याख्यान और (४) संज्वलन।

पुण्य बन्ध का हेतु

पुण्य-बन्ध का हेतु शुभ-योग (शरीर, वाणी और मन का शुभ व्यापार) है। कई आचार्य मन्द-कषाय से पुण्य-बन्ध होना मानते हैं[३८]। किन्तु आचार्य भिक्षु इसे मान्य नहीं करते। उनके मतानुसार मन्द-कषाय से पुण्य का आकर्षण नहीं होता। किन्तु कषाय की मन्दता से होने वाले शुभ-योग के समय नाम-कर्म के द्वारा उनका आकर्षण होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार शुभोपयोग एक अपराध है[३९]। सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित—ये तीनों मुक्ति के हेतु हैं। इनके द्वारा कर्म का बन्ध नहीं होता। आत्मा का निश्चय (सम्यक्-दर्शन) आत्मा का बोध (सम्यक्-ज्ञान) और आत्मा में रमण (सम्यक्-चारित्र)—ये बन्धन के निमित्त नहीं हो सकते।

जिस अंश में ये तीनों हैं, उस अंश में मुक्ति है। और जिस अंश में कषाय या नाम-कर्म का उदय है, उस अंश में बंधन है।

"सम्यक्त्व और चारित्र से देव गति के आयुष्य का बन्धन होता है"—ऐसे प्रकरण जो हैं, वे सापेक्ष हैं। इनका आशय यह है कि सम्यक्त्व और चारित्र की अवस्था में जो आयुष्य बन्धता है, वह देव-गति का ही बन्धता है। इसका आशय "सम्यक्त्व या चारित्र से देव-गति का आयुष्य बन्धता है"—यह नहीं है।

पाप-कर्म का विकर्षण (निर्जरण) और पुण्यकर्म का आकर्षण—ये दोनों विरोधी कार्य हैं। एक ही कारण से निष्पन्न होते तो इनमें विरोध आता। पर ऐसा नहीं होता। पाप-कर्म के विकर्षण का कारण आत्मा की पवित्रता (कर्म-शास्त्र की भाषा में 'शुभयोग' का वह अंश, जो पूर्वार्जित पाप-कर्म के विलय से पवित्र बनता है) है। पुण्य-कर्म के आकर्षण का कारण आत्मिक चंचलता। (कर्म-शास्त्र की भाषा में 'शुभ योग' का वह अंश जो नाम-कर्म

के उदय से चंचल बनता है)। आत्मा की पवित्रता और चंचलता—इन दोनों की संयुक्त संज्ञा शुभ-योग है। यह दो कारणों की संयुक्त निष्पत्ति है। इसलिए इससे दो कार्य (पाप-कर्म का विकर्षण और पुण्य-कर्म का आकर्षण निष्पन्न होते हैं। वास्तव में यह व्यावहारिक निरूपण है। पाप-कर्म का विकर्षण आत्मा की पवित्रता से होता है और पुण्य-कर्म का आकर्षण होता है, वह आत्म-चंचलता-जनित अनिवार्यता है। जब तक आत्मा चंचल होता है, तब तक कर्म परमाणुओं का आकर्षण कभी नहीं रुकता। चंचलता के साथ आत्मा की पवित्रता (अमोह या वितरागभाव) का योग होता है तो पुण्य के परमाणुओं का और उसके साथ आत्मा की अपवित्रता (मोह) का योग होता है तो पाप के परमाणुओं का आकर्षण होता है। यह आकर्षण चंचलता का अनिवार्य परिणाम है। चंचलता रुकते ही उनका आकर्षण रुक जाता है। आत्मा पूर्ण अनास्रव हो जाता है।

कर्म का नाना रूपों में दर्शन

बद्ध आत्मा के द्वारा आठ प्रकार की पुद्गल-वर्गणाएं गृहीत होती हैं[४०]। उनमें कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल हैं, वे कर्म बनने के योग्य (कर्म-प्रायोग्य) होते हैं। उनके तीन लक्षण हैं—(१) अनन्त-प्रदेशी-स्कन्धत्व (२) चतुःस्पर्शित्व, (३) सत्-असत्-परिणाम—ग्रहण योग्यत्व[४१]।

(१) संख्यात-असंख्यात—प्रदेशी स्कन्ध कर्म रूप में परिणत नहीं हो सकते। (२) दो, तीन, चार, पांच, छह, सात और आठ स्पर्श वाले पुद्गल स्कन्ध-कर्म रूप में परिणत नहीं हो सकते। (३) आत्मा की सत् असत् प्रवृत्ति (शुभ-अशुभ आस्रव) के बिना सहज प्रवृत्ति से ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल-स्कन्ध कर्म-रूप में परिणत नहीं हो सकते। कर्म-प्रायोग्य पुद्गल ही आत्मा की सत्-असत् प्रवृत्ति द्वारा गृहीत होकर कर्म बनते हैं। कर्म की पहली अवस्था बन्ध है और अन्तिम अवस्था है वेदना। कर्म के विसम्बन्ध की अवस्था निर्जरा है। किन्तु वह कर्म की नहीं होती, अकर्म की होती है। वेदना कर्म की होती है और निर्जरा अकर्म की[४२]। इसलिए व्यवहार में कर्म की अन्तिम दशा निर्जरा और निश्चय में वह वेदना मानी गई है। बन्ध और

वेदना या निर्जरा के बीच भी उनकी अनेक अवस्थाएं बनती हैं। कर्म की सारी दशाएं अनेक रूपों में वर्णित हुई हैं।

प्रज्ञापना के अनुसार कर्म की दशाएं—(१) बद्ध (२) स्पृष्ट (३) बद्ध-स्पर्श-स्पृष्ट (४) संचित (५) चित (६) उपचित (७) आपाक-प्राप्त (८) विपाक-प्राप्त (९) फल-प्राप्त (१०) उदय-प्राप्त [४३]।

स्थानांग के अनुसार कर्म की दशाएं—(१) चय (२) उपचय (३) बन्ध (४) उदीरणा (५) वेदना (६) निर्जरा [४४]।

भगवती के अनुसार कर्म की दशाएं—(१) भेद (२) चय (३) उपचय (४) उदीरणा (५) वेदना (६) निर्जरा (७) अपवर्तन (८) संक्रमण (९) नियति (१०) निकाचना[४५]।

(१) जीव की राग-द्वेषात्मक परिणति से-कर्म रूप में परिणत होने वाले पुद्गल 'बद्ध' कहलाते हैं।

(२) आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लेष पाये हुए कर्म-पुद्गल 'स्पृष्ट' कहलाते हैं।

(३) आत्म-प्रदेशों के साथ-साथ दृढ़रूप में बन्धे हुए तथा गाढ स्पर्श से उन्हें छूए हुए (आवेष्टित परिवेष्टित किये हुए) कर्म-पुद्गल 'बद्ध-स्पृष्ट' कहलाते हैं।

कर्म-प्रायोग्य पुद्गलों का कर्म-रूप में परिवर्तन, आत्मा के साथ उनका मिलन और आत्मा के साथ एकीभाव—ये तीनों बन्धकालीन अवस्थाएं हैं।

(४) कर्म का वाधा-काल या पकने का काल पूरा नहीं होता, तब तक वह फल देने योग्य नहीं बनता। अबाधा-काल बन्ध और उदय का आन्तरिक काल है। अबाधा-काल पूर्ण होने के पश्चात् फल देने योग्य निषेक बनते हैं। वह 'संचित' अवस्था है।

(५) कर्मों की प्रदेश-हानि और रस-वृद्धि के रूप में रचना होती है, वह 'चित' अवस्था है।

(६) संक्रमण के द्वारा जो कर्म का उपचय होता है, वह 'उपचित' अवस्था है।

ये तीनों बन्धन की उत्तरकालीन अवस्थाएं हैं।

(१) अपाक-प्राप्त (थोड़ा पका हुआ) (२) विपाक-प्राप्त—(पूरा पका हुआ) (३) फल-प्राप्त (फल देने में समर्थ)—ये तीनों उदय-सम्बद्ध हैं। इनके बाद वह कर्म उदय-प्राप्त होता है।

फल विपाक

एक समय की बात है, भगवान् राजगृह के गुणशील नामक चैत्य में समवसृत थे। उस समय कालोदायी अणगार भगवान् के पास आये, वन्दना नमस्कार कर बोले—"भगवन्! जीवों के किए हुए पाप-कर्मों का परिपाक पापकारी होता है[४१] ?

भगवान्—"कालोदायी ! होता है।"

कालोदायी—"भगवन् ! यह कैसे होता है ?"

भगवान्—"कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक-शुद्ध (परिपक्व), अठारह प्रकार के व्यञ्जनों से परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है, वह (भोजन) आपातभद्र (खाते समय अच्छा) होता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है, त्यों-त्यों उसमें दुर्गन्ध पैदा होती है—वह परिणाम-भद्र नहीं होता। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शन शल्य (अठारह प्रकार के पाप-कर्म) आपातभद्र और परिणाम विरस होते हैं। कालोदायी ! यूं पाप-कर्म पाप-विपाक वाले होते है।"

कालोदायी—"भगवन्! जीवों के किए हुए कल्याण-कर्मों का परिपाक कल्याणकारी होता है ?"

भगवान्—"कालोदायी ! होता है।"

कालोदायी—"भगवन्! कैसे होता है ?"

भगवान्—"कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक शुद्ध (परिपक्व), अठारह प्रकार के व्यजनों से परिपूर्ण, औषध-मिश्रित भोजन करता है, वह आपात भद्र नहीं लगता, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है, त्यों-त्यों उसमें सुरूपता, सुवर्णता और सुखानुभूति उत्पन्न होती है—वह परिणाम-भद्र होता है। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात-विरति यावत्

मिथ्या दर्शन-शल्य-विरति आपातभद्र नहीं लगती किन्तु परिणाम भद्र होती है। कालोदायी ! यूं कल्याण-कर्म कल्याण-विपाक वाले होते हैं।"

उदय

उदय का अर्थ है—काल-मर्यादा का परिवर्तन। वस्तु की पहली अवस्था की काल-मर्यादा पूरी होती है—यह उसका अनुदय है, दूसरी की काल-मर्यादा का आरम्भ होता है—वह उसका उदय है। बन्धे हुए कर्म-पुद्गल अपना कार्य करने में समर्थ हो जाते हैं, तब उनके निषेक। (कर्म पुद्गलों की एक काल में उदय होने योग्य रचना-विशेष) प्रगट होने लगते हैं, वह उदय है[४७]।

उदय के दो रूप

कर्म का उदय दो प्रकार का होता है। (१) प्राप्त-काल कर्म का उदय (२) अप्राप्त-काल कर्म का उदय। कर्म का बन्ध होते ही उसमें विपाक-प्रदर्शन की शक्ति नहीं हो जाती। वह निश्चित अवधि के पश्चात् ही पैदा होती है। कर्म की यह अवस्था अबाधा कहलाती है। उस समय कर्म का अवस्थान मात्र होता है किन्तु उसका कर्तृत्व प्रगट नहीं होता। इसलिए वह कर्म का अवस्थान-काल है। अबाधा का अर्थ है—अन्तर। बन्ध और उदय के अन्तर का जो काल है, वह अबाधाकाल है[४८]।

अबाधा-काल के द्वारा कर्म स्थिति के दो भाग हो जाते हैं। (१) अवस्थान-काल (२) अनुभव-काल या निषेक-काल[४९]। अबाधा-काल के समय कोरा अवस्थान होता है, अनुभव नहीं। अनुभव अबाधा-काल पूरा होने पर होता है। जितना अबाधा-काल होता है, उतना अनुभव-काल से अवस्थान-काल अधिक होता है। अबाधा-काल को छोड़कर विचार किया जाए तो अवस्थान और निषेक या अनुभव—ये दोनों सम-काल मर्यादा वाले होते हैं। चिरकाल और तीव्र अनुभाग वाले कर्म तपस्या के द्वारा विफल बना थोड़े समय में भोग लिए जाते हैं। आत्मा शीघ्र उज्ज्वल बन जाती है।

काल-मर्यादा पूर्ण होने पर कर्म का वेदन या भोग प्रारब्ध होता है। वह प्राप्त-काल उदय है। यदि स्वाभाविक पद्धति से ही कर्म उदय में आएं तो

आकस्मिक-घटनाओं की सम्भावना तथा तपस्या की प्रयोजकता ही नष्ट हो जाती है। किन्तु अपवर्तना के द्वारा कर्म की उदीरणा या अप्राप्त-काल उदय होता है। इसलिए आकस्मिक घटनाएं भी कर्म-सिद्धान्त के प्रतिसन्देह पैदा नहीं करतीं। तपस्या की सफलता का भी यही हेतु है।

सहेतुक और निर्हेतुक उदय :—

कर्म का परिपाक और उदय अपने आप भी होता है और दूसरों के द्वारा भी, सहेतुक भी होता है और निर्हेतुक भी। कोई बाहरी कारण नहीं मिला, क्रोध-वेदनीय-पुद्‌गलों के तीव्र विपाक से अपने आप क्रोध आ गया—यह उनका निर्हेतुक उदय है [५०]। इसी प्रकार हास्य,[५१] भय, वेद (विकार) और कषाय[५२] के पुद्‌गलों का भी दोनों प्रकार का उदय होता है [५३]।

अपने आप उदय में आने वाले कर्म के हेतु

गति-हेतुक-उदय—नरक गति में असात (असुख) का उदय तीव्र होता है। यह गति-हेतुक विपाक-उदय है।

स्थिति-हेतुक-उदय—सर्वोत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व-मोह का तीव्र उदय होता है। यह स्थिति-हेतुक विपाक-उदय है।

भवहेतुक उदय—दर्शनावरण (जिसके उदय से नींद आती है) सबके होता है, फिर भी नींद मनुष्य और तिर्यंच दोनों को आती है, देव और नरक को नहीं आती। यह भव (जन्म) हेतुक-विपाक-उदय है। गति-स्थिति और भव के निमित्त से कई कर्मों का अपने आप विपाक-उदय हो आता है।

दूसरों द्वारा उदय में आने वाले कर्म के हेतु

पुद्‌गल-हेतुक-उदय—किसी ने पत्थर फेंका, चोट लगी, असात का उदय हो आया—यह दूसरों के द्वारा किया हुआ असात-वेदनीय का पुद्‌गल-हेतुक विपाक-उदय है।

किसी ने गाली दी, क्रोध आ गया, यह क्रोध-वेदनीय-पुद्‌गलों का सहेतुक विपाक-उदय है।

पुद्‌गल-परिणाम के द्वारा होने वाला उदय—भोजन किया, वह पचा नहीं अजीर्ण हो गया। उससे रोग पैदा हुआ, यह असात-वेदनीय का विपाक-उदय है।

मदिरा पी, उन्माद आ गया—ज्ञानावरण का विपाक-उदय हुआ। यह पुद्गल परिणमन हेतुक विपाक-उदय है।

इस प्रकार अनेक हेतुओं से कर्मों का विपाक-उदय होता है[५४]। अगर वे हेतु नहीं मिलते हैं तो उन कर्मों का विपाक-रूप में उदय नहीं होता। उदय का एक दूसरा प्रकार और है। वह है—प्रदेश-उदय। इसमें कर्म-फल का स्पष्ट अनुभव नहीं होता। यह कर्म-वेदन की अस्पष्टानुभूति वाली दशा है। जो कर्म-बन्ध होता है, वह अवश्य भोगा जाता है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! किये हुए पाप कर्म भोगे बिना नहीं छूटते, क्या यह सच है?

भगवान्—हाँ, गौतम! यह सच है।

गौतम—कैसे भगवन्?

भगवान्—गौतम! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाए हैं—प्रदेश-कर्म[५५] और अनुभाग-कर्म[५६]। जो प्रदेश-कर्म हैं, वे नियमतः (अवश्य ही भोगे जाते हैं। जो अनुभाग-कर्म हैं वे अनुभाग (विपाक) रूप में कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नहीं भोगे जाते[५७]।

कर्म के उदय से क्या होता है?

(१) ज्ञानावरण के उदय से जीव ज्ञातव्य विषय को नहीं जानता, जिज्ञासु होने पर भी नहीं जानता। जानकर भी नहीं जानता—पहले जानकर फिर नहीं जानता। उसका ज्ञान आवृत्त हो जाता है। इसके अनुभाव दस हैं—श्रोत्रावरण, श्रोत्र-विज्ञानावरण, नेत्रावरण, नेत्र-विज्ञानावरण, घ्राणावरण, घ्राण-विज्ञानावरण, रसावरण, रस-विज्ञानावरण, स्पर्शावरण, स्पर्श-विज्ञानावरण।

(२) दर्शनावरण के उदय से जीव द्रष्टव्य-विषय को नहीं देखता, दिदृक्षु (देखने का इच्छुक) होने पर भी नहीं देखता। उसका दर्शन आच्छन्न हो जाता है। इसके अनुभाव नौ हैं—निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि, चक्षु-दर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण, अवधि-दर्शनावरण, केवल-दर्शनावरण।

(३) क—सात वेदनीय कर्म के उदय से जीव सुख की अनुभूति

करता है। इसके अनुभाव आठ हैं—मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गन्ध, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ स्पर्श, मनः-सुखता, वाक्-सुखता, काय-सुखता।

(ख) असात वेदनीय कर्म के उदय से जीव दुःख की अनुभूति करता है। इसके अनुभाव आठ हैं—अमनोज्ञ शब्द, अमनोज्ञ रूप, अमनोज्ञ रस, अमनोज्ञ गन्ध, अमनोज्ञ स्पर्श, मनोदुःखता, वाक्-दुःखता, काय-दुःखता।

(४) मोह-कर्म के उदय से जीव मिथ्या दृष्टि और चारित्रहीन बनता है। इसके अनुभाव पांच हैं—सम्यक्त्व वेदनीय, मिथ्यात्व-वेदनीय, सम्यग्-मिथ्यात्व-वेदनीय, कषाय-वेदनीय, नोकषाय-वेदनीय।

(५) आयु-कर्म के उदय से जीव अमुक समय तक अमुक प्रकार का जीवन जीता है। इसके अनुभाव चार हैं—नैरयिकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु, देवायु।

(६) क—शुभनाम कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक उत्कर्ष पाता है। इसके अनुभाव चौदह हैं—इष्ट शब्द, इष्ट रूप, इष्ट गन्ध, इष्ट रस, इष्ट स्पर्श, इष्ट गति, इष्ट स्थिति, इष्ट लावण्य, इष्ट यशःकीर्ति, इष्ट उत्थान—कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम; इष्ट स्वरता, कान्त स्वरता, प्रिय स्वरता, मनोज्ञ स्वरता।

ख—अशुभ नाम-कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक अपकर्ष पाता है। इसके अनुभाव चौदह हैं—अनिष्ट शब्द, अनिष्ट रूप, अनिष्ट गन्ध, अनिष्ट रस, अनिष्ट स्पर्श, अनिष्ट गति, अनिष्ट स्थिति, अनिष्ट-लावण्य, अनिष्ट यशोःकीर्ति, अनिष्ट उत्थान—कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम; अनिष्ट स्वरता, हीन स्वरता, दीन स्वरता। अमनोज्ञ स्वरता।

(७) क—उच्च-गोत्र-कर्म के उदय से जीव विशिष्ट बनता है। इसके अनुभाव आठ हैं—जाति-विशिष्टता, कुल विशिष्टता, बल-विशिष्टता, रूप-विशिष्टता, तपो विशिष्टता, श्रुत-विशिष्टता, लाभ-विशिष्टता, ऐश्वर्य विशिष्टता।

ख—नीच गोत्र-कर्म के उदय से जीव हीन बनता है। इसके अनुभाव आठ हैं—जाति-विहीनता, कुल-विहीनता, बल-विहीनता, रूप-विहीनता, तपो विहीनता, श्रुत-विहीनता, लाभ-विहीनता, ऐश्वर्य विहीनता।

(८) अन्तराय कर्म के उदय से वर्तमान लब्ध वस्तु का विनाश और लभ्य

वस्तु के आगामी-पथ का अवरोध होता है। इसके अनुभाव पांच हैं—दाना-न्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय।

फल की प्रक्रिया

कर्म जड़—अचेतन है। तब वह जीव को नियमित फल कैसे दे सकता है? यह प्रश्न न्याय-दर्शन के प्रणेता गौतम ऋषि के 'ईश्वर' के अभ्युपगम का हेतु बना। इसीलिए उन्होंने ईश्वर को कर्म-फल का नियन्ता बताया, जिसका उल्लेख कुछ पहले किया जा चुका है। जैन दर्शन कर्म-फल का नियमन करने के लिए ईश्वर को आवश्यक नहीं समझता। कर्म-परमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम होता है [५८]। वह द्रव्य [५९], क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति[६०], स्थिति, पुद्गल—परिमाण आदि उदयानुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन में समर्थ हो जीवात्मा के संस्कारों को विकृत करता है, उससे उनका फलोपभोग होता है। सही अर्थ में आत्मा अपने किये का अपने आप फल भोगता है,[६१] कर्म-परमाणु सहकारी या सचेतक का कार्य करते हैं। विष और अमृत, अपथ्य और पथ्य भोजन को कुछ भी ज्ञान नहीं होता, फिर भी आत्मा का संयोग पा उनकी वैसी परिणति हो जाती है। उनका परिपाक होते ही खाने वाले को इष्ट या अनिष्ट फल मिल जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में परमाणु की विचित्र शक्ति और उसके नियमन के विविध प्रयोगों के अध्ययन के बाद कर्मों की फलदान-शक्ति के बारे में कोई सन्देह नहीं रहता।

पुण्य-पाप

मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया से आत्म-प्रदेशों में कम्पन होता है। उससे कर्म-परमाणु आत्मा की ओर खिंचते हैं।

क्रिया शुभ होती है तो शुभकर्म-परमाणु और वह अशुभ होती है तो अशुभकर्म-परमाणु आत्मा से आ चिपकते हैं। पुण्य और पाप दोनों विजातीय तत्त्व हैं। इसलिए ये दोनों आत्मा की परतन्त्रता के हेतु हैं। आचार्यों ने पुण्य कर्म की सोने और पाप-कर्म की लोहे की बेड़ी से तुलना की है [६२]।

स्वतन्त्रता के इच्छुक मुमुक्षु के लिए वे दोनों हेय हैं। मोक्ष का हेतु रत्न-त्रयी (सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र) है जो व्यक्ति इस तत्त्व को

नहीं जानता वही पुण्य को उपादेय और पाप को हेय मानता है। निश्चय दृष्टि से ये दोनों हेय हैं [६३]।

पुण्य की हेयता के बारे में जैन-परम्परा एक मत है। उसकी उपादेयता में विचार-भेद भी है। कई आचार्य उसे मोक्ष का परम्पर-हेतु मान क्वचित् उपादेय भी मानते हैं [६४]। कई आचार्य उसे मोक्ष का परम्पर हेतु मानते हुए भी उपादेय नहीं मानते।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य और पाप का आकर्षण करनेवाली विचार-धारा को पर समय माना है [६५]।

योगीन्दु कहते हैं—"पुण्य से वैभव, वैभव से अहंकार, अहंकार से बुद्धि-नाश और बुद्धि-नाश से पाप होता है।" इसलिए हमें वह नहीं चाहिए [६६]।

टीकाकार के अनुसार यह क्रम उन्हीं के लिए है, जो पुण्य की आकांक्षा (निदान) पूर्वक तप तपने वाले हैं। आत्म-शुद्धि के लिए तप तपने वालों के अवांछित पुण्य का आकर्षण होता है [६७]। उनके लिए यह क्रम नहीं है—वह उन्हें बुद्धि-विनाश की ओर नहीं ले जाता [६८]।

पुण्य काम्य नहीं है। योगीन्दु के शब्दों में—"वे पुण्य किस काम के, जो राज्य देकर जीव को दुःख परम्परा की ओर ढकेल दे। आत्म-दर्शन की खोज में लगा हुआ व्यक्ति मर जाए—यह अच्छा है, किन्तु आत्म-दर्शन से विमुख होकर पुण्य चाहे—वह अच्छा नहीं है [६९]।"

आत्म-साधना के क्षेत्र में पुण्य की सीधी उपादेयता नहीं है, इस दृष्टि से पूर्ण सामञ्जस्य है।

मिश्रण नहीं होता

पुण्य और पाप के परमाणुओं के आकर्षण-हेतु अलग-अलग हैं। एक ही हेतु से दोनों के परमाणुओं का आकर्षण नहीं होता। आत्मा के परिणाम या तो शुभ होते हैं या अशुभ। किन्तु शुभ और अशुभ दोनों एक साथ नहीं होते।

कोरा पुण्य

कई आचार्य पाप कर्म का विकर्षण किए बिना ही पुण्य कर्म का आकर्षण होना मानते हैं। किन्तु यही चिन्तनीय है। प्रवृत्ति मात्र में आकर्षण और

विकर्षण दोनों होते हैं। श्वेताम्बर आगमों में इसका पूर्ण समर्थन मिलता है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! श्रमण को वंदन करने से क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम! श्रमण को वंदन करने वाला नीच-गोत्र-कर्म को खपाता है और उच्च-गोत्र-कर्म का बन्ध करता है[७०]। यहाँ एक शुभ प्रवृत्ति से पाप कर्म का क्षय और पुण्य कर्म का बन्ध—इन दोनों कार्यों की निष्पत्ति मानी गई है तर्क-दृष्टि से भी यह मान्यता अधिक संगत लगती है।

धर्म और पुण्य

जैन दर्शन में धर्म और पुण्य—ये दो पृथक् तत्त्व हैं। शाब्दिक दृष्टि से पुण्य शब्द धर्म के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, किन्तु तत्त्व-मीमांसा में ये कभी एक नहीं होते[७१]। धर्म आत्मा की राग-द्वेषहीन परिणति है (शुभ परिणाम है) और पुण्य शुभकर्ममय पुद्गल है[७२]। दूसरे शब्दों में—धर्म आत्मा की पर्याय है[७३] और पुण्य अजीव (पुद्गल) की पर्याय है[७४]। दूसरी बात धर्म (निर्जरारूप, यहाँ सम्वर की अपेक्षा नहीं है) सत्क्रिया है और पुण्य उसका फल है[७५]; कारण कि सत्प्रवृत्ति के बिना पुण्य नहीं होता। तीसरी बात धर्म आत्म-शुद्धि—आत्म-मुक्ति का साधन है[७६], और पुण्य आत्मा के लिए बन्धन है[७७]। अधर्म और पाप की भी यही स्थिति है। ये दोनों धर्म और पुण्य के ठीक प्रतिपक्षी हैं। जैसे—सत्प्रवृत्तिरूप धर्म के बिना पुण्य की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही अधर्म के बिना पाप की भी उत्पत्ति नहीं होती[७८]। पुण्य-पाप फल है, जीव की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति से उसके साथ चिपटने वाले पुद्गल हैं तथा ये दोनों धर्म और अधर्म के लक्षण हैं—गमक हैं[७९]। लक्षण लक्ष्य के बिना अकेला पैदा नहीं होता। जीव की क्रिया दो भागों में विभक्त होती है—धर्म अधर्म, सत् अथवा असत्[८०]। अधर्म से आत्मा के संस्कार विकृत होते हैं, पाप का बन्ध होता है। धर्म से आत्म-शुद्धि होती है और उसके साथ-साथ पुण्य का बन्ध होता है। इसलिए इनकी उत्पत्ति स्वतन्त्र नहीं हो सकती। पुण्य-पाप कर्म का ग्रहण होना या न होना आत्मा के अध्यवसाय-परिणाम पर निर्भर है[८१]। शुभयोग तपस्या-धर्म है और वही शुभयोग पुण्य का आस्रव है[८२]। अनुकम्पा, क्षमा, सराग-संयम, अल्प-परिग्रह, योग-

ऋजुता आदि-आदि पुण्य-बन्ध के हेतु हैं [८३]। ये सत्प्रवृत्ति रूप होने के कारण धर्म हैं।

सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने शुभभावयुक्त जीव को पुण्य और अशुभभावयुक्त जीव को पाप कहा है [८४]। अहिंसा आदि व्रतों का पालन करना शुभोपयोग है। इसमें प्रवृत्त जीव के शुभ कर्म का जो बन्ध होता है, वह पुण्य है। अभेदोपचार से पुण्य के कारणभूत शुभोपयोग प्रवृत्त जीव को ही पुण्यरूप कहा गया है।

इसलिए अमुक प्रवृत्ति में धर्म या अधर्म नहीं होता, केवल पुण्य या पाप होता है, यह मानना संगत नहीं। कहीं-कहीं पुण्य हेतुक सत्प्रवृत्तियों को भी पुण्य कहा गया है [८५]। यह कारण में कार्य का उपचार, विवक्षा की विचित्रता अथवा सापेक्ष (गौण-मुख्य-रूप) दृष्टिकोण है। तात्पर्य में जहाँ पुण्य है, वहाँ सत्प्रवृत्तिरूप धर्म अवश्य होता है। इसी बात को पूर्ववर्ती आचार्यों ने इस रूप में समझाया है कि "अर्थ और काम—ये पुण्य के फल हैं। इनके लिए दौड़-धूप मत करो [८६]। अधिक से अधिक धर्म का आचरण करो। क्योंकि उसके बिना ये भी मिलने वाले नहीं हैं।" अधर्म का फल दुर्गति है। धर्म का मुख्य फल आत्म-शुद्धि—मोक्ष है। किन्तु मोक्ष न मिलने तक गौण फल के रूप में पुण्य का बन्ध भी होता रहता है, और उससे अनिवार्यतया अर्थ, काम आदि-आदि पौद्‌गलिक सुख-साधनों की उपलब्धि भी होती रहती है [८७]। इसीलिए यह प्रसिद्ध सूक्ति है—"सुखं हि जगतामेकं काम्यं धर्मेण लभ्यते।"

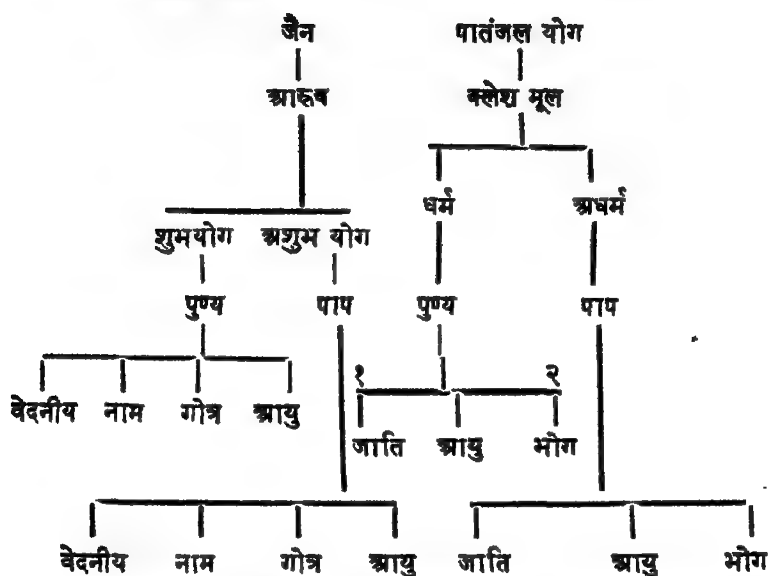
महाभारत के अन्त में भी यही लिखा है।

"अरे भुजा उठाकर मैं चिल्ला रहा हूँ, पर कोई भी नहीं सुनता। धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। तब तुम उसका आचरण क्यों नहीं करते हो [८८]?"

योगसूत्र के अनुसार भी पुण्य की उत्पत्ति धर्म के साथ ही होती है, यही फलित होता है। जैसे—धर्म और अधर्म—ये क्लेशमूल हैं [८९]। इन मूलसहित क्लेशाशय का परिपाक होने पर उनके तीन फल होते हैं—जाति, आयु और भोग। ये दो प्रकार के हैं—"सुखद और दुःखद। जिनका हेतु पुण्य होता है, वे सुखद और जिनका हेतु पाप होता है, वे दुःखद होते हैं।" इससे फलित

यही होता है कि महर्षि पतंजलि ने भी पुण्य-पाप की स्वतन्त्र उत्पत्ति नहीं मानी है। जैन विचारों के साथ उन्हें तोलें तो कोई अन्तर नहीं आता।

तुलना के लिए देखें :—



कुन्दकुन्दाचार्य ने शुद्ध-दृष्टि की अपेक्षा प्रतिक्रमण (आत्मालोचन), प्रायश्चित्त को पुण्यबन्ध का हेतु होने के कारण विष कहा है[१०]।

आचार्य भिक्षु ने कहा है—"पुण्य की इच्छा करने से पाप का बन्ध होता है[११]।" आगम कहते हैं—"इहलोक, परलोक, पूजा-श्लाघा आदि के लिए धर्म मत करो, केवल आत्म-शुद्धि के लिए करो[१२]।" यही बात वेदान्त के आचार्यों ने कही है कि "मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए[१३]।" क्योंकि आत्म-साधक का लक्ष्य मोक्ष होता है और पुण्य संसार-भ्रमण के हेतु हैं। भगवान् महावीर ने कहा है—"पुण्य और पाप—इन दोनों के क्षय से मुक्ति मिलती है[१४]।" "जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा संसार में परिभ्रमण करता है[१५]।" गीता भी यहीं कहती है—"बुद्धिमान्

१—जाति-जैन परिभाषा में नाम कर्म की एक प्रकृति के साथ उसकी तुलना होती है।

२—भोग-वेदनीय।

सुकृत और दुष्कृत दोनों को छोड़ देता है[९६]।" "आस्रव संसार का हेतु है और संवर मोक्ष का, जैनी दृष्टि का बस यही सार है [९७]।" अभयदेवसूरि ने स्थानांग की टीका में आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप को संसार-भ्रमण के हेतु कहा है [९८]। आचार्य भिक्षु ने इसे यों समझाया है कि "पुण्य से भोग मिलते हैं, जो पुण्य की इच्छा करता है, वह भोगों की इच्छा करता है [९९]। भोग की इच्छा से संसार बढ़ता है।

इसका निगमन यों होना चाहिए कि अयोगी-अवस्था (पूर्ण-समाधि-दशा) से पूर्व सत्प्रवृत्ति के साथ पुण्य-बन्ध अनिवार्य रूप से होता है। फिर भी पुण्य की इच्छा से कोई भी सत्प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक सत्प्रवृत्ति का लक्ष्य होना चाहिए—मोक्ष—आत्म-विकास। भारतीय दर्शनों का वही चरम लक्ष्य है। लौकिक अभ्युदय धर्म का आनुसंगिक फल है—धर्म के साथ अपने आप फलने वाला है। यह शाश्वतिक या चरम लक्ष्य नहीं है। इसी सिद्धान्त को लेकर कई व्यक्ति भारतीय दर्शनों पर यह आक्षेप करते हैं कि उन्होंने लौकिक अभ्युदय की नितान्त उपेक्षा की, पर सही अर्थ में बात यह नहीं है। ऊपर की पंक्तियों का विवेचन धार्मिक दृष्टिकोण का है, लौकिक वृत्तियों में रहने वाले अभ्युदय की सर्वथा उपेक्षा कर ही कैसे सकते हैं। हां फिरभी भारतीय एकान्त-भौतिकता से बहुत बचे हैं। उन्होंने प्रेय और श्रेय को एक नहीं माना [१००]। अभ्युदय को ही सब कुछ मानने वाले भौतिकवादियों ने युग को कितना जटिल बना दिया, इसे कौन अनुभव नहीं करता।

उदीरणा-योग्य कर्म

गौतम ने पूछा—भगवन्! जीव उदीर्ण (कर्म-पुद्‌गलों) की उदीरणा करता है। अनुदीर्ण (कर्म-पुद्‌गलों) की उदीरणा करता है? अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा-भव्य (कर्म-पुद्‌गलों) की उदीरणा करता है? अथवा उदयानन्तर पश्चात् कृत (कर्म पुद्‌गलों) की उदीरणा करता है?

भगवान् ने कहा—गौतम! जीव उदीर्ण की उदीरणा नहीं करता, अनुदीर्ण की उदीरणा नहीं करता, अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा-भव्य की उदीरणा करता है। उदयानन्तर पश्चात्-कृत कर्म की उदीरणा नहीं करता [१०१]।

१—उदीरित (उदीर्ण-उदीरणा किये हुए) कर्म-पुद्‌गलों की फिर से

उदीरणा करे तो उस (उदीरणा) की कहीं भी परिसमाप्ति नहीं होती। इसलिए उदीर्ण की उदीरणा का निषेध किया गया है।

२—जिन कर्म-पुद्गलों की उदीरणा सुदूर भविष्य में होने वाली है, अथवा जिनकी उदीरणा नहीं ही होने वाली है, उन अनुदीर्ण कर्म पुद्गलों की भी उदीरणा नहीं हो सकती।

३—जो कर्म-पुद्गल उदय में आ चुके (उदयानन्तर पश्चात् कृत), वे सामर्थ्यहीन बन गए, इसलिए उनकी भी उदीरणा नहीं होती।

४—जो कर्म-पुद्गल वर्तमान में उदीरणा-योग्य (अनुदीर्ण-उदीरणा-भव्य) हैं, उन हीं की उदीरणा होती है।

उदीरणा का हेतु पुरुषार्थ

कर्म के काल-प्राप्त-उदय (स्वाभाविक उदय) में नए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। बन्ध-स्थिति पूरी होती है, कर्म-पुद्गल अपने आप उदय में आ जाते हैं। उदीरणा द्वारा उन्हें स्थिति-क्षय से पहले उदय में लाया जाता है। इसलिए इसमें विशेष प्रयत्न या पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

गौतम ने पूछा—"भगवन् ! अनुदीर्ण, उदीरणा-भव्य (कर्म-पुद्गलों) की जो उदीरणा होती है, वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य पुरुषकार और पराक्रम के द्वारा होती है अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम के द्वारा ?"

भगवान् ने कहा—"गौतम ! जीव उत्थान आदि के द्वारा अनुदीर्ण, उदीरणा भव्य (कर्म-पुद्गलों) की उदीरणा करता है, किन्तु अनुत्थान आदि के द्वारा उदीरणा नहीं करता[१०३]।"

यह भाग्य और पुरुषार्थ का समन्वय है। पुरुषार्थ द्वारा कर्म में परिवर्तन किया जा सकता है, यह स्पष्ट है।

उदीरक पुरुषार्थ के दो रूप :—

कर्म की उदीरणा 'करण' के द्वारा होती है। करण का अर्थ है 'योग'। योग के तीन प्रकार हैं—(१) शारीरिक व्यापार (२) वाचिक व्यापार (३) मानसिक व्यापार। उत्थान आदि इन्हीं के प्रकार हैं, योग शुभ और

अशुभ दोनों प्रकार का होता है। आस्रव-चतुष्टय-रहित योग शुभ और आस्रव-चतुष्टय सहित योग अशुभ। शुभ योग तपस्या है। सत् प्रवृत्ति है। वह उदीरणा का हेतु है। क्रोध, मान, माया, और लोभ की प्रवृत्ति अशुभ योग है। उससे भी उदीरणा होती है[१०३]।

पुरुषार्थ भाग्य को बदल सकता है

वर्तमान की दृष्टि से पुरुषार्थ अवन्ध्य कभी नहीं होता। अतीत की दृष्टि से उसका महत्त्व है भी और नहीं भी। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से दुर्बल होता है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा नहीं कर सकता। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से प्रबल होता है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा भी कर सकता है।

कर्म की बन्धन और उदय—ये दो ही अवस्थाएं होती तो कर्मों का बन्ध होता और वेदना के बाद वे निर्वीर्य हो आत्मा से अलग हो जाते। परिवर्तन को कोई अवकाश नहीं मिलता। कर्म की अवस्थाएं इन दो के अतिरिक्त और भी हैं—

(१) अपवर्तना के द्वारा कर्म-स्थिति का अल्पीकरण (स्थिति-घात) और रस का मन्दीकरण (रस-घात) होता है।

(२) उद्वर्तना के द्वारा कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण और रस का तीव्रीकरण होता है।

(३) उदीरणा के द्वारा लम्बे समय के बाद तीव्र भाव से उदय में आने वाले कर्म तत्काल और मन्द-भाव से उदय में आ जाते हैं।

(४) एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है, उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है, उसका विपाक शुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है[१०४]। जो कर्म शुभ रूप में ही बंधता है और शुभ रूप में ही उदित होता है, वह शुभ और शुभ-विपाक वाला होता है। जो कर्म शुभ रूप में बन्धता है और अशुभ रूप में उदित होता है, वह शुभ और अशुभ विपाक वाला होता है। जो कर्म अशुभ रूप में बन्धता है और शुभ रूप में उदित होता है, वह अशुभ और शुभ-विपाक वाला होता है। जो

कर्म अशुभ रूप में बन्धता है और अशुभ रूप में ही उदित होता है, वह अशुभ और अशुभ-विपाक वाला होता है। कर्म के बन्ध और उदय में जो यह अन्तर आता है, उसका कारण संक्रमण (बध्यमान कर्म में कर्मान्तर का प्रवेश) है।

जिस अध्यवसाय से जीव कर्म-प्रकृति का बन्ध करता है, उसकी तीव्रता के कारण वह पूर्व-बद्ध सजातीय प्रकृति के दलिकों को बध्यमान प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रान्त कर देता है, परिणत या परिवर्तित कर देता है—वह संक्रमण है।

संक्रमण के चार प्रकार हैं—(१) प्रकृति-संक्रम (२) स्थिति संक्रम (३) अनुभाव-संक्रम (४) प्रदेश-संक्रम [१०५]।

प्रकृति संक्रम से पहले बन्धी हुई प्रकृति (कर्म-स्वभाव) वर्तमान में बंधने वाली प्रकृति के रूप में बदल जाती है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव और प्रदेश का परिवर्तन होता है।

ये चारों—(अपवर्तन, उद्वर्तन, उदीरणा और संक्रमण) उदयावलिका (उदय क्षण) से बहिर्भूत कर्म-पुद्गलों के ही होते हैं। उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म-पुद्गल के उदय में कोई परिवर्तन नहीं होता। अनुदित कर्म के उदय में परिवर्तन होता है। पुरुषार्थ के सिद्धान्त का यही ध्रुव आधार है। यदि यह नहीं होता तो कोरा नियतिवाद ही होता।

वेदना

गौतम—भगवन्! अन्ययूथिक कहते हैं—सब जीव एवम्भूत वेदना (जैसे कर्म बाधा वैसे ही) भोगते हैं—यह कैसे है?

भगवान्—गौतम! अन्ययूथिक जो एकान्त कहते हैं, वह मिथ्या है। मैं यूं कहता हूँ—कई जीव एवम्भूत-वेदना भोगते हैं और कई अन्-एवम्भूत वेदना भी भोगते हैं।

गौतम—भगवन्! यह कैसे?

भगवान—गौतम! जो जीव किये हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं, वे एवम्भूत वेदना भोगते हैं और जो जीव किए हुए कर्मों से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं वे अन्-एवम्भूत वेदना भोगते है [१०६]।

काल-निर्णय

उस काल और उस समय की बात है—भगवान् राजगृह के (ईशान-कोणवर्ती) गुणशीलक नाम के चैत्य (व्यन्तरायतन) में समवसृत हुए। परिषद् एकत्रित हुई। भगवान् ने धर्म-देशना की। परिषद् चली गई।

उस समय भगवान् के ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति गौतम को श्रद्धा, संशय या कुतूहल उत्पन्न हुआ। वे भगवान् के पास आए। वन्दना-नमस्कार कर न अति दूर और न अति निकट बैठकर विनयपूर्वक बोले—भगवन्! नैरयिक जीव कितने प्रकार के पुद्‌गलों का भेद और उदीरणा करते हैं?

भगवान् ने कहा—गौतम! नैरयिक जीव कर्म-द्रव्य-वर्गणा (कर्म-पुद्‌गल सजातीय-समूह) की अपेक्षा अणु और बाह्य (सूक्ष्म और स्थूल) इन दो प्रकार के पुद्‌गलों का भेद और उदीरणा करते हैं। इसी प्रकार भेद, चय, उपचय, वेदना, निर्जरा, अपवर्तन, संक्रमण, निधत्ति और निकाचन करते हैं [१०७]।

गौतम—भगवन्! नैरयिक जीव तैजस और कार्मण (कर्म समूह) पुद्‌गलों का ग्रहण अतीत काल में करते हैं? प्रत्युत्पन्न काल में? या अनागत (भविष्य) काल में?

भगवान्—गौतम! नैरयिक तैजस और कार्मण पुद्‌गलों का ग्रहण अतीत काल में नहीं करते, वर्तमान काल में करते हैं, अनागत काल में भी नहीं करते।

गौतम—भगवन्! नैरयिक जीव अतीत में ग्रहण किए हुए तैजस और कार्मण पुद्‌गलों की उदीरणा करते हैं? प्रत्युत्पन्न में ग्रहण किये जाने वाले पुद्‌गलों की? या ग्रहण समय पुरस्कृत (वर्तमान से अगले समय में ग्रहण किये जाने वाले) पुद्‌गलों की?

भगवान्—गौतम! वे अतीत काल में ग्रहण किए हुए पुद्‌गलों की उदीरणा करते हैं, न प्रत्युत्पन्न काल में ग्रहण किये जाने वाले पुद्‌गलों की उदीरणा करते हैं और न ग्रहण समय पुरस्कृत पुद्‌गलों की भी। इसी प्रकार वेदना और निर्जरा भी अतीत काल में गृहीत पुद्‌गलों की होती है।

निर्जरा

संयम का अंतिम परिणाम वियोग है। आत्मा और परमाणु—ये दोनों भिन्न हैं। वियोग में आत्मा आत्मा है और परमाणु परमाणु। इनका संयोग होता है, आत्मा रूपी कहलाती है और परमाणु कर्म।

कर्म-प्रायोग्य परमाणु आत्मा से चिपट कर्म बन जाते हैं। उस पर अपना प्रभाव डालने के बाद वे अकर्म बन जाते हैं, अकर्म बनते ही वे आत्मा से विलग हो जाते हैं। इस विलगाव की दशा का नाम है—निर्जरा।

निर्जरा कर्मों की होती है—यह औपचारिक सत्य है। वस्तु-सत्य यह है कि कर्मों की वेदना—अनुभूति होती है, निर्जरा नहीं होती। निर्जरा अकर्म की होती है। वेदना के बाद कर्म-परमाणुओं का कर्मत्व नष्ट हो जाता है, फिर निर्जरा होती है [१०८]।

कोई फल डाली पर पक कर टूटता है, और किसी फल को प्रयत्न से पकाया जाता है। पकते दोनों हैं, किन्तु पकने की प्रक्रिया दोनों की भिन्न है। जो सहज गति से पकता है, उसका पाक-काल लम्बा होता है और जो प्रयत्न से पकता है, उसका पाक-काल छोटा हो जाता है। कर्म का परिपाक भी ठीक इसी प्रकार होता है। निश्चित काल-मर्यादा से जो कर्म परिपाक होता है, उसकी निर्जरा को विपाकी निर्जरा कहा जाता है। यह अहेतुक निर्जरा है। इसके लिए कोई नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता, इसलिए इसका हेतु न धर्म होता है और न अधर्म।

निश्चित काल-मर्यादा से पहले शुभ-योग के व्यापार से कर्म का परिपाक होकर जो निर्जरा होती है, उसे अविपाकी निर्जरा कहा जाता है। यह सहेतुक निर्जरा है। इसका हेतु शुभ-प्रयत्न है। वह धर्म है। धर्म-हेतुक निर्जरा नव-तत्त्वों में सातवां तत्त्व है। मोक्ष इसीका उत्कृष्ट रूप है। कर्म की पूर्ण निर्जरा (विलय) जो है, वही मोक्ष है। कर्म का अपूर्ण विलय निर्जरा है। दोनों में मात्रा भेद है, स्वरूप भेद नहीं। निर्जरा का अर्थ है—आत्मा का विकास या स्वभावोदय [१०९]। अभेदोपचार की दृष्टि से स्वभावोदय के साधनों को भी निर्जरा कहा जाता है [११०]। इसके बारह प्रकार इसी दृष्टि के आधार पर किये गये हैं [१११]। इसके सकाम और अकाम—इन दो भेदों का

आधार भी यही दृष्टि है[११२]। वस्तुतः सकाम और अकाम तप होता है, निर्जरा नहीं। निर्जरा आत्म-शुद्धि है। उसमें मात्रा का तारतम्य होता है, किन्तु स्वरूप का भेद नहीं होता।

आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन

कर्म की मुख्य दो अवस्थाएं हैं—बन्ध और उदय। दूसरे शब्दों में ग्रहण और फल। "कर्म ग्रहण करने में जीव स्वतन्त्र है और उसका फल भोगने में परतन्त्र[११३]। जैसे कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ता है, वह चढ़ने में स्वतन्त्र है—इच्छानुसार चढ़ता है। प्रमादवश गिर जाए तो वह गिरने में स्वतंत्र नहीं है।" इच्छा से गिरना नहीं चाहता, फिरभी गिर जाता है, इसलिये गिरने में परतन्त्र है। इसी प्रकार विष खाने में स्वतन्त्र है और उसका परिणाम भोगने में परतन्त्र। एक रोगी व्यक्ति भी गरिष्ठ से गरिष्ठ पदार्थ खा सकता है, किन्तु उसके फलस्वरूप होने वाले अजीर्ण से नहीं बच सकता। कर्म-फल भोगने में जीव स्वतन्त्र है, यह कथन प्रायिक है। कहीं-कहीं जीव उसमें स्वतन्त्र भी होते हैं। जीव और कर्म का संघर्ष चलता रहता है[११४]। जीव के काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होती है, तब वह कर्मों को पछाड़ देता है और कर्मों की बहुलता होती है, तब जीव उनसे दब जाता है। इसलिए यह मानना होता है कि कहीं जीव कर्म के अधीन है और कहीं कर्म जीव के अधीन[११५]।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) निकाचित—जिनका विपाक अन्यथा नहीं हो सकता। (२) दलिक—जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है।

सोपक्रम—जो कर्म उपचार साध्य होता है। निरूपक्रम—जिसका कोई प्रतिकार नहीं होता, जिसका उदय अन्यथा नहीं हो सकता।

निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की अपेक्षा दोनों बातें हैं—जहाँ जीव उसको अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता, वहाँ वह उस कर्म के अधीन होता है और जहाँ जीव प्रबल धृति, मनोबल, शरीरबल आदि सामग्री की सहायता से सत्प्रयत्न करता है, वहाँ कर्म उसके अधीन होता है। उदयकाल से पूर्व कर्म को उदय में ला, तोड़ डालना, उसकी स्थिति और रस को मन्द कर देना, यह सब इसी स्थिति में हो सकता है। यदि यह न होता तो तपस्या करने का कोई अर्थ ही नहीं

रहता। पहले बन्धे हुए कर्मों की स्थिति और फल-शक्ति नष्ट कर, उन्हें शीघ्र तोड़ डालने के लिए ही तपस्या की जाती है। पातंजलयोग भाष्य में भी अदृष्ट-जन्म-वेदनीय कर्म की तीन गतियां बताई हैं[११६]। उनमें "कई कर्म बिना फल दिये ही प्रायश्चित्त आदि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं।" एक गति यह है। इसीको जैन-दृष्टि में उदीरणा कहा है।

कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया

कर्म-परमाणुओं के विकर्षण के साथ-साथ दूसरे कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता रहता है। किन्तु इससे मुक्ति होने में कोई बाधा नहीं आती।

कर्म-सम्बन्ध के प्रधान साधन दो हैं—कषाय और योग। कषाय प्रबल होता है, तब कर्म-परमाणु आत्मा के साथ अधिक काल तक चिपके रहते हैं और तीव्र फल देते हैं। कषाय के मन्द होते ही उनकी स्थिति कम और फल-शक्ति मन्द हो जाती है।

ज्यों-ज्यों कषाय मन्द होता है, त्यों त्यों निर्जरा अधिक होती है और पुण्य का बन्ध शिथिल होता जाता है। वीतराग के सिर्फ दो समय की स्थिति का बन्ध होता है। पहले क्षण में कर्म-परमाणु उसके साथ सम्बन्ध करते हैं, दूसरे क्षण में भोग लिए जाते हैं और तीसरे क्षण में वे उनसे बिछुड़ जाते हैं।

चौदहवीं भूमिका में मन, वाणी और शरीर की सारी प्रक्रियाएं रुक जाती हैं। वहाँ केवल पूर्व-संचित कर्म का निर्जरण होता है, नये कर्म का बन्ध नहीं होता। अबन्ध-दशा में आत्मा शेष कर्मों को खपा मुक्त हो जाता है।

कुछ व्यक्ति अल्प और अल्पतर और कुछ एक महत् और महत्तर कर्म-संचय को लिए हुए जन्म लेते हैं। उनकी साधना का क्रम और काल भी उसीके अनुरूप होता है[११७]। जैसे—अल्पकर्म-प्रत्ययात्—अल्प तप, अल्प वेदना, दीर्घ प्रव्रज्या (साधना-काल)—भरत चक्रवर्तीवत्।

अल्पतर कर्म-प्रत्ययात्—अल्प तप, अल्प वेदना, अल्पतर प्रव्रज्या—मरुदेवावत्।

महत्कर्म-प्रत्ययात्—घोर तप, घोर वेदना, अल्प प्रव्रज्या—गजसुकुमारवत्।

महत्तरकर्म-प्रत्ययात्—घोरतर तप, घोरतर वेदना, दीर्घतर प्रव्रज्या—सनत्कुमारवत्[११८]।

अनादि का अन्त कैसे ?

जो अनादि होता है, उसका अन्त नहीं होता, ऐसी दशा में अनादिकालीन कर्म-सम्बन्ध का अन्त कैसे हो सकता है ? यह ठीक, किन्तु इसमें बहुत कुछ समझने जैसा है। अनादि का अन्त नहीं होता, यह सामुदायिक नियम है और जाति से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति-विशेष पर यह लागू नहीं भी होता। प्रागभाव अनादि है, फिर भी उसका अन्त होता है। स्वर्ण और मृत्तिका का, घी, और दूध का सम्बन्ध अनादि है, फिर भी वे पृथक् होते हैं। ऐसे ही आत्मा और कर्म के अनादि-सम्बन्ध का अन्त होता है। यह ध्यान रहे कि इसका सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा अनादि है, व्यक्तिशः नहीं। आत्मा से जितने कर्म पुद्गल चिपटते हैं, वे सब अवधि सहित होते हैं। कोई भी एक कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ घुलमिलकर नहीं रहता। आत्मा मोक्षोचित सामग्री पा, अनास्रव बन जाती है, तब नये कर्मों का प्रवाह रुक जाता है, संचित कर्म तपस्या द्वारा टूट जाते हैं, आत्मा मुक्त बन जाती है।

लेश्या

लेश्या का अर्थ है—पुद्गल द्रव्य के संसर्ग से उत्पन्न होने वाला जीव का अध्यवसाय—परिणाम, विचार। आत्मा चेतन है, जड़स्वरूप से सर्वथा पृथक् है, फिर भी संसार-दशा में इसका जड़द्रव्य (पुद्गल) के साथ गहरा संसर्ग रहता है, इसीलिए जड़ द्रव्यजन्य परिणामों का जीव पर असर हुए बिना नहीं रहता। जिन पुद्गलों से जीव के विचार प्रभावित होते हैं, वे भी द्रव्य-लेश्या कहलाते हैं। द्रव्य-लेश्याएं पौद्गलिक हैं, इसलिए इनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होते हैं। लेश्याओं का नामकरण द्रव्य-लेश्याओं के रंग के आधार पर हुआ है, जैसे कृष्ण-लेश्या, नील लेश्या आदि-आदि। पहली तीन लेश्याएं अप्रशस्त लेश्याएं हैं। इनके वर्ण आदि चारों गुण अशुभ होते हैं। उत्तरवर्ती तीन लेश्याओं के वर्ण आदि चारों शुभ होते हैं, इसलिए वे प्रशस्त होती हैं। खान-पान, स्थान और बाहरी वातावरण एवं वायुमण्डल का शरीर और मन पर असर होता है, यह प्रायः सर्वसम्मत-सी बात है। 'जैसा अन्न वैसा मन'

यह उक्ति भी निराधार नहीं है। शरीर और मन, दोनों परस्परापेक्ष हैं। इनमें एक दूसरे की क्रिया का एक दूसरे पर असर हुए बिना नहीं रहता। "जल्लेसाइं दव्वाइं आदिअन्ति तल्लेसे परिणामे भवइ[११९]"—जिस लेश्या के द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं, उसी लेश्या का परिणाम हो जाता है। इस आगम-वाक्य से उक्त विषय की पुष्टि होती है। व्यावहारिक जगत् में भी यही बात पाते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली में मानस-रोगी को सुधारने के लिए विभिन्न रंगों की किरणों का या विभिन्न रंगों की बोतलों के जलों का प्रयोग किया जाता है। योग-प्रणाली में पृथ्वी, जल आदि तत्त्वों के रंगों के परिवर्तन के अनुसार मानस-परिवर्तन का क्रम बतलाया है।

इस पूर्वोक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य-लेश्या के साथ भाव-लेश्या का गहरा सम्बन्ध है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि द्रव्य-लेश्या के ग्रहण का क्या कारण है? यदि भाव-लेश्या को उसका कारण मानें तो उसका अर्थ होता है—भाव-लेश्या के अनुरूप द्रव्य-लेश्या, न कि द्रव्य-लेश्या के अनुरूप भाव-लेश्या। ऊपर की पंक्तियों में यह बताया गया है कि द्रव्य-लेश्या के अनुरूप भाव-लेश्या होती है। यह एक जटिल प्रश्न है। इसके समाधान के लिए हमें लेश्या की उत्पत्ति पर ध्यान देना होगा। भाव-लेश्या यानी द्रव्य-लेश्या के साहाय्य से होने वाले आत्मा के परिणाम की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—मोह-कर्म के उदय से तथा उसके उपशम, क्षय या क्षयोपशम से[१२०]। औदयिक भाव-लेश्याएं बुरी (अप्रशस्त) होती हैं और औपशमिक, क्षायिक या क्षयोपशमिक लेश्याएं भली (प्रशस्त) होती हैं। कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अप्रशस्त और तेज, पद्म एवं शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्याएं हैं। प्रज्ञापना में कहा है—"तओ दुग्गइ गामिणिओ, तओ सुग्गइ गामिणिओ"[१२१]—अर्थात् पहली तीन लेश्याएं बुरे अध्यवसायवाली हैं, इसलिए वे दुर्गति की हेतु हैं। उत्तरवर्ती तीन लेश्याएं भले अध्यवसायवाली हैं, इसलिए वे सुगति की हेतु हैं। उत्तराध्ययन में इनको अधर्म लेश्या और धर्म-लेश्या भी कहा है—"किण्हा नीला काऊ, तिण्णि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।......तेऊ पम्हा सुक्काए, तिण्णि वि एयाओ धम्म लेसाओ"[१२२] कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अधर्म-लेश्याएं हैं और तेजः, पद्म एवं शुक्ल—

ये तीन धर्म-लेश्याएं हैं। उक्त प्रकरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि आत्मा के भले और बुरे अध्यवसाय (भाव-लेश्या) होने का मूल कारण मोह का अभाव (पूर्ण या अपूर्ण) या भाव है। कृष्ण आदि पुद्गल द्रव्य भले-बुरे अध्यवसायों के सहकारी कारण बनते हैं। तात्पर्य यह है कि मात्र काले, नीले आदि पुद्गलों से ही आत्मा के परिणाम बुरे-भले नहीं बनते। परिभाषा के शब्दों में कहें तो सिर्फ द्रव्य-लेश्या के अनुरूप ही भाव-लेश्या नहीं बनती। मोह का भाव अभाव तथा द्रव्य-लेश्या—इन दोनों के कारण आत्मा के बुरे या भले परिणाम बनते हैं। द्रव्य-लेश्याओं के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण जानने के लिए देखो यन्त्र।

लेश्या	वर्ण	रस	गन्ध	स्पर्श
कृष्ण	काजल के समान काला	नीम से अनन्त गुण कटु	मृत सर्प की गन्ध से अनन्त गुण अनिष्ट गंध	गाय की जीभ से अनन्त गुण कर्कश
नील	नीलम के समान नीला	सोंठ से अनन्त गुण तीक्ष्ण		
कापोत	कबूतर के गले के समान रंग	कच्चे आम के रस से अनन्तगुण तिक्त		
तेजस्	हिंगुल-सिन्दूर के समान रक्त	पके आम के रस से अनन्त गुण मधुर		
पद्म	हल्दी के समान पीला	मधु से अनन्त गुण मिष्ट	सुरभि-कुसुम की गन्ध से अनन्त गुण इष्ट गन्ध	नवनीत-मक्खन से अनन्त गुण सुकुमार
शुक्ल	शंख के समान सफेद	मिसरी से अनन्त गुण मिष्ट		

लेश्याकी विशेष जानकारी के लिए प्रज्ञापना का १७ वां पद और उत्तराध्ययन का ३४ वां अध्ययन द्रष्टव्य है। जैनेतर ग्रन्थों में भी कर्म की विशुद्धि या वर्ण के आधार पर जीवों की कई अवस्थाएं बतलाई हैं। तुलना के लिए देखो महाभारत पर्व १२-२८६। पातञ्जलयोग में वर्णित कर्म की कृष्ण शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल और अशुक्ल-अकृष्ण—ये चार जातियां भाव-

लेश्या की श्रेणी में आती हैं[१२३]। सांख्यदर्शन[१२४] तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् में रजः, सत्त्व और तमोगुण को लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा गया है[१२५]। यह द्रव्य-लेश्या का रूप है। रजोगुण मन को मोहरंजित करता है, इसलिए वह लोहित है। सत्त्व गुण से मन मलरहित होता है, इसलिए वह शुक्ल है। तमो गुण ज्ञान को आवृत करता है, इसलिए वह कृष्ण है।

कर्म के संयोग और वियोग से होने वाली आध्यात्मिक विकास और ह्रास की रेखाएं

इस विश्वमें जो कुछ है, वह होता रहता है। 'होना' वस्तु का स्वभाव है। 'नहीं होना' ऐसा जो है, वह वस्तु ही नहीं है। वस्तुएं तीन प्रकार की हैं—

(१) अचेतन और अमूर्त—धर्म, अधर्म, आकाश, काल।

(२) ,, ,, मूर्त—पुद्गल।

(३) चेतन और अमूर्त—जीव।

पहली प्रकार की वस्तुओं का होना—परिणामतः स्वाभाविक ही होता है और वह सतत् प्रवहमान रहता है।

पुद्गल में स्वाभाविक परिणमन के अतिरिक्त जीव-कृत प्रायोगिक परिणमन भी होता है। उसे अजीवोदय-निष्पन्न कहा जाता है[१२६]। शरीर और उसके प्रयोग में परिणत पुद्गल वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये अजीवोदय-निष्पन्न हैं। यह जितना दृश्य संसार है, वह सब या तो जीवत् शरीर है या जीव-मुक्त शरीर। जीव में स्वाभाविक और पुद्गलकृत प्रायोगिक परिणमन होता है।

स्वाभाविक परिणमन अजीव और जीव दोनों में समरूप होता है। पुद्गल में जीवकृत परिवर्तन होता है, वह केवल उसके संस्थान-आकार का होता है। वह चेतनाशील नहीं, इसलिए इससे उसके विकास-ह्रास, उन्नति-अवनति का क्रम नहीं बनता। पुद्गलकृत जैविक परिवर्तन पर आत्मिक विकास-ह्रास, आरोह-पतन का क्रम अवलम्बित रहता है। इसी प्रकार उससे नानाविध अवस्थाएं और अनुभूतियां बनती हैं। वह दार्शनिक चिन्तन का एक मौलिक विषय बन जाता है। जैन दर्शन ने इस आध्यात्मिक परिवर्तन की चार श्रेणियां निर्धारित की हैं—

(१) औदयिक (२) औपशमिक (३) क्षायिक (४) क्षायोपशमिक।

बाहरी पुद्गलों के संयोग-वियोग से असंख्य-अनन्त अवस्थाएं बनती हैं। पर वे जीव पर आन्तरिक असर नहीं डालतीं, इसलिए उनकी मीमांसा भौतिक-शास्त्र या शरीर-शास्त्र तक ही सीमित रह जाती है। यह मीमांसा आत्मा द्वारा स्वीकृत किये गये कर्म-पुद्गलों के संयोग-वियोग की है। जीव-संयुक्त कर्म-परमाणुओं के परिपाक या उदय से जीव में ये अवस्थाएं होती हैं :—

गति—नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव।

काय—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस काय, वायु काय, वनस्पतिकाय, त्रस काय।

कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ।

वेद—स्त्री, पुरुष, नपुंसक।

लेश्या—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म, शुक्ल आदि-आदि [१२७]।

कर्मवियोग के तीन रूप हैं—उपशम, क्षय (सर्व-विलय) और क्षयोपशम (अंश-विलय)। उपशम केवल 'मोह' का ही होता है। उससे (औपशमिक) सम्यक्-दर्शन व चरित्र—दो अवस्थाएं बनती हैं [१२८]।

क्षय सभी कर्मों का होता है। क्षायिकभाव आत्मा का स्वभाव है। आवरण, वेदना, मोह, आयु, शरीर, गोत्र और अन्तराय—ये कर्म-कृत वैभाविक अवस्थाएं हैं। इनका क्षय होने पर आत्मा का स्वभावोदय होता है। फिर आत्मा निरावरण, अवेदन, निर्मोह, निरायु, अशरीर, अगोत्र और निरन्तराय हो जाता है [१२९]। ज्ञानात्मक चेतना के आवारक पुद्गलों के अंश-विलय से होने वाले आत्मिक विकास का क्रम इस प्रकार है—इन्द्रिय-ज्ञान—मानस ज्ञान—पौद्गलिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान।

परिभाषा के शब्दों में इनकी प्रारम्भिक अभेदात्मक-दशा को दर्शन, उत्तरवर्ती या विश्लेषणात्मक दशा को ज्ञान कहा जाता है। ये सम्यक्-दृष्टि के हों तो इन्हें ज्ञान और मिथ्या-दृष्टि के हों तो अज्ञान कहा जाता है।

मोह के अंश-विलय से सम्यक् श्रद्धा और सम्यक्-आचार का ससीम विकास होता है।

अन्तराय के अंश-विलय से आत्म-वीर्य का सीमित उदय होता है [११०]।

क्षयोपशम

आठ कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय,—ये चार कर्म घाती हैं, और शेष चार अघाती। घाती कर्म आत्म-गुणों की साक्षात् घात करते हैं। इनकी अनुभाग-शक्ति का सीधा असर जीव के ज्ञान आदि गुणों पर होता है, गुण-विकास रुकता है। अघाती कर्मों का सीधा सम्बन्ध पौद्गलिक द्रव्यों से होता है। इनकी अनुभाग-शक्ति का जीव के गुणों पर सीधा असर नहीं होता। अघाती कर्मों का या तो उदय होता है या क्षय—सर्वथा अभाव। इनके उदय से जीव का पौद्गलिक द्रव्य से सम्बन्ध जुड़ा रहता है। इन्हीं के उदय से आत्मा 'अमूर्तोऽपि मूर्त इव' रहती है। इनके क्षय से जीव का पौद्गलिक द्रव्य से सदा के लिए सर्वथा सम्बन्ध टूट जाता है। और इनका क्षय मुक्त-अवस्था के पहले क्षण में होता है। घाती कर्मों के उदय से जीव के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व-चारित्र और वीर्य-शक्ति का विकास रुका रहता है। फिर भी उक्त गुणों का सर्वावरण नहीं होता। जहाँ इनका) घातिक कर्मों का) उदय होता है, वहाँ अभाव भी। यदि ऐसा न हो, आत्मा के गुण पूर्णतया ढक जाएं तो जीव और अजीव में कोई अन्तर न रहे। इसी आशय से नन्दी में कहा है:—"पूर्ण ज्ञान का अनन्तवां भाग तो जीव मात्र के अनावृत रहता है, यदि वह आवृत हो जाए तो जीव अजीव बन जाए। मेघ कितना ही गहरा हो, फिर भी चांद और सूरज की प्रभा कुछ न कुछ रहती है। यदि ऐसा न हो तो रात-दिन का विभाग ही मिट जाए।" घाती कर्म के दलिक दो प्रकार के होते हैं—देशघाती और सर्वघाती। जिस कर्म-प्रकृति से आंशिक गुणों की घात होती है, वह देशघाती और जो पूर्ण गुणों की घात करे, वह सर्वघाती। देशघाती कर्म के स्पर्धक भी दो प्रकार के होते हैं—देशघाती स्पर्धक और सर्वघाती स्पर्धक। सर्वघाती स्पर्धकों का उदय रहने तक देश-गुण भी प्रगट नहीं होते। इसलिए आत्म-गुण का यत् किञ्चित् विकास होने में भी सर्वघाती स्पर्धकों का अभाव होना आवश्यक है, चाहे वह क्षयरूप हो या उपशमरूप। जहाँ सर्वघाती स्पर्धकों में कुछ का क्षय और कुछ का उपशम रहता है और देशघाती स्पर्धकों का उदय रहता है, उस कर्म-अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं। क्षयोपशम में विपाकोदय नहीं होता,

उसका अभिप्राय यही है कि सर्वघाती स्पर्धकों का विपाकोदय नहीं रहता। देश-घाती स्पर्धकों का विपाकोदय गुणों के प्रगट होने में बाधा नहीं डालता। इसलिए यहाँ उसकी अपेक्षा नहीं की गई। क्षयोपशम की कुछेक रूपान्तर के साथ तीन व्याख्याएं हमारे सामने आती हैं—(१) घाती कर्म का विपाकोदय नहीं होना क्षयोपशम है—इससे मुख्यतया कर्म की अवस्था पर प्रकाश पड़ता है। (२) उदय में आये हुए घाती कर्म का क्षय होना, उपशम होना—विपाक रूप से उदय में न आना, प्रदेशोदय रहना क्षयोपशम है। इसमें प्रधानतया क्षयोपशम-दशा में होने वाले कर्मोदय का स्वरूप स्पष्ट होता है। (३) सर्वघाती स्पर्धकों का क्षय होना। सत्तारूप उपशम होना तथा देशघाती स्पर्धकों का उदय रहना क्षयोपशम है। इससे प्राधान्यतः क्षयोपशम के कार्य—आवारक-शक्ति के नियमन का बोध होता है।

सारांश सब का यही है कि—जिस कर्म-दशा में क्षय, उपशम और उदय—ये तीनों बातें मिलें, वह क्षयोपशम है। अथवा घाती कर्मों का जो आंशिक अभाव है—क्षययुक्त उपशम है, वह क्षयोपशम है। क्षयोपशम में उदय रहता अवश्य है किन्तु उसका क्षयोपशम के फल पर कोई असर नहीं होता। इसलिए इस कर्म-दशा को क्षय-उपशम इन दो शब्दों के द्वारा ही व्यक्त किया है।

तेईस

१५७-१७२

जातिवाद

जातिवाद

अहं मंतीति थंभिज्जा, तं जातिमएण वा कुलमएण वा।

(स्था० १०।७-१०)

जो व्यक्ति जाति और कुल का गर्व करता है, अपने आपको सबसे ऊंचा मानता है, वह स्तब्ध हो जाता है।

लिंगं देहाश्रितं दृष्टं, देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यते भवात्तस्मात्, ते ये लिंगकृताग्रहाः॥
जातिर्देहाश्रिता दृष्टा, देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यते भवात्तस्मात्, ते ये जातिकृताग्रहाः॥

(समाधि० ८७-८८)

जाति सामाजिक व्यवस्था है। वह तात्त्विक वस्तु नहीं है। जो जाति का बाद लिए हुए है, वह मुक्त नहीं हो सकता।

शूद्र और ब्राह्मण में रंग और आकृति का भेद नहीं जान पड़ता। दोनों की गर्भाधान विधि और जन्म-पद्धति भी एक है। गाय और भैंस में जैसे जाति-कृत भेद है, वैसे शूद्र और ब्राह्मण में नहीं है। इसलिए मनुष्य-मनुष्य के बीच जो जाति-कृत भेद है, वह परिकल्पित है[1]।

मनुष्य जाति की एकता

मनुष्य जाति एक है। भगवान् ऋषभदेव राजा नहीं बने, तब तक वह एक ही रही। वे राजा बने, तब वह दो भागों में बंट गई—जो व्यक्ति राजाश्रित बने, वे क्षत्रिय कहलाए और शेष शूद्र।

कर्म-क्षेत्र की ओर मनुष्य-जाति की प्रगति हो रही थी। अग्नि की उत्पत्ति ने उसमें एक नया परिच्छेद जोड़ दिया। अग्नि ने वैश्य-वर्ग को जन्म दिया। लोहार, शिल्पी और विनिमय की दिशा खुली। मनुष्य-जाति के तीन भाग बन गए। भगवान् साधु बने। भरत चक्रवर्ती बना। उसने स्वाध्यायशील-मण्डल स्थापित किया। उसके सदस्य ब्राह्मण कहलाए। मनुष्य-जाति के चार भाग हो गए[2]।

युग-परिवर्तन के साथ-साथ इन चार वर्णों के संयोग से अनेक उपवर्ण व जातियां बन गई[३]।

वैदिक विचार के अनुसार चार वर्ण सृष्टि-विधानसिद्ध हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार ये नैसर्गिक नहीं हैं। इनका वर्गीकरण क्रिया-भेद की भित्ति पर हुआ है[४]।

जैनाचार्य जाति को विधान-सिद्ध बनाने की ओर झुके, यह वैदिक प्रभुत्व के वातावरण से पैदा होने वाली समन्वय-मुखी स्थिति का परिणाम है[५]। उसी समय जैन-परम्परा में स्पृश्य[६]-अस्पृश्य जैसे विभाग और जाति के शुद्धीकरण आदि तत्त्वों के बीज बोये गए[७]।

जातिवाद के खण्डन में भी जैन विद्वान् बड़ी तीव्र गति से चले[८]। पर समय की महिमा समझिए—आज वह जैन-समाज पर छाया हुआ है।

कर्म-विपाक कृत उच्चता-नीचता

उच्चत्व और नीचत्व नहीं होता, यह अभिमत नहीं है। वे हैं, किन्तु उनका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन से है, रक्त-परम्परा से नहीं। ब्राह्मण-परम्परा का गोत्र रक्त-परम्परा का पर्यायवाची माना जाता है। जैन-परम्परा में गोत्र शब्द का व्यवहार (१) जाति (२) कुल (३) बल (४) रूप (५) तप (६) लाभ (७) श्रुत (८) ऐश्वर्य—इनके प्रकर्ष और अपकर्ष दशा-सूचन के लिए हुआ है।

गोत्र के दो भेद हैं—उच्च और नीच। पूज्य, सामान्य तथा विशिष्ट व्यक्ति का गोत्र उच्च और अपूज्य, असमान्य तथा अवशिष्ट व्यक्ति का गोत्र नीच होता है। 'गोत्र' शब्द का यह व्यापक अर्थ है। यह गोत्र कर्म से सम्बन्धित है। साधारणतया गोत्र का अर्थ होता है—'वंश, कुल और जाति[९]।

निर्धन, कुरूप और बुद्धिहीन व्यक्ति भी अमुक कुल या जाति में उत्पन्न होने के कारण बड़ा माना जाए, सत्कार और सम्मान पाए, यह जाति या कुल-प्रतिष्ठा है। इसी का नाम है—उच्च गोत्र। नीच गोत्र इसका प्रतिपक्ष है। मनुष्य उच्च गोत्री और नीच गोत्री दोनों प्रकार के होते हैं[१०]।

जाति और गोत्रकर्म

गोत्रकर्म के साथ जाति का सम्बन्ध जोड़कर कई जैन भी यह तर्क उपस्थित करते हैं कि 'गोत्र कर्म के उच्च और नीच—ये दो भेद शास्त्रों में बताए हैं' तब जैन को जातिवाद का समर्थक क्यों नहीं माना जाए ? उनका तर्क गोत्र-कर्म के स्वरूप को न समझने का परिणाम है [११]। गोत्र-कर्म न तो लोक-प्रचलित जातियों का पर्यायवाची शब्द है और न वह जन्मगत जाति से सम्बन्ध रखता है। हां, कर्म (आचारपरम्परा) गत जाति से वह किञ्चित् सम्बन्धित है [१२], उसी कारण यह विषय सन्दिग्ध बना हो अथवा राजस्थान, गुजरात आदि प्रान्तों में कुलगत जाति को गोत कहा जाता है, उस नाम-साम्य से दोनों को—गोत और गोत्रकर्म को एक समझ लिया हो। कुछ भी हो यह धारणा ठीक नहीं है।

'गोत्र शब्द' की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है [१३]। उनमें अधिकांश का तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के द्वारा जीव माननीय, पूजनीय एवं सत्कारयोग्य तथा अमाननीय, अपूजनीय एवं असत्कारयोग्य बने, वह गोत्रकर्म है। कहीं-कहीं उच्च-नीच कुल में उत्पन्न होना भी गोत्र-कर्म का फल बतलाया गया है, किन्तु यहाँ उच्च-नीच कुल का अर्थ ब्राह्मण या शूद्र का कुल नहीं। जो प्रतिष्ठित माना जाता है, वह उच्च कुल है और जो प्रतिष्ठा-हीन है, वह नीच कुल [१४]। समृद्धि की अपेक्षा भी जैनसूत्रों में कुल के उच्च-नीच—ये दो भेद बताये गए हैं [१५]। पुरानी व्याख्याओं में जो उच्च कुल के नाम गिनाये हैं, वे आज लुप्तप्राय हैं। इन तथ्यों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि गोत्र-कर्म मनुष्य-कल्पित जाति का आभारी है, उस पर आश्रित है। यदि ऐसा माना जाए तो देव, नारक और तिर्यञ्चों के गोत्र-कर्म की क्या व्याख्या होगी, उनमें वह जाति-भेद की कल्पना है ही नहीं। हम इतने दूर क्यों जाएं, जिन देशों में वर्ण-व्यवस्था या जन्मगत ऊंच-नीच का भेद-भाव नहीं है, वहाँ गोत्र-कर्म की परिभाषा क्या होगी ? गोत्र-कर्म संसार के प्राणीमात्र के साथ लगा हुआ है। उसकी दृष्टि में भारतीय और अभारतीय का सम्बन्ध नहीं है। इस प्रसंग में गोत्र-कर्म का फल क्या है, इसकी जानकारी अधिक उपयुक्त होगी।

जीवात्मा के पौद्‌गलिक सुख-दुःख के निमित्तभूत चार कर्म हैं—वेदनीय, नाम, गोत्र, और आयुष्य। इनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं—सात वेदनीय-असात वेदनीय, शुभनाम-अशुभनाम, उच्चगोत्र नीचगोत्र, शुभआयु-अशुभआयु। मनचाहे शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श मिलना एवं सुखद मन, वाणी और शरीर का प्राप्त होना सातवेदनीय का फल है। असातवेदनीय का फल ठीक इसके विपरीत है। शुभ-आयु कर्म का फल है—सुखपूर्ण लम्बी आयु और अशुभ-आयु कर्म का फल है—ओछी आयु तथा दुःखमय लम्बी आयु। शुभ और अशुभ नाम होना क्रमशः शुभ और अशुभ नाम कर्म का फल है। जाति-विशिष्टता, कुल-विशिष्टता, बल-विशिष्टता, रूप-विशिष्टता, तप-विशिष्टता, श्रुत-विशिष्टता, लाभ-विशिष्टता और ऐश्वर्य विशिष्टता—ये आठ उच्च गोत्र-कर्म के फल हैं[११]। नीच-गोत्र कर्म के फल ठीक इसके विपरीत हैं।

गोत्र-कर्म के फलों पर दृष्टि डालने से सहज पता लग जाता है कि गोत्र-कर्म व्यक्ति-व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है, किसी समूह से नहीं। एक व्यक्ति में भी आठों प्रकृतियां 'उच्चगोत्र' की ही हों या 'नीचगोत्र' की ही हों, यह भी कोई नियम नहीं। एक व्यक्ति रूप और बल से रहित है, फिर भी अपने कर्म से सत्कार-योग्य और प्रतिष्ठा प्राप्त है तो मानना होगा कि वह जाति से उच्च-गोत्र-कर्म भोग रहा है और रूप तथा बल से नीच-गोत्रकर्म। एक व्यक्ति के एक ही जीवन में जैसे न्यूनाधिक रूप में सात वेदनीय और असात वेदनीय का उदय होता रहता है, वैसे ही उच्च-नीच-गोत्र का भी। इस सारी स्थिति के अध्ययन के पश्चात् 'गोत्रकर्म' और 'लोक-प्रचलित जातियां' सर्वथा पृथक् हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं रहता।

अब हमें गोत्र-कर्म के फलों में गिनाये गये जाति और कुल पर दूसरी दृष्टि से विचार करना है। यद्यपि बहुलतया इन दोनों का अर्थ व्यवहार सिद्ध जाति और कुल से जोड़ा गया है फिर भी वस्तु-स्थिति को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि यह उनका वास्तविक अर्थ नहीं, केवल स्थूल दृष्टि से किया गया विचार या बोध-सुलभता के लिये प्रस्तुत किया गया उदाहरणमात्र है।

फिर एक बार उसी बात को दुहराना होगा कि जातिभेद सिर्फ मनुष्यों में है और गोत्र-कर्म का सम्बन्ध प्राणीमात्र से है। इसलिए उसके फलरूप में

मिलनेवाले जाति और कुल ऐसे होने चाहिए, जो प्राणीमात्र से सम्बन्ध रखें। इस दृष्टि से देखा जाए तो जाति का अर्थ होता है—उत्पत्ति-स्थान और कुल का अर्थ होता है—एक योनि में उत्पन्न होने वाले अनेक वर्ग[१७]। ये (जातियां और कुल) उतने ही व्यापक हैं जितना कि गोत्र-कर्म। एक मनुष्य का उत्पत्ति-स्थान, बड़ा भारी स्वस्थ और पुष्ट होता है, दूसरे का बहुत रुग्ण और दुर्बल। इसका फलित यह होता है—जाति की अपेक्षा 'उच्चगोत्र'—विशिष्ट जन्म-स्थान, जाति की अपेक्षा 'नीच-गोत्र'—निकृष्ट जन्म-स्थान। जन्म-स्थान का अर्थ होता है—मातृपक्ष या मातृस्थानीय पक्ष। कुल की भी यही बात है। सिर्फ इतना अन्तर है कि कुल में पितृपक्ष की विशेषता होती है। जाति में उत्पत्ति-स्थान की विशेषता होती है और कुल में उत्पादक अंश की[१८]। 'जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति जातिः[१९]' 'मातृसमुत्था जातिः[२०]', 'जाति गुणवन्मातृकत्वम्[२१]', 'कुल गुणवत् पितृकत्वम्[२२]"—इनमें जाति और कुल की जो व्याख्याएं की हैं—वे सब जाति और कुल का सम्बन्ध उत्पत्ति से जोड़ती हैं।

तत्त्व-दृष्टि से जाति की असारता

कर्म-विपाक की दृष्टि से अर्थ का महत्त्व है, वहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से वह अनर्थ का मूल है। यही बात जाति की है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल, बोक्कस, ऐशिक (मांस-भोजी), वैशिक (कलाजीवी) और शूद्र—इनमें से किसी भी जाति के व्यक्ति हों, जो हिंसा और परिग्रह से बंधे हुए हैं, वे दुःख से मुक्ति नहीं पा सकते[२३]।

हरिकेशबल मुनि ने ब्राह्मणकुमारों से कहा—जो व्यक्ति क्रोध, मान, वध, मृषा, अदत्त और परिग्रह से घिरे हुए हैं, वे ब्राह्मण-जाति और विद्या से हीन हैं और वे पापकारी क्षेत्र हैं[२४]।

ब्राह्मण वही है जो ब्रह्मचारी है[२५]।

ब्रह्मर्षि जयघोष विजयघोष की यज्ञस्थली में गए। दोनों में चर्चा चली। जातिवाद का प्रश्न आया। भगवान् महावीर की मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए मुनि बोले—"जो निसंग और निःशोक है और आर्य-वाणी में रमता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं। जो तपे हुए सोने के समान निर्मल है, राग, द्वेष

और भय से अतीत है उसे ब्राह्मण कहते हैं, जो तपस्वी क्षीणकाय, जितेन्द्रिय, रक्त और मांस से अपचित सुव्रत और शान्त है, उसे ब्राह्मण कहते हैं। जो क्रोध, लोभ, भय और हास्य-वश असत्य नहीं बोलता, उसे ब्राह्मण कहते हैं। जो सजीव या निर्जीव थोड़ा या बहुत अदत्त नहीं लेता, उसे ब्राह्मण कहते हैं। जो स्वर्गीय, मानवीय और पाशविक किसी भी प्रकार का अब्रह्मचर्य सेवन नहीं करता, उसे ब्राह्मण कहते हैं।

जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल उससे ऊपर रहता है। उसी प्रकार जो काम-भोगों से ऊपर रहता है, उसे ब्राह्मण कहते हैं। जो अस्वाद-वृत्ति, निःस्पृहभाव से भिक्षा लेने वाले, घर और परिग्रह से रहित और गृहस्थ से अनासक्त है, उसे ब्राह्मण कहते हैं। जो बन्धनों को छोड़कर फिर से उनमें आसक्त नहीं होता, उसे ब्राह्मण कहते हैं[२६]।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये कार्य से होते हैं[२७]। तत्त्व-दृष्टया व्यक्ति को ऊंचा या नीचा उसके आचरण ही बनाते हैं। कार्य-विभाग से मनुष्य का श्रेणी-विभाग होता है, वह उच्चता व नीचता का मानदण्ड नहीं है।

जाति गर्व का निषेध

यह जीव नाना गोत्र वाली जातियों में आवर्त करता है। कभी देव बन जाता है, कभी नैरयिक, कभी असुर काय में चला जाता है, कभी क्षत्रिय तो कभी चाण्डाल, और बोक्स भी। कभी कीड़ा और जुगनू तो कभी कूंथू और चींटी बन जाता है। जब तक संसार नहीं कटता, तब तक यह चलता ही रहता है। अच्छे बुरे कर्मों के अनुसार अच्छी-बुरी भूमिकाओं का संयोग मिलता ही रहता है[२८]। इसलिए उत्तम-पुद्गल, (उत्तम-आत्मा) तत्त्व-द्रष्टा और साधना-शील पुरुष जाति-मद न करे[२९]।

यह जीव अनेक बार उच्च गोत्र में और अनेक बार नीच गोत्र में जन्म ले चुका है। पर यह कभी भी न बड़ा बना और न छोटा। इसलिये जाति-मद नहीं करना चाहिए। जो कभी नीच गोत्र में जाता है, वह कभी उच्च गोत्र में भी चला जाता है और उच्च गोत्री नीच गोत्री बन जाता है। यूं जानकर भी

भला कोई आदमी शोकवादी या मानवादी होगा ? यह प्राणी अनेक योनियों में जन्म लेता रहा है, तब भला वह कहाँ रत होगा।

जन्म-कुलों की विविधता और परिवर्तनशीलता जान पंडित आदमी सत्कारार्ह कुल पा उत्कर्ष न लाए और सत्कारहीन कुल पा अपकर्ष नहीं लाए। वह सोचे कि सत्कार और असत्कार अपने अर्जित कर्मों के विपाक हैं। सब प्राणी सुख चाहते हैं, इसलिए किसी को भी किसी प्रकार का कष्ट न दें [३०]।

एक जन्म में एक प्राणी अनेक प्रकार की ऊँच नीच अवस्थाएं भोग लेता है। इसीलिए उच्चता का अभिमान करना उचित नहीं है [३१]।

जो साधक जाति आदि का मद करता है, दूसरों को परछाईं की भांति तुच्छ समझता है, वह अहंकारी पुरुष सर्वज्ञ-मार्ग का अनुगामी नहीं है। वह वस्तुतः मूर्ख है, पण्डित नहीं है [३२]।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र और लिच्छवी—इन विशिष्ट अभिमानास्पद कुलों में उत्पन्न हुआ व्यक्ति दीक्षित होकर अपने उच्च गोत्र का अभिमान नहीं करता। वही सर्वज्ञ-मार्ग का अनुगामी है। जो भिक्षु परदत्त-भोजी होता है, भिक्षा से जीवन-यापन करता है, वह भला किस बात का अभिमान करे।

अभिमान से कुछ बनता नहीं, बिगड़ता है। जाति और कुल मनुष्यों को त्राण नहीं दे सकते। दुर्गति से बचाने वाले दो ही तत्त्व हैं। वे हैं—विद्या और आचरण (चरित्र)।

जो साधक साधना के क्षेत्र में पैर रखकर भी गृहस्थ-कर्म का आसेवन करता है, जाति आदि का मद करता है, वह पारगामी नहीं बन सकता [३३]।

साधना का प्रयोजन मोक्ष है। वह अगोत्र है। उसे सर्व-गोत्रापगत (जाति गोत्र के सारे बन्धनों से छूटे हुए) महर्षि ही पा सकते हैं [३४]।

जाति-सम्पन्न (जाति-श्रेष्ठ) कौन ? बड़े कुल में पैदा होने मात्र से कोई पुरुष कुलीन नहीं होता। जिसका शील ऊंचा है, वही कुलीन है [३५]।

जो पुरुष पेशल (मिष्ट-भाषी) है, सूक्ष्म (सूक्ष्म-दर्शी या सूक्ष्म-भाषी) है, ऋजुकार (संयमशील) या ऋजुचार (बड़ों की शिक्षा के अनुसार बरतने वाला) है, क्षमाशील (अवहेलना सुनकर भी चित्त-वृत्ति को अक्षुब्ध रखने वाला)

है, मध्यस्थ (निन्दा और स्तुति में सम) है, अकंभा-प्रावृत (अक्रोधी और अमायी) है, वही जाति-सम्पन्न है [३६]।

जाति-मद का परिणाम

भगवान् ने तेरह क्रिया-स्थान (कर्म-बन्ध के कारण) बतलाए हैं, उनमें नौवां क्रिया स्थान 'मान-प्रत्ययिक' है। कोई पुरुष जाति, कुल बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य और प्रज्ञा के मद अथवा किसी दूसरे मद-स्थान से उन्मत्त होकर दूसरों की अवहेलना, निन्दा और गर्हणा करता है, उनसे घृणा करता है, उन्हें तिरस्कृत और अपमानित करता है—यह दीन है, मैं जाति, कुल, बल आदि गुणों से विशिष्ट हूँ—इस प्रकार गर्व करता है, वह अभिमानी पुरुष मरकर गर्भ, जन्म और मौत के प्रवाह में निरन्तर चक्कर लगाता है। क्षण भर भी उसे दुःख से मुक्ति नहीं मिल सकती [३७]।

जाति परिवर्तनशील है

जातियां सामयिक होती हैं। उनके नाम और उनके प्रति होने वाला प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा का भाव बदलता रहता है। जैन-आगमों में जिन जाति, कुल और गोत्रों का उल्लेख है, उनका अधिकांश आज उपलब्ध भी नहीं है।

(१) अंबष्ठ (२) कलन्द (३) वैदेह (४) वैदिक (५) हरित (६) चुंचुण—ये छह प्रकार के मनुष्य जाति-आर्य या इभ्य जाति वाले हैं [३८]।

(१) उग्र (२) भोग (३) राजन्य (४) इक्ष्वाकु (५) ज्ञात (६) कौरव—ये छह प्रकार के मनुष्य कुलार्य है [३९]।

(१) काश्यप (२) गौतम (३) वत्स (४) कुत्स (५) कौशिक (६) मण्डव (७) विशिष्ट—ये सात मूल गोत्र हैं। इन सातों में से प्रत्येक के सात-सात अवान्तर भेद हैं [४०]।

वर्तमान में हजारों नई जातियां बन गई हैं। इनकी यह परिवर्तनशीलता ही इनकी अतात्त्विकता का स्वयं सिद्ध प्रमाण है।

पुरुष त्रिवर्ग

पुरुष तीन प्रकार के होते हैं—(१) उत्तम (२) मध्यम (३) जघन्य।

उत्तम पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं—(१) धर्म पुरुष (तीर्थंकर, सर्वज्ञ)

(२) भोग-पुरुष (चक्रवर्ती) (३) कर्म-पुरुष (वासुदेव)। मध्यम पुरुष तीन प्रकार के होते हैं—(१) उग्र (२) भोग (३) राजन्य।

जघन्य पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं—(१) दास (२) भृतक (कर्मकर) (३) भागीदार।

इस प्रकार अनेक दृष्टिकोण हैं। ये सब सापेक्ष हैं। बहुल-भाग में इन सारे प्रकरणों को सामयिक व्यवस्था का चित्रण कहना ही अधिक संगत होगा[४१]।

चतुर्वर्ग

(१) एक व्यक्ति जाति-सम्पन्न (शुद्ध मातृक) होता है, कुल-सम्पन्न (शुद्ध पितृक) नहीं होता, (२) एक व्यक्ति कुल-सम्पन्न होता है, जाति-सम्पन्न नहीं होता, (३) एक व्यक्ति जाति और कुल दोनों से सम्पन्न होता है और (४) एक व्यक्ति जाति और कुल दोनों से ही सम्पन्न नहीं होता[४२]।

जाति और कुल-भेद का आधार मातृ-प्रधान और पितृ-प्रधान कुटुम्ब-व्यवस्था भी हो सकती है। जिस कुटम्ब के संचालन का भार स्त्रियों ने वहन किया, उनके वर्ग 'जाति' कहलाए और पुरुषों के नेतृत्व में चलने वाले कुटुम्बों के 'वर्ग' कुल कहलाए।

सन्तान पर पिता-माता के अर्जित गुणों का असर होता है। इस दृष्टि से जाति और कुल का विचार बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

कुल के पीछे उंच-नीच[४३], मध्यम उदग्र[४४], (उन्नत), अन्त[४५], प्रान्त, तुच्छ, दरिद्र, भिक्षुक, कृपण, आढ्य, दीप्त (प्रसिद्ध), बहुजन-अपरिभूत आदि विशेषण लगते हैं, वे निरर्थक नहीं हैं। वे व्यक्ति की पौद्‌गलिक स्थिति के अंकन में सहयोगी बनते हैं। दक्षिण की कुछ जातियों में आज भी मातृ-प्रधान कुटुम्ब हैं।

ढाई हजार वर्ष पूर्व से ही जातिवाद की चर्चा बड़े उग्र रूपसे चल रही है। इसने सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक प्रायः सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। इसके मूल में दो प्रकार की विचारधाराएं हैं—एक ब्राह्मण-परम्परा की, दूसरी श्रमण-परम्परा की। पहली परम्परा में जाति को तात्त्विक मानकर 'जन्मना

जातिः' का सिद्धान्त स्थापित किया। दूसरी ने जाति को अतात्त्विक माना और 'कर्मणा जातिः' यह पक्ष सामने रक्खा। इस जन जागरण के कर्णधार थे श्रमण भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध। इन्होंने जातिवाद के विरुद्ध बड़ी क्रान्ति की और इस आन्दोलन को बहुत सजीव और व्यापक बनाया। ब्राह्मण-परम्परा में जहाँ "ब्रह्मा" के मुंह से जन्मने वाले ब्राह्मण, बाहु से जन्मने वाले क्षत्रीय, ऊरु से जन्मने वाले वैश्य, पैरों से जन्मने वाले शूद्र और अन्त में पैदा होने वाले अन्त्यज[४१]"—यह व्यवस्था थी, वहाँ श्रमण-परम्परा ने—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने कर्म (आचरण) या वृत्ति के अनुसार होते हैं[४७]"—यह आवाज बुलन्द की। श्रमण-परम्परा की क्रान्ति से जातिवाद की शृङ्खलाएं शिथिल अवश्य हुई पर उनका अस्तित्व नहीं मिटा। फिर भी यह मानना होगा कि इस क्रान्ति की ब्राह्मण-परम्परा पर भी गहरी छाप पड़ी। "चाण्डाल और मच्छीमार के घर में पैदा होने वाले व्यक्ति भी तपस्या से ब्राह्मण बन गए[४८], इसलिए जाति कोई तात्त्विक वस्तु नहीं है।" यह विचार इसका साक्षी है।

जातिवाद की तात्त्विकता ने मनुष्यों में जो हीनता के भाव पैदा किये, वे अन्त में छुआछूत तक पहुँच गए। इसके लिए राजनैतिक क्षेत्र में महात्मा गांधी ने भी काफी आन्दोलन किया। उसके कारण आज भी यह प्रश्न ताजा और सामयिक बन रहा है। इसलिए जाति क्या है? वह तात्त्विक है या नहीं? कौन-सी जाति श्रेष्ठ है? आदि-आदि प्रश्नों पर भी विचार करना आवश्यक है।

वह वर्ग या समूह जाति है,[४९] जिसमें एक ऐसी समान शृङ्खला हो, जो दूसरों में न मिले। मनुष्य एक जाति है। मनुष्य-मनुष्य में समानता है और वह अन्य प्राणियों से विलक्षण भी है। मनुष्य-जाति बहुत बड़ी है, बहुत बड़े भूवलय पर फैली हुई है। विभिन्न जलवायु और प्रकृति से उसका सम्पर्क है। इससे उसमें भेद होना भी अस्वाभाविक नहीं। किन्तु वह भेद औपाधिक हो सकता है, मौलिक नहीं। एक भारतीय है, दूसरा अमेरिकन है, तीसरा रसियन—इनमें प्रादेशिक भेद हैं पर 'वे मनुष्य हैं' इसमें क्या अन्तर है; कुछ भी नहीं। इसी प्रकार जल-वायु के अन्तर से कोई गोरा है, कोई काला। भाषा

के भेद से कोई गुजराती बोलता है, कोई बंगाली। धर्म के भेद से कोई जैन है, कोई बौद्ध, कोई वैदिक है, कोई इस्लाम, कोई क्रिश्चियन। रुचि-भेद से कोई धार्मिक है, कोई राजनैतिक तो कोई सामाजिक। कर्म-भेद से कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य तो कोई शूद्र। जिनमें जो-जो समान गुण हैं, वे उसी वर्ग में समा जाते हैं। एक ही व्यक्ति अनेक स्थितियों में रहने के कारण अनेक वर्गों में चला जाता है। एक वर्ग के सभी व्यक्तियों की भाषा, वर्ण, धर्म कर्म एक से नहीं होते हैं। इन औपाधिक भेदों के कारण मनुष्य-जाति में इतना संघर्ष बढ़ गया है कि मनुष्यों को अपनी मौलिक समानता समझने तक का अवसर नहीं मिलता। प्रादेशिक भेद के कारण बड़े-बड़े संग्राम हुए और आज भी उनका अन्त नहीं हुआ है। वर्ण-भेद के कारण अफ्रीका में जो कुछ हो रहा है, वह मानवीय तुच्छता का अन्तिम परिचय है। धर्म-भेद के कारण सन् ४८ में होने वाला हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष मनुष्य के शिर कलंक का टीका है। कर्म-भेद के कारण भारतीय जनता के जो छुआछूत का कीटाणु लगा हुआ है। वह मनुष्य-जाति को पनपने नहीं देता। ये सब समस्याएं हैं। इनको पार किये बिना मनुष्य-जाति का कल्याण नहीं। मनुष्य-जाति एकता से हटकर इतनी अनेकता में चली गई है कि उसे आज फिर मुड़कर देखने की आवश्यकता है—मनुष्य-जाति एक है—धर्म जाति-पांति से दूर है—इसको हृदय में उतारने की आवश्यकता है।

अब प्रश्न यह रहा कि जाति तात्त्विक है या नहीं? इसकी मीमांसा करने से पहले इतना-सा और समझ लेना होगा कि इस प्रसंग का दृष्टिकोण भारतीय अधिक है, विदेशी कम। भारतवर्ष में जाति की चर्चा प्रमुखतया कर्माश्रित रही है। भारतीय पंडितों ने उसके प्रमुख विभाग चार बतलाए हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जन्मना जाति मानने वाली ब्राह्मण-परम्परा इनको तात्त्विक—शाश्वत मानती है और कर्मणा जाति मानने वाली श्रमण-परम्परा के मतानुसार ये अशाश्वत हैं। हम यदि निश्चयदृष्टि में जाएं तो तात्त्विक मनुष्य-जाति है[५०]। 'मनुष्य आजीवन मनुष्य रहता है' पशु नहीं बनता। कर्मकृत जाति में तात्त्विकता का कोई लक्षण नहीं। कर्म के अनुसार जाति है[५१]। कर्म बदलता है, जाति बदल जाती है। रत्नप्रभसूरि ने बहुत सारे

शूद्रों को भी जैन बनाया। आगे चलकर उनका कर्म व्यवसाय हो गया। उनकी सन्तानें आज कर्मणा वैश्य-जाति में हैं। इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि भारत में शक, हूण आदि कितने ही विदेशी आये और भारतीय जातियों में समा गए।

व्यवहार-दृष्टि में—ब्राह्मण कुल में जन्म लेनेवाला ब्राह्मण, वैश्य कुल में जन्म लेनेवाला वैश्य ऐसी व्यवस्था चलती है। इसको भी तात्त्विकता से नहीं जोड़ा जा सकता ; कारण कि ब्राह्मण-कुल में पैदा होने वाले व्यक्ति में वैश्योचित और वैश्यकुल में पैदा होने वाले व्यक्ति में ब्राह्मणोचित कर्म देखे जाते हैं। जाति को स्वाभाविक या ईश्वरकृत मानकर तात्त्विक कहा जाए, वह भी यौक्तिक नहीं। यदि यह वर्ण-व्यवस्था स्वाभाविक या ईश्वरकृत होती तो सिर्फ भारत में ही क्यों? क्या स्वभाव और ईश्वर भारत के ही लिए थे, या उनकी सत्ता भारत पर ही चलती थी? हमें यह निर्विवाद मानना होगा कि यह भारत के समाज-शास्त्रियों की सूझ है, उनकी की हुई व्यवस्था है। समाज की चार प्रमुख जरूरतें हैं—विद्यायुक्त सदाचार, रक्षा, व्यापार (आदान-प्रदान) और शिल्प। इनको सुव्यवस्थित और सुयोजित करने के लिए उन्होंने चार वर्ग बनाए और उनके कार्यानुरूप गुणात्मक नाम रख दिए। विद्यायुक्त सदाचार प्रधान ब्राह्मण, रक्षाप्रधान क्षत्रिय, व्यवसायप्रधान वैश्य और शिल्प प्रधान शूद्र? ऐसी व्यवस्था अन्य देशों में नियमित नहीं है, फिर भी कर्म के अनुसार जनता का वर्गीकरण किया जाए तो ये चार वर्ग सब जगह बन सकते हैं। यह व्यवस्था कैसी है, इस पर अधिक चर्चा न की जाए, तब भी इतना-सा तो कहना ही होगा कि जहाँ यह जातिगत अधिकार के रूप में कर्म को विकसित करने की योजना है, वहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विनाश की भी। एक बालक बहुत ही अध्यवसायी और बुद्धिमान् है, फिर भी वह पढ़ नहीं सकता क्योंकि वह शूद्र जाति में जन्मा है। 'शूद्रों को पढ़ने का अधिकार नहीं है'[५२]—यह इस समाज-व्यवस्था एवं तद्गत धारणा का महान् दोष है, इसे कोई भी विचारक अस्वीकार नहीं कर सकता। इस वर्ण-व्यवस्था के निर्माण में समाज की उन्नति एवं विकास का ही ध्यान रहा होगा किन्तु आगे चलकर इसमें जो बुराइयाँ आईं, वे और भी इसका अंगभंग कर

देती हैं। एक वर्ण का अहंभाव, दूसरे वर्ण की हीनता, स्पृश्यता और अस्पृश्यता की भावना का जो विस्तार हुआ, उसका मूल कारण यही जन्मगत कर्म-व्यवस्था है। यदि कर्मगत जाति-व्यवस्था होती तो ये क्षुद्र धारणाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। सामयिक क्रान्ति के फलस्वरूप बहुत सारे शुद्र-कुल में उत्पन्न व्यक्ति विद्याप्रधान, आचारप्रधान बने। क्या वे सही अर्थ में ब्राह्मण नहीं ? क्या वह सही अर्थ में अन्त्यज नहीं ? वर्णों के ये गुणात्मक नाम ही जातिवाद की अतात्त्विकता बतलाने के लिए काफी पुष्ट प्रमाण हैं।

कौन-सी जाति ऊँची और कौन-सी नीची—इसका भी एकान्त-दृष्टि से उत्तर नहीं दिया जा सकता। वास्तविक दृष्टि से देखें तो जिस जाति के बहुसंख्यकों के आचार-विचार सुसंस्कृत और संयम-प्रधान होते हैं, वही जाति श्रेष्ठ है[५३]। व्यवहार-दृष्टि के अनुसार जिस समय जैसी लौकिक धारणा होती है, वही उसका मानदण्ड है। किन्तु इस दिशा में दोनों की संगति नहीं होती। वास्तविक दृष्टि में जहाँ संयम की प्रधानता रहती है, वहाँ व्यवहार-दृष्टि में अहंभाव या स्वार्थ की। वास्तविक दृष्टिवालों का इसके विरुद्ध संघर्ष चालू रहे—यही उसके आधार पर पनपनेवाली बुराइयों का प्रतिकार है।

जैनों और बौद्धों की क्रान्ति का ब्राह्मणों पर प्रभाव पड़ा; यह पहले बताया गया है। जैन-आचार्य भी जातिवाद से सर्वथा अछूते नहीं रहे—यह एक तथ्य है, इसे हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। आज भी जैनों पर कुछ जातिवाद का असर है। समय की मांग है कि जैन इस विषय पर पुनर्विचार करें।

घृणा पाप से करो पापी से नहीं

जो सम्यक्-दृष्टि है, जिन्हें देह और जीव में द्वैध-दर्शन की दृष्टि मिली है, वे देह-भेद के आधार पर जीव-भेद नहीं कर सकते। जीव के लक्षण ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं। इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के देह-भेद के आधार पर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए[५४]।

जो व्यक्ति देह-भेद के आधार पर जीवों में भेद मानते हैं, वे ज्ञान दर्शन और चारित्र को जीव का लक्षण नहीं मानते।

जिसका आचरण पवित्र होता है, वह आदरणीय होता है। कोई व्यक्ति जाति से भले ही चाण्डाल हो, किन्तु यदि वह व्रती है तो उसे देवता भी ब्राह्मण मानते हैं [५५]।

जाति के गर्व से गर्वित ब्राह्मण चाण्डाल-मुनि के तपोबल से अभिभूत हो गए। इस दशा का वर्णन करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—यह आँखों के सामने है—तपस्या ही प्रधान है। जाति का कोई महत्त्व नहीं है। जिसकी योग विभूति और सामर्थ्य अचम्भे में डालने वाली है, वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है [५६]।

जो नीच जन हैं, वे असत्य का आचरण करते हैं। इसका फलित यह होता है—जो असत्य का आचरण नहीं करते, वे नहीं हैं [५७]।

श्रमण का उपासक हर कोई बन सकता है। उसके लिए जाति का बन्धन नहीं है। श्रावक के शिर में मणि जड़ा हुआ नहीं होता। जो अहिंसा सत्य का आचरण करता है वही श्रावक है, भले फिर वह शूद्र हो या ब्राह्मण।

विश्व के आदि-बिन्दु की जिज्ञासा

श्रमण भगवान् महावीर के 'आर्यरोह' नाम का शिष्य था। वह प्रकृति से भद्र, मृदु, विनीत और उपशान्त था। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत पतले हो चुके थे। वह मृदु मार्दव सम्पन्न अनगार भगवान् के पास रहता, ध्यान संयम और तपस्या से आत्मा को भावित किए हुए विहार करता। एक दिन की बात है वह भगवान् के पास आया, वन्दना की, नमस्कार किया, पर्युपासना करते हुए बोला—

"भन्ते। पहले लोक हुआ और फिर अलोक? अथवा पहले अलोक हुआ और फिर लोक?"

भगवान्—"रोह! लोक और अलोक—ये दोनों पहले से हैं और पीछे रहेंगे—अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। दोनों शाश्वत भाव हैं, अनानुपूर्वी हैं। इनमें पौर्वापर्य (पहले-पीछे का क्रम) नहीं है।

रोह—भन्ते! पहले अजीव हुए और फिर जीव? अथवा पहले जीव हुए और फिर अजीव?

भगवान्—रोह! लोक-अलोक की भांति ये भी शाश्वत हैं, इनमें भी पौर्वापर्य नहीं है।

रोह—भन्ते! (१) पहले भव्य हुए और फिर अभव्य अथवा पहले अभव्य हुए और फिर भव्य? (२) भन्ते! पहले सिद्धि (मुक्ति) हुई और फिर असिद्धि (संसार)? अथवा पहले असिद्धि और फिर सिद्धि? (३) भन्ते! पहले सिद्ध (मुक्त) हुए और फिर असिद्ध (संसारी)? अथवा पहले असिद्ध हुए और फिर सिद्ध?

भगवान्—रोह! ये सभी शाश्वत भाव हैं।

रोह—भन्ते पहले मुर्गी हुई फिर अंडा हुआ? अथवा पहले अंडा हुआ फिर मुर्गी?

भगवान्—अण्डा किससे पैदा हुआ?

रोह—भन्ते! मुर्गी से।

भगवान्—रोह ! मुर्गी किससे पैदा हुई ?

रोह—भन्ते ! अण्डे से ।

भगवान्—इस प्रकार अण्डा और मुर्गी पहले भी हैं और पीछे भी हैं। दोनों शाश्वत भाव हैं। इनमें क्रम नही है[१] ।

लोक-अलोक

जहाँ हम रह रहे हैं वह क्या है ? यह जिज्ञासा सहज ही हो आती है। उत्तर होता है—लोक है। लोक अलोक के बिना नहीं होता, इसलिए अलोक भी है। अलोक से हमारा कोई लगाव नहीं। वह सिर्फ आकाश ही आकाश है[२]। इसके अतिरिक्त वहाँ कुछ भी नहीं। हमारी क्रिया की अभिव्यक्ति, गति, स्थिति, परिणति पदार्थ-सापेक्ष है। ये वहीं होती हैं, जहाँ आकाश के अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—इन छहों द्रव्यों की सह-स्थिति है, वह लोक है[३]। पंचास्तिकायों का जो सहावस्थान है, वह लोक है[४]। संक्षेप में जीव और अजीव की सह-स्थिति है, वह लोक है[५]।

लोक-अलोक का विभाजक तत्त्व

लोक-अलोक का स्वरूप समझने के बाद हमें उनके विभाजक तत्त्व की समीक्षा करनी होगी। उनका विभाग शाश्वत है। इसलिए विभाजक तत्त्व भी शाश्वत होना चाहिए। कृत्रिम वस्तु से शाश्वतिक वस्तु का विभाजन नहीं होता। शाश्वतिक पदार्थ इन छहों द्रव्यों के अतिरिक्त और है नहीं। आकाश स्वयं विभज्यमान है, इसलिए वह विभाजन का हेतु नहीं बन सकता[६]। काल परिणमन का हेतु है। उसमें आकाश को दिग्रूप करने की क्षमता नहीं। व्यावहारिक काल मनुष्य-लोक के सिवाय अन्य लोकों में नहीं होता। नैश्चयिक काल लोक-अलोक दोनों में मिलता है। काल वास्तविक तत्त्व नहीं। व्यावहारिक काल सूर्य और चन्द्र की गति क्रिया से होने वाला समय विभाग है। नैश्चयिक काल जीव और अजीव की पर्याय मात्र है[७]। जीव और पुद्गल गतिशील और मध्यम परिणाम वाले तत्त्व हैं। लोक-अलोक की सीमा-निर्धारण के लिए कोई स्थिर और व्यापक तत्त्व होना चाहिए। इसलिए ये भी उसके लिए योग्य नहीं बनते। अब दो द्रव्य शेष रह जाते हैं—

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय। ये दोनों स्थिर और व्यापक हैं। बस ये ही अखंड आकाश को दो भागों में बांटते हैं। यही लोक की प्राकृतिक सीमा है। ये दो द्रव्य जिस आकाश-खण्ड में व्याप्त हैं, वह लोक है और शेष आकाश अलोक। ये अपनी गति, स्थिति के द्वारा सीमा-निर्धारण के उपयुक्त बनते हैं। ये जहाँ तक हैं वहीं तक जीव और पुद्गल की गति, स्थिति होती है। उससे आगे उन्हें गति, स्थिति का सहाय्य नहीं मिलता, इसलिए वे अलोक में नहीं जा सकते। गति के बिना स्थिति का प्रश्न ही क्या? इससे उनकी नियामकता और अधिक पुष्ट हो जाती है।

लोक-अलोक का परिमाण

धर्म और अधर्म ससीम हैं—चौदह राजू परिमाण परिमित हैं[८]। इसलिए लोक भी सीमित है। लोकाकाश असंख्यप्रदेशी है। अलोक अनन्त असीम है। इसलिए अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है। भौतिक विज्ञान के उद्भट पण्डित अलबर्ट आइन्स्टीन ने लोक-अलोक का जो स्वरूप माना है, वह जैन-दृष्टि से पूर्ण सामन्जस्य रखता है। उन्होंने लिखा है कि—"लोक परिमित है, लोक के परे अलोक अपरिमित है[९]। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का (द्रव्य का) अभाव है, जो गति में सहायक होता है।" स्कन्धक संन्यासी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने कहा कि क्षेत्र—लोक सान्त है[१०] (सीमित है) धर्मास्तिकाय, जो गति में सहायक होता है,[११] वह लोक-प्रमाण है[१२]। इसीलिए लोक के बाहर कोई भी पदार्थ नहीं जा सकता।

लोक-अलोक का संस्थान

लोक सुप्रतिष्ठक आकार वाला है। तीन शरावों में से एक शराव औंधा, दूसरा सीधा और तीसरा उसके ऊपर औंधा रहने से जो आकार बनता है, उसे सुप्रतिष्ठक संस्थान या त्रिशरावसंपुटसंस्थान कहा जाता है।

लोक नीचे विस्तृत है, मध्य में संकड़ा और ऊपर-ऊपर मृदंगाकार है। इसलिए उसका आकार ठीक त्रिशरावसंपुट जैसा बनता है। अलोक का आकार बीच में पोल वाले गोले के समान है। अलोकाकाश एकाकार है।

उसका कोई विभाग नहीं होता। लोकाकाश तीन भागों में विभक्त है[१३]—ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और मध्य लोक। लोक चौदह राजू लम्बा है। उसमें ऊंचा लोक सात राजू से कुछ कम है। तिरछा लोक अठारह सौ योजन प्रमाण है। नीचा लोक सात राजू से कुछ अधिक है।

जिस प्रकार एक ही आकाश धर्म-अधर्म के द्वारा लोक और अलोक इन दो भागों में बंटता है, ठीक वैसे ही इनके द्वारा लोकाकाश के तीन विभाग और प्रत्येक विभाग की भिन्न-भिन्न आकृतियां बनती हैं[१४]। धर्म और अधर्म कहीं विस्तृत हैं और कहीं संकुचित। नीचे की ओर विस्तृत रूप से व्याप्त है अतः अधोलोक का आकार औंधे किये हुए शराव जैसा बनता है। मध्यलोक में वे कृश रूप में हैं, इसलिए उनका आकार बिना किनारी वाली झालर के समान हो जाता है। ऊपर की ओर वे फिर कुछ-कुछ विस्तृत होते चले गए हैं, इसलिए उर्ध्व लोक का आकार उर्ध्व मुख मृदंग जैसा होता है। अलोकाकाश में दूसरा कोई द्रव्य नहीं, इसलिए उसकी कोई आकृति नहीं बनती। लोकाकाश की अधिक से अधिक मोटाई सात राजू की है। लोक चार प्रकार का है—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक, भावलोक[१५]। द्रव्यलोक पंचास्तिकायमय एक है, इसलिए वह सांत है[१६]। लोक की परिधि असंख्य योजन कोड़ाकोड़ी की है, इसलिए क्षेत्रलोक भी सांत है[१७]।

सापेक्षवाद के आविष्कर्ता प्रो० आइन्स्टीन ने लोक का व्यास (Diametre) एक करोड़ अस्सी लाख प्रकाश वर्ष माना है। "एक प्रकाश वर्ष दूरी को कहते हैं जो प्रकाश की किरण १,८६,००० मील प्रति सेकण्ड के हिसाब से एक वर्ष में तय करती है।"

भगवान् महावीर ने देवताओं की "शीघ्रगति" की कल्पना से लोक की मोटाई को समझाया है। जैसे छह देवता लोक का अन्त लेने के लिए शीघ्र गति से छहों दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊंची और नीची) में चले[१८]। ठीक उसी समय एक सेठ के घर में एक हजार वर्ष की आयु वाला एक पुत्र जन्मा···उसकी आयु समाप्त हो गई। उसके बाद हजार वर्ष की आयु वाले उसके बेटे-पोते हुए। इस प्रकार सात पीढियां बीत गईं। उनके नाम, गोत्र भी मिट गए, तब तक वे देवता चलते रहे, फिर भी लोक के अन्त तक नहीं पहुंचे। हां, वे चलते-

चलते अधिक भाग पार कर गए। बाकी रहा वह भाग कम है—वे चले उसका असंख्यातवां भाग बाकी रहा है। जितना भाग चलना बाकी रहा है उससे असंख्यात् गुणा भाग पार कर चुके हैं। यह लोक इतना बड़ा है। काल और भाव की दृष्टि से लोक अनन्त है। ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें लोक का अस्तित्व न हो[१९]।

लोक पहले था, वर्तमान में है और भविष्य में सदा रहेगा—इसलिए काल-लोक अनन्त है। लोक में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की पर्याएं अनन्त हैं तथा बादर-स्कन्धों की गुरु लघु पर्याएं, सूक्ष्म स्कन्धों और अमूर्त द्रव्यों की अगुरु लघु पर्याएं अनन्त हैं। इसलिए भाव-लोक अनन्त है।

लोक-अलोक का पौर्वापर्य

आर्य रोह—भगवन्! पहले लोक और फिर अलोक बना अथवा पहले अलोक और फिर लोक बना?

भगवान्—रोह! ये दोनों शाश्वत हैं। इनमें पहले-पीछे का क्रम नहीं है[२०]।

लोक-स्थिति

गौतम ने पूछा—भंते! लोक-स्थिति कितने प्रकार की है?

भगवान्-गौतम! लोक-स्थिति के आठ प्रकार हैं। वे यों हैं:—

(१) वायु आकाश पर टिकी हुई है।

(२) समुद्र वायु पर टिका हुआ है।

(३) पृथ्वी समुद्र पर टिकी हुई है।

(४) त्रस-स्थावर जीव पृथ्वी पर टिके हुए हैं।

(५) अजीव-जीव के आश्रित हैं।

(६) सकर्म-जीव कर्म के आश्रित हैं।

(७) अजीव जीवों द्वारा संगृहीत है।

(८) जीव कर्म-संगृहीत हैं[२१]।

आकाश, पवन, जल और पृथ्वी—ये विश्व के आधारभूत अंग हैं। विश्व की व्यवस्था इन्हीं के आधाराधेय भाव से बनी हुई है। संसारी जीव और अजीव (पुद्गल) में आधाराधेय भाव और संग्राह्य-संग्राहक भाव ये दोनों हैं।

जीव आधार है और शरीर उसका आधेय। कर्म संसारी जीव का आधार है और संसारी जीव उसका आधेय।

जीव-अजीव (भाषा-वर्गणा, मन-वर्गणा और शरीर-वर्गणा) का संग्राहक है। कर्म संसारी जीव का संग्राहक है। तात्पर्य यह है—कर्म से बंधा हुआ जीव ही सशरीर होता है। वही चलता, फिरता, बोलता और सोचता है।

अचेतन जगत् से चेतन जगत् की जो विलक्षणताएं हैं, वे जीव और पुद्गल के संयोग से होती हैं। जितना भी वैभाविक परिवर्तन या दृश्य रूपान्तर है, *वह सब इन्हीं की संयोग-दशा का परिणाम है। जीव और पुद्गल के सिवाय* दूसरे द्रव्यों का आपस में संग्राह्य-संग्राहक भाव नहीं है।

लोक-स्थिति में जीव और पुद्गल का संग्राह्य-संग्राहक भाव माना गया है। यह परिवर्तन है। परिवर्तन का अर्थ है—उत्पाद और विनाश।

जैन दर्शन सर्वथा असृष्टिवादी भी नहीं है। वह परिवर्तनात्मक सृष्टिवादी भी है।

सृष्टिवाद के दो विचार-पक्ष हैं। एक विचार असत् से सत् की सृष्टि मानता है। दूसरा सत् से सत् की सृष्टि मानता है।

जैन दर्शन दूसरे प्रकार का सृष्टिवादी है। कई दर्शन चेतन से अचेतन[२२] और कई अचेतन से चेतन की सृष्टि मानते हैं[२३]। जैन दर्शन का मत इन दोनों के पक्ष में नहीं है।

जैन दर्शन सृष्टि के बारे में वैदिक ऋषि की भांति संदिग्ध भी नहीं है[२४]।

चेतन से अचेतन अथवा अचेतन से चेतन की सृष्टि नहीं होती। दोनों अनादि-अनन्त हैं।

विश्व का वर्गीकरण

अरस्तू ने विश्व का वर्गीकरण (१) द्रव्य (२) गुण (३) परिमाण (४) सम्बन्ध (५) दिशा (६) काल (७) आसन (८) स्थिति (९) कर्म (१०) परिणाम—इन दस पदार्थों में किया।

वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन छह तत्त्वों में करते हैं।

जैन-दृष्टि से विश्व छह द्रव्यों में वर्गीकृत है। छह द्रव्य हैं—धर्म, अधर्म,

आकाश, काल, पुद्गल और जीव। काल के सिवाय शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं। अस्तिकाय का अर्थ है—प्रदेश-समूह—अवयव-समुदाय। प्रत्येक द्रव्य का सबसे छोटा, परमाणु जितना भाग प्रदेश कहलाता है। उनका काय-समूह अस्तिकाय है। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव के प्रदेशों का विघटन नहीं होता। इसलिए ये अविभागी द्रव्य हैं। ये अवयवी इस दृष्टि से हैं कि इनके परमाणु तुल्य खण्डों की कल्पना की जाए तो वे असंख्य होते हैं। पुद्गल विभागी द्रव्य है। उसका शुद्ध रूप परमाणु है। वह अविभागी है। परमाणुओं में संयोजन-वियोजन स्वभाव होता है। अतः उनके स्कन्ध बनते हैं और उनका विघटन होता है। कोई भी स्कन्ध शाश्वत नहीं होता। इसी दृष्टि से पुद्गल द्रव्य विभागी है। वह धर्म द्रव्यों की तरह एक व्यक्ति नहीं, किन्तु अनन्त व्यक्तिक है। जिस स्कन्ध में जितने परमाणु मिले हुए होते हैं, वह स्कन्ध उतने प्रदेशों का होता है। द्व्यणुक स्कन्ध द्विप्रदेशी यावत् अनन्ताणुक स्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है। जीव भी अनन्त व्यक्ति है। किन्तु प्रत्येक जीव असंख्य प्रदेशी है। काल न प्रदेश है और न परमाणु। वह औपचारिक द्रव्य है। प्रदेश नहीं, इसलिए उसके अस्तिकाय होने का प्रश्न ही नहीं उठता। काल वास्तविक वस्तु नहीं तब द्रव्य क्यों? इसका समाधान यह है कि वह द्रव्य की भांति उपयोगी है—व्यवहार प्रवर्तक है, इसलिए उसे द्रव्य की कोटि में रखा गया है। वह दो प्रकार का है—नैश्चयिक और व्यावहारिक। पांच अस्तिकाय का जो वर्तमान-रूप परिणमन है, वह नैश्चयिक है, ज्योतिष की गति के आधार पर होने वाला व्यावहारिक। अथवा वर्तमान का एक समय नैश्चयिक और भूत, भविष्य व्यावहारिक। बीता हुआ समय चला जाता है और आने वाला समय उत्पन्न नहीं होता, इसलिए ये दोनों अविद्यमान होने के कारण व्यावहारिक या औपचारिक हैं। क्षण, मुहूर्त, दिन रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि सब भेद व्यावहारिक काल के होते हैं। दिग् स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। आकाश के काल्पनिक खण्ड का नाम दिग् है[२५]।

द्रव्य

भूत और भविष्य का संकलन करने वाला (जोड़ने वाला) वर्तमान है। वर्तमान के बिना भूत और भविष्य का कोई मूल्य नहीं रहता। इसका अर्थ

यह है कि हम जिस वस्तु का जब कभी एक बार अस्तित्व स्वीकार करते हैं तब हमें यह मानना पड़ता है कि वह वस्तु उससे पहले भी थी और बाद में भी रहेगी। वह एक ही अवस्था में रहती आई है या रहेगी—ऐसा नहीं होता, किन्तु उसका अस्तित्व कभी नहीं मिटता, यह निश्चित है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होते हुए भी वस्तु के मौलिक रूप और शक्ति का नाश नहीं होता। दार्शनिक परिभाषा में द्रव्य वही है जिसमें गुण और पर्याएं (अवस्थाएं) होती हैं। द्रव्य-शब्द की उत्पत्ति करते हुए कहा है—"अद्रुवत् द्रवति, द्रोष्यति, तांस्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम्"—जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा, वह द्रव्य है। इसका फलित अर्थ यह है—अवस्थाओं का उत्पाद और विनाश होते रहने पर भी जो ध्रुव रहता है, वही द्रव्य है। दूसरे शब्दों में यूं कहा जा सकता है कि अवस्थाएं उसीमें उत्पन्न एवं नष्ट होती हैं जो ध्रुव रहता है। क्योंकि ध्रौव्य (समानता) के बिना पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं का सम्बन्ध नहीं रह सकता। हम कुछ और सरलता में जाएं तो द्रव्य की यह भी परिभाषा कर सकते हैं कि—"पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं में जो व्याप्त रहता है, वह द्रव्य है।" संक्षेप में "सद् द्रव्यम्"—जो सत् है वह द्रव्य है [२१]। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस त्रयात्मक स्थिति का नाम सत् है। द्रव्य में परिणमन होता है—उत्पाद और व्यय होता है फिर भी उसकी स्वरूप-हानि नहीं होती। द्रव्य के प्रत्येक अंश में प्रति समय जो परिवर्तन होता है, वह सर्वथा विलक्षण नहीं होता। परिवर्तन में कुछ समानता मिलती है और कुछ असमानता। पूर्व-परिणाम और उत्तर परिणाम में जो समानता है वही द्रव्य है। उस रूप से द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट। वह अनुस्यूत रूप वस्तु की प्रत्येक अवस्था में प्रभावित रहता है, जैसे माला के प्रत्येक मोती में धागा अनुस्यूत रहता है। पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती परिणमन में जो असमानता होती है, वह पर्याय है। उस रूप में द्रव्य उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। इस प्रकार द्रव्य प्रति समय उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थिर भी रहता है। द्रव्य रूप से वस्तु स्थिर रहती है और पर्याय रूप से उत्पन्न और नष्ट होती है। इससे यह फलित होता है कि कोई भी वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य, किन्तु परिणामी-नित्य है।

परिणामी नित्यत्ववाद

परिणाम की व्याख्या करते हुए पूर्वाचार्यों ने लिखा है—

"परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम् ।
न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥ १ ॥
सत्पर्यायेण विनाशः, प्रादुर्भावोऽसता च पर्ययतः ।
द्रव्याणां परिणामः, प्रोक्तः खलु पर्ययनयस्य ॥" ॥ २ ॥

जो एक अर्थ से दूसरे अर्थ में चला जाता है—एक वस्तु से दूसरी वस्तु के रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसका नाम परिणाम है। यह परिणाम द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से होता है। सर्वथा व्यवस्थित रहना या सर्वथा नष्ट हो जाना परिणाम का स्वरूप नहीं है। वर्तमान पर्याय का नाश और अविद्यमान पर्याय का उत्पाद होता है, वह पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से होने वाला परिणाम है। द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य है। इसलिए उसकी दृष्टि से सत् पर्याय की अपेक्षा जिसका कथंचित् रूपान्तर होता है, किन्तु जो सर्वथा नष्ट नहीं होता, वह परिणाम है। पर्यायार्थिक नय का विषय पर्याय है। इसलिए उसकी दृष्टि से जो सत् पर्याय से नष्ट और असत् पर्याय से उत्पन्न होता है, वह परिणाम है। दोनों दृष्टियों का समन्वय करने से द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक बन जाता है। जिसको हम दूसरे शब्दों में परिणामी-नित्य या कथंचित्-नित्य कहते हैं।

आगम की भाषा में जो गुण का आश्रय-अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है—वही द्रव्य है। इनमें पहली परिभाषा स्वरूपात्मक है और दूसरी अवस्थात्मक दोनों में समन्वय का तात्पर्य है—द्रव्य को परिणामी-नित्य स्थापित करना।

द्रव्य में दो प्रकार के धर्म होते हैं—सहभावी (यावत् द्रव्यभावी)—गुण और क्रमभावी-पर्याय। बौद्ध सत् द्रव्य को एकान्त अनित्य (निरन्वय क्षणिक—केवल उत्पाद-विनाश स्वभाव) मानते हैं, उस स्थिति में वेदान्ती सत्पदार्थ-ब्रह्म को एकान्त नित्य। पहला परिवर्तनवाद है तो दूसरा नित्यसत्तावाद। जैन-दर्शन इन दोनों का समन्वय कर परिणामि नित्यत्ववाद स्थापित करता है, जिसका आशय यह है कि सत्ता भी है और परिवर्तन भी—द्रव्य

उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी, तथा इस परिवर्तन में भी उसका अस्तित्व नहीं मिटता। उत्पाद और विनाश के बीच यदि कोई स्थिर आधार न हो तो हमें सजातीयता—'यह वही है', का अनुभव नहीं हो सकता। यदि द्रव्य निर्विकार ही हो तो विश्व की विविधता संगत नहीं हो सकती। इसलिए 'परिणामि-नित्यत्व' जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसकी तुलना रासायनिक विज्ञान के 'द्रव्याक्षरत्ववाद' से की जा सकती है।

द्रव्याक्षरत्ववाद का स्थापन सन् १७८९ में Lawoisier नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने किया था। संक्षेप में इस सिद्धान्त का आशय यह है कि इस अनन्त विश्व में द्रव्य का परिणाम सदा समान रहता है, उसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती। न किसी वर्तमान द्रव्य का सर्वथा नाश होता है और न किसी सर्वथा नये द्रव्य की उत्पत्ति होती है। साधारण दृष्टि से जिसे द्रव्य का नाश होना समझा जाता है, वह उसका रूपान्तर में परिणाम मात्र है। उदाहरण के लिए कोयला जलकर राख हो जाता है, उसे साधारणतः नाश हो गया कहा जाता है। परन्तु वस्तुतः वह नष्ट नहीं होता। वायुमण्डल के आक्सीजन अंश के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस के रूप में परिवर्तित होता है। यूं ही शक्कर या नमक पानी में घुलकर नष्ट नहीं होते, किन्तु ठोस से वे सिर्फ द्रव रूप में परिणत होते हैं। इसी प्रकार जहाँ कहीं कोई नवीन वस्तु उत्पन्न होती प्रतीत होती है वह भी वस्तुतः किसी पूर्ववर्ती वस्तु का रूपान्तर मात्र है। घर में अव्यवस्थित रूप से पड़ी रहने वाली कड़ाई में जंग लग जाता है, यह क्या है ? यहाँ भी जंग नामक कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ अपितु धातु की ऊपरी सतह, जल और वायुमण्डल के आक्सीजन के संयोग से लोहे के आक्सी-हाइड्रेट के रूप में परिणत हो गई। भौतिकवाद पदार्थों के गुणात्मक अन्तर को परिमाणात्मक अन्तर में बदल देता है। शक्ति परिमाण में परिवर्तनशील नहीं, गुण की अपेक्षा परिवर्तनशील है। प्रकाश, तापमान, चुम्बकीय आकर्षण आदि का ह्रास नहीं होता, सिर्फ ये एक दूसरे में परिवर्तित होते हैं। जैन दर्शन में मातृपदिका का सिद्धान्त भी यही है[१७]।

उत्पादध्रुवविनाशैः, परिणामः क्षणे-क्षणे।
द्रव्याणामविरोधश्च, प्रत्यक्षादिह दृश्यते[१८] ॥

उत्पाद; ध्रुव और व्यय — यह त्रिविध लक्षण द्रव्यों का परिणाम प्रतिक्षण अविरोधतया होता रहता है—इन शब्दों में और "जिसे द्रव्य का नाश हो जाना समझा जाता है, वह उसका रूपान्तर में परिणाम मात्र है" इनमें कोई अन्तर् नहीं है। वस्तु-दृष्ट्या संसार में जितने द्रव्य हैं, उतने ही थे और उतने ही रहेंगे। उनमें से न कोई घटता है और न कोई बढ़ता है। अपनी-अपनी सत्ता की परिधि में सब द्रव्य जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश पाते रहते हैं। आत्मा की भी सापेक्ष मृत्यु होती है। तन्तुओं से पट या दूध से दही—ये सापेक्ष उत्पन्न होते हैं। जन्म और मृत्यु दोनों सापेक्ष हैं—एक ध्रुव द्रव्य की, दो—पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं के सूचक हैं। सूक्ष्म-दृष्ट्या पहला क्षण सापेक्ष उत्पाद और दूसरा क्षण सापेक्ष नाश का हेतु है। स्थूल-दृष्ट्या स्थूल पर्याय का पहला क्षण जन्म और अन्तिम क्षण मृत्यु के व्यपदेश का हेतु है।

पुरुष नित्य है और प्रकृति परिणामि-नित्य, इस प्रकार सांख्य भी नित्या-नित्यत्ववाद स्वीकार करता है। नैयायिक और वैशेषिक परमाणु, आत्मा आदि को नित्य मानते हैं तथा घट, पट आदि को अनित्य। समूहापेक्षा से वे भी परिणामि-नित्यत्ववाद को स्वीकार करते हैं किन्तु जैन दर्शन की तरह द्रव्य-मात्र को परिणामि-नित्य नहीं मानते। महर्षि पतंजलि, कुमारिल भट्ट, पार्थसार मिश्र आदि ने 'परिणामि-नित्यत्ववाद' को एक स्पष्ट सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया, फिर भी उन्होंने इसका प्रकारान्तर से पूर्ण समर्थन किया है[२१]।

धर्म और अधर्म

जैन साहित्य में जहाँ धर्म-अधर्म शब्द का प्रयोग शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों के अर्थ में होता है, वहाँ दो द्रव्यों के अर्थ में भी—धर्म—गतितत्त्व, अधर्म—स्थितितत्त्व। दार्शनिक जगत् में जैन दर्शन के सिवाय किसी ने भी इनकी स्थिति नहीं मानी है। वैज्ञानिकों में सब से पहले न्यूटन ने गति-तत्त्व (Medium of motion) को स्वीकार किया है। प्रसिद्ध गणितज्ञ अलबर्ट आइंस्टीन ने भी गति-तत्त्व स्थापित किया है—"लोक परिमित है, लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है

कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का—द्रव्य का अभाव है, जो गति में सहायक होता है।" वैज्ञानिकों द्वारा सम्मत ईथर (Ether) गति-तत्त्व का ही दूसरा नाम है [३०]। जहाँ वैज्ञानिक अध्यापक छात्रों को इसका अर्थ समझाते हैं, वहाँ ऐसा लगता है, मानो कोई जैन गुरु शिष्यों के सामने धर्म-द्रव्य की व्याख्या कर रहा हो। हवा से रिक्त नालिका में शब्द की गति होने में यह अभौतिक ईथर ही सहायक बनता है। भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया कि जितने भी चल भाव हैं—सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन मात्र हैं, वे सब धर्म की सहायता से प्रवृत्त होते हैं, गति-शब्द केवल सांकेतिक है [३१]। गति और स्थिति दोनों सापेक्ष हैं। एक के अस्तित्व से दूसरे का अस्तित्व अत्यन्त अपेक्षित है।

धर्म, अधर्म की तार्किक मीमांसा करने से पूर्व इनका स्वरूप समझ लेना अनुपयुक्त नहीं होगा :—

	द्रव्य से	क्षेत्र से	काल से	भाव से	गुण से
धर्म	[३२] एक और व्यापक	[३३] लोक प्रमाण	अनादि-अनन्त	अमूर्त्त	गति सहायक
अधर्म	”	”	”	”	स्थिति सहायक

धर्म अधर्म की यौक्तिक अपेक्षा

धर्म और अधर्म को मानने के लिए हमारे सामने मुख्यतया दो यौक्तिक दृष्टियां हैं—(१) गतिस्थितिनिमित्तक द्रव्य और (२) लोक, अलोक की विभाजक शक्ति। प्रत्येक कार्य के लिए उपादान और निमित्त—इन दो कारणों की आवश्यकता होती है। विश्व में जीव और पुद्गल दो द्रव्य गतिशील हैं। गति के उपादान कारण तो वे दोनों स्वयं हैं। निमित्त कारण किसे माने? यह प्रश्न सामने आता है, तब हमें ऐसे द्रव्यों की आवश्यकता होती है, जो

गति एवं स्थिति में सहायक बन सकें। हवा स्वयं गतिशील है, तो पृथ्वी, पानी आदि सम्पूर्ण लोक में व्याप्त नहीं है। गति और स्थिति सम्पूर्ण लोक में होती है, इसलिए हमें ऐसी शक्तियों की अपेक्षा है, जो स्वयं गतिशून्य और सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो, अलोक में न हो[३४]। इस यौक्तिक आधार पर हमें धर्म, अधर्म की आवश्यकता का सहज बोध होता है।

लोक-अलोक की व्यवस्था पर दृष्टि डालें, तब भी इसके अस्तित्व की जानकारी मिलती है। आचार्य मलयगिरी ने इनका अस्तित्व सिद्ध करते हुए लिखा है—"इनके बिना लोक-अलोक की व्यवस्था नहीं होती[३५]।"

लोक है इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योंकि यह इन्द्रिय-गोचर है। अलोक इन्द्रियातीत है, इसलिए उसके अस्तित्व या नास्तित्व का प्रश्न उठता है। किन्तु लोक का अस्तित्व मानने पर अलोक की अस्तिता अपने आप मान ली जाती है। तर्क-शास्त्र का नियम है कि "जिसका वाचक पद व्युत्पत्तिमान् और शुद्ध होता है, वह पदार्थ सत् प्रतिपक्ष होता है, जैसे अघट-घट का प्रतिपक्ष है, इसी प्रकार जो लोक का विपक्ष है, वह अलोक है[३६]।"

जिसमें जीव आदि सभी द्रव्य होते हैं, वह लोक है[३७] और जहाँ केवल आकाश ही आकाश होता है, वह अलोक है[३८]। अलोक में जीव, पुद्गल नहीं होते, इसका कारण है--वहाँ धर्म और अधर्म द्रव्य का अभाव। इसलिए ये (धर्म-अधर्म) लोक, अलोक के विभाजक बनते हैं। "आकाश लोक और अलोक दोनों में तुल्य है,[३९] इसीलिए धर्म और अधर्म को लोक तथा अलोक का परिच्छेदक मानना युक्तियुक्त है। यदि ऐसा न हो तो उनके विभाग का आधार ही क्या रहे।"

गौतम—"भगवन्! गति सहायक तत्त्व (धर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान्—"गौतम! गति का सहारा नहीं होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की तरंगें कैसे फैलती? आंख कैसे खुलती? कौन मनन करता? कौन बोलता? कौन हिलता-डुलता?—यह विश्व अचल ही होता। जो चल है उन सब का आलम्बन गति-सहायक तत्त्व ही है[४०]।"

गौतम—"भगवन् ! स्थिति-सहायक-तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है ?"

भगवान्—"गौतम ! स्थिति का सहारा नहीं होता तो खड़ा कौन रहता ? कौन बैठता सोना कैसे होता ? कौन मन को एकाग्र करता ? मौन कौन करता ? कौन निस्पन्द बनता ? निमेष कैसे होता ? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर है उन सब का आलम्बन स्थिति-सहायक तत्व ही है [४१]।"

सिद्धसेन दिवाकर धर्म-अधर्म के स्वतन्त्र द्रव्यत्व को आवश्यक नहीं मानते। वे इन्हें द्रव्य के पर्याय-मात्र मानते हैं[४२]।

आकाश और दिक

"धर्म और अधर्म का अस्तित्व जैन दर्शन के अतिरिक्त किसी भी दर्शन द्वारा स्वीकृत नहीं है।" आकाश और दिक् के बारे में भी अनेक विचार प्रचलित हैं। कुछ दार्शनिक आकाश और दिक् को पृथक् द्रव्य मानते हैं। कुछ दिक् को आकाश से पृथक् नहीं मानते।

कणाद ने दिक् को नौ द्रव्यों में से एक माना है[४३]।

न्याय और वैशेषिक जिसका गुण शब्द है, उसे आकाश और जो बाह्य जगत् को देशस्थ करता है उसे दिक् मानते हैं। न्याय कारिकावली के अनुसार दूरत्व और सामीप्य तथा क्षेत्रीय परत्व और अपरत्व की बुद्धि का जो हेतु है वह दिक् है। वह एक और नित्य है। उपाधि-भेद से उसके पूर्व, पश्चिम आदि विभाग होते हैं।

दूरान्तिकादिधीर्हेतुरेका नित्यादिगुच्यते (४६)

उपाधिभेदादेकापि, प्राच्यादि व्यपदेशभाक् (४७)

कणाद सूत्र (२।२।१३) के अनुसार इनका भेद कार्य-विशेष से होता है। यदि वह शब्द की निष्पत्ति का कारण बनता है तो आकाश कहलाता है और यदि वह बाह्य-जगत् के अर्थों के देशस्थ होने का कारण बनता है तो दिक् कहलाता है।

अभिधम्म के अनुसार आकाश एक धातु है। आकाश-धातु का कार्य रूपपरिच्छेद (ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् रूपों का विभाग) करना—है।

जैन दर्शन के अनुसार आकाश स्वतन्त्र द्रव्य है। दिक् उसीका काल्पनिक

विभाग है, आकाश का गुण शब्द नहीं है। शब्द-पुद्गलों के संघात और भेद का कार्य है [४४]। आकाश का गुण अवगाहन है, वह स्वयं अनालम्ब है, शेष सब द्रव्यों का आलम्बन है। स्वरूप की दृष्टि से सभी द्रव्य स्व-प्रतिष्ठ है। किन्तु क्षेत्र या आयतन की दृष्टि से वे आकाश प्रतिष्ठ होते हैं। इसीलिए उसे सब द्रव्यों का भाजन कहते हैं [४५]।

गौतम—भगवन्! आकाश-तत्त्व से जीवों और अजीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम! आकाश नहीं होता तो—ये जीव कहाँ होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते? काल कहाँ बरतता? पुद्गल का रंगमंच कहाँ बनता?—यह विश्व निराधार ही होता [४६]।

द्रव्य-दृष्टि—आकाश-अनन्त प्रदेशात्मक द्रव्य है।

क्षेत्र-दृष्टि—आकाश-अनन्त विस्तार वाला है—लोक-अलोकमय है।

काल-दृष्टि—आकाश-अनादि अनन्त है।

भाव-दृष्टि—आकाश अमूर्त है।

आकाश के जिस भाग से वस्तु का व्यपदेश या निरूपण किया जाता है, वह दिक् कहलाता है [४७]।

दिशा और अनुदिशा की उत्पत्ति तिर्यक् लोक से होती है।

दिशा का प्रारम्भ आकाश के दो प्रदेशों से शुरू होता है और उनमें दो-दो प्रदेशों की वृद्धि होते-होते वे असंख्य प्रदेशात्मक बन जाती हैं। अनुदिशा केवल एक देशात्मक होती है। ऊर्ध्व और अधः दिशा का प्रारम्भ चार प्रदेशों से होता है फिर उनमें वृद्धि नहीं होती [४८]। यह दिशा का आगमिक स्वरूप है।

जिस व्यक्ति के जिस ओर सूर्योदय होता है, वह उसके लिए पूर्व और जिस ओर सूर्यास्त होता है, वह पश्चिम तथा दाहिने हाथ की ओर दक्षिण और बाएं हाथ की ओर उत्तर दिशा होती है। इन्हें ताप-दिशा कहा जाता है [४९]।

निमित्त-कथन आदि प्रयोजन के लिए दिशा का एक प्रकार और होता है। प्रज्ञापक जिस ओर मुंह किये होता है वह पूर्व, उसके पृष्ठ भाग

पश्चिम, दोनों पार्श्व दक्षिण और उत्तर होते हैं। इन्हें प्रज्ञापक-दिशा कहा जाता है [५०]।

काल

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है। वस्तु-वृत्त्या वह जीव और अजीव की पर्याय है [५१]। जहाँ इसके जीव अजीव की पर्याय होने का उल्लेख है, वहाँ इसे द्रव्य भी कहा गया है [५२]। ये दोनों कथन विरोधी नहीं किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय-दृष्टि में काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार-दृष्टि में वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है—"उपकारकं द्रव्यम्।" वर्तना आदि काल के उपकार हैं। इन्हीं के कारण वह द्रव्य माना जाता है। पदार्थों की स्थिति आदि के लिए जिसका व्यवहार होता है, वह आवलिकादिरूप काल जीव, अजीव से भिन्न नहीं है, उन्हीं की पर्याय है [५३]।

दिगम्बर आचार्य काल को अणुरूप मानते हैं [५४]। वैदिक दर्शनों में भी काल के सम्बन्ध में—नैश्चियक और व्यावहारिक दोनों पक्ष मिलते हैं। नैयायिक और वैशेषिक काल को सर्वव्यापी और स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं [५५]। योग सांख्य आदि दर्शन काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते [५६]।

कालवाद का आधार

श्वेताम्बर-परम्परा की दृष्टि से औपचारिक और दिगम्बर-परम्परा की दृष्टि से वास्तविक काल के उपकार या लिंग पांच हैं—वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व [५७]। न्याय-दर्शन के अनुसार परत्व और अपरत्व आदि काल के लिंग है [५८]। वैशेषिक—पूर्व, अपर, युगपत्, अयुगपत्, चिर और क्षिप्र को काल के लिंग मानते हैं [५९]।

कालाणुओं के अस्तित्व का आधार

एगम्हि संति समये, सम्भव ठिइणास सण्णिदा अट्ठा।

समयस्स सव्वकाल, एसहि कालाणु सब्भावो—प्रव० १४३

एक-एक समय में उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थ काल के सदा होते हैं। यही कालाणु के अस्तित्व का हेतु है।

विज्ञान की दृष्टि में आकाश और काल

आइन्स्टीन के अनुसार—आकाश और काल कोई स्वतन्त्र तथ्य नहीं हैं। ये द्रव्य या पदार्थ के धर्म मात्र हैं।

किसी भी वस्तु का अस्तित्व पहले तीन दिशाओं—लम्बाई, चौड़ाई और गहराई या ऊंचाई में माना जाता था। आइन्स्टीन ने वस्तु का अस्तित्व चार दिशाओं में माना।

वस्तु का रेखागणित (ऊंचाई, लम्बाई, चौड़ाई) में प्रसार आकाश है और उसका क्रमानुगत प्रसार काल है। काल और आकाश दो भिन्न तथ्य नहीं हैं।

ज्यों-ज्यों काल बीतता है त्यों-त्यों वह लम्बा होता जा रहा है। काल आकाश सापेक्ष है। काल की लम्बाई के साथ-साथ आकाश (विश्व के आयतन) का भी प्रसार हो रहा है। इस प्रकार काल और आकाश दोनों वस्तु धर्म हैं [१०]।

अस्तिकाय और काल

धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव—ये पांच अस्तिकाय हैं। ये तिर्यक्-प्रचय-स्कन्ध रूप में हैं, इसलिए उन्हें अस्तिकाय कहा जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश और एक जीव एक स्कन्ध हैं। इनके देश या प्रदेश ये विभाग काल्पनिक हैं। ये अविभागी हैं। पुद्गल विभागी हैं। उसके स्कन्ध और परमाणु—ये दो मुख्य विभाग हैं। परमाणु उसका अविभाज्य भाग है। दो परमाणु मिलते हैं—द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। जितने परमाणु मिलते हैं उतने प्रदेशों का स्कन्ध बन जाता है। प्रदेश का अर्थ है पदार्थ का परमाणु जितना अवयव या भाग। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव के स्कन्धों को परमाणु जितने विभाग किए जाए तो आकाश के अनन्त और शेष तीनों के असंख्य होते हैं। इसलिए आकाश को अनन्त प्रदेशी और शेष तीनों को असंख्य प्रदेशी कहा है। देश बुद्धि-कल्पित होता है, उसका कोई निश्चित परिमाण नहीं बताया जा सकता।

	स्कन्ध	देश	प्रदेश
धर्म	एक	अनियत	असंख्य
अधर्म	एक	अनियत	असंख्य
आकाश	एक	अनियत	अनन्त
पुद्गल	अनन्त (द्वि प्रदेशी यावत् अनन्त प्रदेशी)	अनियत	दो यावत् अनन्त परमाणु
एक जीव	एक	अनियत	असंख्य

काल के अतीत समय नष्ट हो जाते हैं। अनागत समय अनुत्पन्न होते हैं। इसलिए उसका स्कन्ध नहीं बनता। वर्तमान समय एक होता है, इसलिए उसका तिर्यक्प्रचय (तिरछा फैलाव) नहीं होता। काल का स्कन्ध या तिर्यक् प्रचय नहीं होता, इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार कालाणुओं की संख्या लोकाकाश के तुल्य है। आकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु अवस्थित है। काल-शक्ति और व्यक्ति की अपेक्षा एक प्रदेश वाला है। इसलिए इसके तिर्यक्-प्रचय नहीं होता। धर्म आदि पांचों द्रव्य के तिर्यक्-प्रचय क्षेत्र की अपेक्षा से होता है। और ऊर्ध्व प्रचय काल की अपेक्षा से होता है। उनके प्रदेश-समूह होता है, इसलिए वे फैलते हैं और काल के निमित्त से उनमें पौर्वापर्य या क्रमानुगत प्रसार होता है। समयों का प्रचय जो है वही काल द्रव्य का ऊर्ध्व-प्रचय है। काल स्वयं समय रूप है। उसकी परिणति किसी दूसरे

निमित्त की अपेक्षा से नहीं होती[११]। केवल ऊर्ध्व-प्रचय वाला द्रव्य अस्तिकाय नहीं होता।

काल के विभाग

काल चार प्रकार का होता है—प्रमाण-काल, यथायु निर्वृत्ति-काल, मरण-काल और अद्धा-काल[१२]।

काल के द्वारा पदार्थ मापे जाते हैं, इसलिए उसे प्रमाण-काल कहा जाता है।

जीवन और मृत्यु भी काल सापेक्ष हैं, इसलिए जीवन के अवस्थान को यथायु-निर्वृत्तिकाल और उसके अन्त को मरण काल कहा जाता है।

सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्ध रखने वाला अद्धा-काल कहलाता है। काल का प्रधान-रूप अद्धा-काल ही है। शेष तीनों इसीके विशिष्ट रूप हैं। अद्धा-काल व्यावहारिक है। वह मनुष्य-लोक में ही होता है। इसीलिए मनुष्य लोक को 'समय-क्षेत्र' कहा जाता है। निश्चय-काल जीव-अजीव का पर्याय है, वह लोकालोक व्यापी है। उसके विभाग नहीं होते। समय से लेकर पुद्गल-परावर्त तक के जितने विभाग हैं, वे सब अद्धा-काल के हैं[१३]। इसका सर्व सूक्ष्म भाग समय कहलाता है। यह अविभाज्य होता है। इसकी प्ररूपणा कमल-पत्र भेद और वस्त्र-विदारण के द्वारा की जाती है।

(क) एक दूसरे से सटे हुए कमल के सौ पत्तों को कोई बलवान् व्यक्ति सूई से छेद देता है, तब ऐसा ही लगता है कि सब पते साथ ही छिद गए, किन्तु यह होता नहीं। जिस समय पहला पत्ता छिदा, उस समय दूसरा नहीं। इसी प्रकार सब का छेदन क्रमशः होता है।

(ख) एक कलाकुशल युवा और बलिष्ठ जुलाहा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र या साड़ी को इतनी शीघ्रता से फाड़ डालता है कि दर्शक को ऐसा लगता है मानो सारा वस्त्र एक साथ फाड़ डाला, किन्तु ऐसा होता नहीं। वस्त्र अनेक तन्तुओं से बनता है। जब तक ऊपर के तन्तु नहीं फटते तब तक नीचे के तन्तु नहीं फट सकते। अतः यह निश्चित है कि वस्त्र फटने में काल-भेद होता है।

तात्पर्य यह है कि वस्त्र अनेक तन्तुओं से बनता है। प्रत्येक तन्तु में अनेक रूएं होते हैं। उनमें भी ऊपर का रूआं पहले छिदता है, तब कहीं उसके नीचे का रूआं छिदता है। अनन्त परमाणुओं के मिलन का नाम संघात है। अनन्त संघातों का एक समुदय और अनन्त समुदयों की एक समिति होती है। ऐसी अनन्त समितियों के संगठन से तन्तु के ऊपर का एक रूआं बनता है। इन सबका छेदन क्रमशः होता है। तन्तु के पहले रूएं के छेदन में जितना समय लगता है, उसका अत्यन्त सूक्ष्म अंश यानी असंख्यातवां भाग (हिस्सा) समय कहलाता है।

अविभाज्य काल	—एक समय
असंख्य समय	—एक आवलिका
२५६ आवलिका	—एक क्षुल्लक भव (सब से छोटी आयु)
२२२३ $\frac{१२२६}{३७७३}$ आवलिका	—एक उच्छ्वास निःश्वास
४४४६ $\frac{२४५८}{३७७३}$ आवलिका या	
साधिक १७ क्षुल्लक भव या एक श्वासोच्छ्वास	—एक प्राण
७ प्राण	—एक स्तोक
७ स्तोक	—एक लव
३८॥ लव	—एक घड़ी (२४ मिनट)
७७ लव	—दो घड़ी। अथवा,
	—६५५३६ क्षुल्लक भव। या,
	—१६७७७२१६ आवलिका अथवा,
	—३७७३ प्राण। अथवा,
	—एक मुहूर्त (सामायिक काल)
३० मुहूर्त	—एक दिन रात (अहो रात्रि)
१५ दिन	—एक पक्ष

२ पक्ष	—एक मास
२ मास	—एक ऋतु
३ ऋतु	—एक अयन
२ अयन	—एक साल
५ साल	—एक युग
७० क्रोड़ाक्रोड़ ५६ लाख क्रोड़ वर्ष	—एक पूर्व
असंख्य वर्ष	—एक पल्योपम[६४]
१० क्रोड़ाक्रोड़ पल्योपम	—एक सागर
२० क्रोड़ाक्रोड़ सागर	—एक काल चक्र
अनन्त काल चक्र	—एक पुद्‌गल परावर्तन

इन सारे विभागों को संक्षेप में अतीत, प्रत्युत्पन्न-वर्तमान और अनागत कहा जाता है।

पुद्गल

विज्ञान जिसको मैटर (Matter) और न्याय-वैशेषिक आदि जिसे भौतिक तत्त्व कहते हैं, उसे जैन-दर्शन में पुद्‌गल संज्ञा दी है। बौद्ध-दर्शन में पुद्‌गल शब्द आलय-विज्ञान—चेतनासन्तति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैन-शास्त्रों में भी अभेदोपचार से पुद्‌गल युक्त आत्मा को पुद्‌गल कहा है[६५]। किन्तु मुख्यतया पुद्‌गल का अर्थ है मूर्तिक द्रव्य। छह द्रव्यों में काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं—यानी अवयवी हैं, किन्तु फिर भी इन सबकी स्थिति एक सी नहीं। जीव, धर्म, अधर्म और आकाश—ये चार अविभागी हैं। इनमें संयोग और विभाग नहीं होता। इनके अवयव परमाणु द्वारा कल्पित किये जाते हैं। कल्पना करो—यदि इन चारों के परमाणु जितने-जितने खण्ड करें तो जीव, धर्म अधर्म के असंख्य और आकाश के अनन्त खण्ड होते हैं। पुद्‌गल अखंड द्रव्य नहीं है। उसका सबसे छोटा रूप एक परमाणु है और सबसे बड़ा रूप है विश्वव्यापी अचित महास्कन्ध[६६]। इसीलिए उसको पूरण-गलन-धर्मा कहा है। छोटा-बड़ा सूक्ष्म-स्थूल, हल्का-भारी, लम्बा-चौड़ा, बन्ध-भेद, आकार, प्रकाश-अन्धकार, ताप-छाया इनको पौद्‌गलिक मानना जैन तत्त्व-ज्ञान की सूक्ष्म-दृष्टि का परिचायक है।

तत्त्व-संख्या में परमाणु की स्वतन्त्र गणना नहीं है। वह पुद्गल का ही एक विभाग है। पुद्गल के दो प्रकार बतलाए हैं[१७] :—

१—परमाणु-पुद्गल।

नो परमाणु-पुद्गल—द्वयणुक आदि स्कन्ध।

पुद्गल के विषय में जैन-तत्त्व-वेत्ताओं ने जो विवेचना और विश्लेषणा दी है, उसमें उनकी मौलिकता सहज सिद्ध है।

यद्यपि कई पश्चिमी विद्वानों का खयाल है कि भारत में परमाणुवाद यूनान से आया, किन्तु यह सही नहीं। यूनान में परमाणुवाद का जन्म-दाता डिमोक्रिटस् हुआ है। उसके परमाणुवाद से जैनों का परमाणुवाद बहुतांश में भिन्न है, मौलिकता की दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। जैन-दृष्टि के अनुसार परमाणु चेतन का प्रतिपक्षी है, जबकि डिमोक्रिटस् के मतानुसार आत्म-सूक्ष्म परमाणुओं का ही विकार है।

कई भारतीय विद्वान् परमाणुवाद को कणाद ऋषि की उपज मानते हैं। किन्तु तटस्थ दृष्टि से देखा जाए तो वैशेषिकों का परमाणुवाद जैन-परमाणुवाद से पहले का नहीं है और न जैनों की तरह वैशेषिकों ने उसके विभिन्न पहलुओं पर वैज्ञानिक प्रकाश ही डाला है। इस विषय में 'दर्शन-शास्त्र का इतिहास' पुस्तक के लेखक का मत मननीय है[१८]। उन्होंने लिखा है कि भारतवर्ष में परमाणुवाद के सिद्धान्त को जन्म देने का श्रेय जैन दर्शन को मिलना चाहिए। उपनिषद् में अणु शब्द का प्रयोग हुआ है, जैसे—'अणोरणीयान् महतो महीयान्', किन्तु परमाणुवाद नाम की कोई वस्तु उनमें नहीं पाई जाती। वैशेषिकों का परमाणुवाद शायद इतना पुराना नहीं है।

ई० पू० के जैन-सूत्रों एवं उत्तरवर्ती साहित्य में परमाणु के स्वरूप और कार्य का सूक्ष्मतम अन्वेषण परमाणुवाद के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

परमाणु का स्वरूप

जैन-परिभाषा के अनुसार अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभागी पुद्गल को परमाणु कहा जाता है[१९]। आधुनिक विज्ञान के विद्यार्थी को परमाणु

के उपलक्षणों में सन्देह हो सकता है, कारण कि विज्ञान के सूक्ष्म यन्त्रों में परमाणु की अविभाज्यता सुरक्षित नहीं है।

परमाणु अगर अविभाज्य न हो तो उसे परम+अणु नहीं कहा जा सकता। विज्ञान-सम्मत परमाणु टूटता है, उसे भी हम अस्वीकार नहीं करते। इस समस्या के बीच हमें जैन-सूत्र अनुयोगद्वार में वर्णित परमाणु-द्विविधता का सहज स्मरण हो आता है[७०]—

१ सूक्ष्म परमाणु।

२ व्यावहारिक परमाणु।

सूक्ष्म परमाणु का स्वरूप वही है, जो कुछ ऊपर की पंक्तियों में बताया गया है। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के समुदय से बनता है[७१]। वस्तुवृत्त्या वह स्वयं परमाणु-पिंड है, फिर भी साधारण दृष्टि से ग्राह्य नहीं होता और साधारण अस्त्र-शस्त्र से तोड़ा नहीं जा सकता, थोड़े में उसकी परिणति सूक्ष्म होती है, इसलिए व्यवहारतः उसे परमाणु कहा गया है। विज्ञान के परमाणु की तुलना इस व्यावहारिक परमाणु से होती है। इसलिए परमाणु के टूटने की बात एक सीमा तक जैन-दृष्टि को भी स्वीकार्य है।

पुद्गल के गुण

स्पर्श—शीत, उष्ण, रुक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, मृदु और कर्कश।

रस—आम्ल, मधुर, कटु, कषाय और तिक्त।

गन्ध—सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्ण—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत।

ये बीस पुद्गल के गुण हैं।

यद्यपि संस्थान—परिमंडल, वृत्त, त्र्यंश, चतुरंश आदि पुद्गल में ही होता है, फिर भी उसका गुण नहीं है[७२]।

सूक्ष्म परमाणु द्रव्य रूप में निरवयव और अविभाज्य होते हुए भी पर्याय दृष्टि से वैसा नहीं है[७३]। उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये चार गुण और अनन्त पर्याय होते हैं[७४]। एक परमाणु में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श (शीत-उष्ण, स्निग्ध-रुक्ष, इन युगलों में से एक-एक) होते हैं। पर्याय की दृष्टि से एक गुण वाला परमाणु अनन्त गुण वाला हो जाता है और अनन्त

गुण वाला परमाणु एक गुण वाला। एक परमाणु में वर्ण से वर्णान्तर, गन्ध से गन्धान्तर, रस से रसान्तर और स्पर्श से स्पर्शान्तर होना जैन-दृष्टि-सम्मत है।

एक गुण वाला पुद्‌गल यदि उसी रूप में रहे तो जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्य काल तक रह सकता है [७५]। द्विगुण से लेकर अनन्त गुण तक के परमाणु पुद्‌गलों के लिए यही नियम है। बाद में उनमें परिवर्तन अवश्य होता है। यह वर्ण विषयक नियम गन्ध, रस और स्पर्श पर भी लागू होता है।

परमाणु की अतीन्द्रियता

परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं होता। फिर भी अमूर्त नहीं है, वह रूपी है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष से वह देखा जाता है। परमाणु मूर्त होते हुए भी दृष्टि-गोचर नहीं होता, इसका कारण है उसकी सूक्ष्मता।

केवल-ज्ञान का विषय मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थ हैं। इसलिए केवली (सर्वज्ञ और अतीन्द्रिय-द्रष्टा) तो परमाणु को जानते ही हैं; चाहे वे संसार-दशा में हों, चाहे सिद्ध हो। अकेवली यानी छद्मस्थ अथवा क्षायोपशमिक ज्ञानी—जिसका आवरण-विलय अपूर्ण है, परमाणु को जान भी सकता है, नहीं भी। अवधिज्ञानी—रूपी द्रव्य विषयक प्रत्यक्ष वाला योगी उसे जान सकता है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष वाला व्यक्ति नहीं जान सकता [७६]।

एक प्राचीन श्लोक में उक्त लक्षण-दिशा का संकेत मिलता है —

कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥

परमाणुसमुदय—स्कन्ध और पारमाणविक जगत्

यह दृश्य जगत्—पौद्‌गलिक जगत् परमाणुसंघटित है। परमाणुओं से स्कन्ध बनते हैं और स्कन्धों से स्थूल पदार्थ। पुद्‌गल में संघातक और विघातक —ये दोनों शक्तियाँ हैं। पुद्‌गल शब्द में ही 'पूरण और गलन' इन दोनों का मेल है [७७]। परमाणु के मेल से स्कन्ध बनता है और एक स्कन्ध के टूटने से भी अनेक स्कन्ध बन जाते हैं। यह गलन और मिलन की प्रक्रिया स्वाभाविक भी होती है और प्राणी के प्रयोग से भी। कारणकि पुद्‌गल की अवस्थाएं

सादि, सान्त होती है; अनादि, अनन्त नहीं [७८]। पुद्गल में अगर वियोजक शक्ति नहीं होती तो सब अणुओं का एक पिण्ड बन जाता और यदि संयोजक शक्ति नहीं होती तो एक-एक अणु अलग-अलग रहकर कुछ नहीं करपाते। प्राणी-जगत् के प्रति परमाणु का जितना भी कार्य है, वह सब परमाणुसमुदयजन्य है और साफ कहा जाए तो अनन्त परमाणु-स्कन्ध ही प्राणीजगत् के लिए उपयोगी हैं [७९]।

स्कन्ध-भेद की प्रक्रिया के कुछ उदाहरण

दो परमाणु-पुद्गल के मेल से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है और द्विप्रदेशी स्कन्ध के भेद से दो परमाणु हो जाते हैं [८०]।

तीन परमाणु मिलने से त्रिप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उनके अलगाव में दो विकल्प हो सकते हैं—तीन परमाणु अथवा एक परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।

चार परमाणु के समुदय से चतुःप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उसके भेद के चार विकल्प होते हैं —

१—एक परमाणु और एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध।

२—दो द्विप्रदेशी स्कन्ध।

३—दो पृथक्-पृथक् परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।

४—चारों पृथक्-पृथक परमाणु।

पुद्गल में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य

पुद्गल शाश्वत भी है और अशाश्वत भी[८१]। द्रव्यार्थतया शाश्वत है और पर्यायरूप में अशाश्वत। परमाणु-पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा अचरम है। यानी परमाणु संघात रूप में परिणत होकर भी पुनः परमाणु बन जाता है। इसलिए द्रव्यत्व की दृष्टि से चरम नहीं है। क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चरम भी होता है और अचरम भी [८२]।

पुद्गल की द्विविधा परिणति

पुद्गल की परिणति दो प्रकार की होती है —

१—सूक्ष्म।

२—बादर।

अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी जब तक सूक्ष्म परिणति में रहता है, तब तक इन्द्रियग्राह्य नहीं बनता और सूक्ष्म परिणति वाले स्कन्ध चतुःस्पर्शी होते हैं। उत्तरवर्ती चार स्पर्श बादर परिणाम वाले चार स्कन्धों में ही होते हैं,। गुरु-लघु और मृदु-कठिन—ये स्पर्श पूर्ववर्ती चार स्पर्शों के सापेक्ष संयोग से बनते हैं। रूक्ष स्पर्श की बहुलता से लघु स्पर्श होता है और स्निग्ध की बहुलता से गुरु। शीत व स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से मृदु स्पर्श और उष्ण तथा रूक्ष की बहुलता से कर्कश स्पर्श बनता है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म परिणति की विस्मृति के साथ-साथ जहाँ स्थूल परिणति होती है, वहाँ चार स्पर्श भी बढ़ जाते हैं।

पुद्गल के विचार

पुद्गल द्रव्य चार प्रकार का माना गया है [८३]:—

१—स्कन्ध

२—स्कन्ध-देश

३—स्कन्ध-प्रदेश

४—परमाणु

स्कन्ध—परमाणु-प्रचय। देश—स्कन्ध का कल्पित विभाग। प्रदेश—स्कन्ध से अपृथग्भूत अविभाज्य अंश। परमाणु—स्कन्ध से पृथग् निरंश-तत्त्व।

प्रदेश और परमाणु में सिर्फ स्कन्ध से पृथग्भाव और अपृथग्भाव का अन्तर है।

पुद्गल कबसे और कब तक ?

प्रवाह की अपेक्षा स्कन्ध और परमाणु अनादि अपर्यवसित हैं। कारण कि इनकी सन्तति अनादिकाल से चली आ रही है और चलती रहेगी। स्थिति की अपेक्षा यह सादि सपर्यवसान भी है। जैसे परमाणुओं से स्कन्ध बनता है और स्कन्ध-भेद से परमाणु बन जाते हैं।

परमाणु परमाणु के रूप में, स्कन्ध स्कन्ध के रूप में रहें तो कम-से-कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल तक रह सकते हैं [८४]। बाद में तो उन्हें बदलना ही पड़ता है। यह इनकी कालसापेक्ष स्थिति है। क्षेत्रसापेक्ष स्थिति—परमाणु अथवा स्कन्ध के एक क्षेत्र में रहने की स्थिति भी यही है।

परमाणु के स्कन्धरूप में परिणत होकर फिर परमाणु बनने में जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्य काल लगता है [८५]। और द्व्यणुकादि स्कन्धों के परमाणुरूप में अथवा त्र्यणुकादि स्कन्धरूप में परिणत होकर फिर मूल रूप में आने में जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः अनन्त काल लगता है।

एक परमाणु अथवा स्कन्ध जिस आकाश-प्रदेश में थे और किसी कारण-वश वहाँ से चल पड़े, फिर उसी आकाश-प्रदेश में उत्कृष्टतः अनन्त काल के बाद और जघन्यतः एक समय के बाद ही आ जाते हैं [८६]। परमाणु आकाश के एक प्रदेश में ही रहते हैं। स्कन्ध के लिए यह नियम नहीं है। वे एक, दो संख्यात, असंख्यात प्रदेशों में रह सकते हैं। यावत्—समूचे लोकाकाश तक भी फैल जाते हैं। समूचे लोक में फैल जाने वाला स्कन्ध 'अचित्त महास्कन्ध' कहलाता है।

पुद्गल का अप्रदेशित्व और सप्रदेशित्व

स्कन्ध—द्रव्य की अपेक्षा स्कन्ध सप्रदेशी होते हैं [८७]। जिस स्कन्ध में जितने परमाणु होते हैं, वह तत्परिमाणप्रदेशी स्कन्ध कहलाता है।

क्षेत्र की अपेक्षा स्कन्ध सप्रदेशी भी होते हैं और अप्रदेशी भी। जो एक आकाश-प्रदेशावगाही होता है, वह अप्रदेशी और जो दो आदि आकाश-प्रदेशावगाही होता है, वह सप्रदेशी।

काल की अपेक्षा जो स्कन्ध एक समय की स्थिति वाला होता है, वह अप्रदेशी और जो इससे अधिक स्थिति वाला होता है, वह सप्रदेशी।

भाव की अपेक्षा एक गुण वाला अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी।

परमाणु

द्रव्य की अपेक्षा परमाणु अप्रदेशी होते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा अप्रदेशी होते हैं। काल की अपेक्षा एक समय की स्थिति वाला परमाणु अप्रदेशी और अधिक समय की स्थिति वाला सप्रदेशी। भाव की अपेक्षा एक गुण वाला अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी।

परिणमन के तीन हेतु[८८]

परिणमन की अपेक्षा पुद्गल तीन प्रकार के होते हैं :—

१—वैस्रसिक

२—प्रायोगिक

३—मिश्र

स्वभावतः जिनका परिणमन होता है वे वैस्रसिक, जीव के प्रयोग से शरीरादि रूप में परिणत पुद्‌गल प्रायोगिक और जीव के द्वारा मुक्त होने पर भी जिनका जीव के प्रयोग से हुआ परिणमन नहीं छूटता अथवा जीव के प्रयत्न और स्वभाव दोनों के संयोग से जो बनते हैं, वे मिश्र कहलाते हैं, जैसे—

१—प्रायोगिक परिणाम—जीवच्छरीर

२—मिश्र परिणाम—मृत शरीर

३—वैस्रसिक परिणाम—उल्कापात

इनका रूपान्तर असंख्य काल के बाद अवश्य ही होता है।

पुद्‌गल द्रव्य में एक ग्रहण नाम का गुण होता है। पुद्‌गल के सिवाय अन्य पदार्थों में किसी दूसरे पदार्थ से जा मिलने की शक्ति नहीं है। पुद्‌गल का आपस में मिलन होता है वह तो है ही, किन्तु इसके अतिरिक्त जीव के द्वारा उसका ग्रहण किया जाता है। पुद्‌गल स्वयं जाकर जीव से नहीं चिपटता, किन्तु वह जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ संलग्न होता है। जीव-सम्बद्ध पुद्‌गल का जीव पर बहुविध असर होता है, जिसका औदारिक आदि वर्गणा के रूप में आगे उल्लेख किया जाएगा।

प्राणी और पुद्‌गल का सम्बन्ध

प्राणी के उपयोग में जितने पदार्थ आते हैं, वे सब पौद्‌गलिक होते हैं ही, किन्तु विशेष ध्यान देने की बात यह है कि वे सब जीव-शरीर में प्रयुक्त हुए होते हैं। तात्पर्य यह है कि मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, साग-सब्जी और त्रस कायिक जीवों के शरीर या शरीरमुक्त पुद्‌गल हैं।

दूसरी दृष्टि से देखें तो स्थूल स्कन्ध वे ही हैं, जो विस्रसा-परिणाम से औदारिक आदि वर्गणा के रूप में सम्बद्ध होकर प्राणियों के स्थूल शरीर के रूप में परिणत अथवा उससे मुक्त होते हैं [८१]। वैशेषिकों की तरह जैन-दर्शन में पृथ्वी, पानी आदि के परमाणु पृथक् लक्षण वाले नहीं हैं। इन सब में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण, ये सभी गुण रहते हैं।

पुद्गल की गति

परमाणु स्वयं गतिशील है। वह एक क्षण में लोक के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जो असंख्य योजन की दूरी पर है, चला जाता है। गति-परिणाम उसका स्वाभाविक धर्म है। धर्मास्तिकाय उसका प्रेरक नहीं, सिर्फ सहायक है। दूसरे शब्दों में गति का उपादान परमाणु स्वयं है। धर्मास्तिकाय तो उसका निमित्तमात्र है[१०]।

परमाणु सैज (सकम्प) भी होता है[११] और अनेज (अकम्प) भी। कदाचित् वह चंचल होता है, कदाचित् नहीं। उनमें न तो निरन्तर कम्प-भाव रहता है और न निरन्तर अकम्प-भाव भी।

द्व्यणु-स्कन्ध में कदाचित् कम्पन कदाचित् अकम्पन होता है। वे द्व्यंश होते हैं, इसलिए उनमें देश-कम्प और देश-अकम्प ऐसी स्थिति भी होती है।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध में कम्प-अकम्प की स्थिति द्विप्रदेशी स्कन्ध की तरह होती है। सिर्फ देश-कम्प के एक वचन और द्विवचन सम्बन्धी विकल्पों का भेद होता है। जैसे एक देश में कम्प होता है, देश में कम्प नहीं होता। देश में कम्प होता है, देशों (दो) में कम्प नहीं होता। देशों (दो) में कम्प होता है, देश में कम्प नहीं होता।

चतुः प्रदेशी स्कन्ध में देश में कम्प, देश में अकम्प, देश में कम्प और देशों (दो) में अकम्प, देशों (दो) में अकम्प और देश में अकम्प, देश में कम्प और देशों में अकम्प होता है।

पाँच प्रदेश यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध की भी यही स्थिति है।

पुद्गल के आकार-प्रकार

परमाणु-पुद्गल अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश होते हैं[१२]।

द्विप्रदेशी स्कन्ध सार्द्ध, अमध्य और सप्रदेश होते हैं।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध अनर्द्ध, समध्य और सप्रदेश होते हैं।

समसंख्यक परमाणु-स्कन्धों की स्थिति द्विप्रदेशी स्कन्ध की तरह होती है और विषम-संख्यक परमाणु स्कन्धों की स्थिति त्रिप्रदेशी स्कन्ध की तरह।

पुद्गल द्रव्य की चार प्रकार की स्थिति बतलाई गई है[१३]—

१—द्रव्य स्थानायु

२—क्षेत्र स्थानायु

३—अवगाहन स्थानायु

४—भाव स्थानायु

१—परमाणु परमाणुरूप में और स्कन्ध स्कन्धरूप में अवस्थित हैं, वह द्रव्य स्थानायु है।

२—जिस आकाश-प्रदेश में परमाणु या स्कन्ध अवस्थित रहते हैं, उसका नाम है क्षेत्र स्थानायु।

३—परमाणु और स्कन्ध का नियत परिमाण में जो अवगाहन होता है, वह है अवगाहन स्थानायु।

क्षेत्र और अवगाहन में इतना अन्तर है कि क्षेत्र का सम्बन्ध आकाश प्रदेशों से है, वह परमाणु और स्कन्ध द्वारा अवगाढ़ होता है तथा अवगाहन का सम्बन्ध पुद्‌गल द्रव्य से है। तात्पर्य, कि उनका अमुक-परिमाण क्षेत्र में प्रसरण होता है।

४—परमाणु और स्कन्ध के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण की परिणति को भाव स्थानायु कहा जाता है।

परमाणुओं का श्रेणी-विभाग

परमाणुओं की आठ मुख्य वर्गणाएँ (Qualities) हैं :—

१—औदारिक वर्गणा

२—वैक्रिय वर्गणा

३—आहारक वर्गणा

४—तैजस वर्गणा

५—कार्मण वर्गणा

६—श्वासोच्छ्वास वर्गणा

७—वचन वर्गणा

८—मन वर्गणा

औदारिक वर्गणा—स्थूल पुद्‌गल—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों के शरीर-निर्माण योग्य पुद्‌गल-समूह।

वैक्रिय वर्गणा—छोटा-बड़ा, हल्का-भारी, दृश्य-अदृश्य आदि विविध क्रियाएं करने में समर्थ शरीर के योग्य पुद्‌गल-समूह।

आहारक वर्गणा—योग-शक्तिजन्य शरीर के योग्य पुद्‌गल-समूह।

तैजस वर्गणा—विद्युत-परमाणु-समूह (Electrical Molecues)

कार्मण वर्गणा—जीवों की अत् असत् क्रिया के प्रतिफल में बनने वाला पुद्‌गल-समूह

श्वाशोच्छ्वास वर्गणा—आन-प्राण योग्य पुद्‌गल-समूह

वचन वर्गणा—भाषा के योग्य पुद्‌गल-समूह।

मन वर्गणा—चिन्तन में सहायक बनने वाला पुद्‌गल-समूह।

इन वर्गणाओं के अवयव क्रमशः सूक्ष्म और अति प्रचय वाले होते हैं। एक पौद्‌गलिक पदार्थ का दूसरे पौद्‌गलिक पदार्थ के रूप में परिवर्तन होता है। वर्गणा का वर्गणान्तर के रूप में परिवर्तन होना भी जैन-दृष्टि-सम्मत है।

पहली चार वर्गणाएं अष्टस्पर्शी—स्थूल स्कन्ध हैं। वे हल्की-भारी, मृदु-कठोर भी होती हैं। कार्मण, भाषा और मन—ये तीन वर्गणाएं चतुःस्पर्शी—सूक्ष्म स्कन्ध हैं। इनमें केवल शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष—ये चार ही स्पर्श होते हैं। गुरु, लघु, मृदु, कठिन—ये चार स्पर्श नहीं होते। श्वासोच्छ्वास वर्गणा चतुःस्पर्शी और अष्ट-स्पर्शी दोनों प्रकार के होते हैं।[१४]

परमाणु-स्कन्ध की अवस्था

परमाणु स्कन्ध रूप में परिणत होते हैं, तब उनकी दस अवस्थाएँ—कार्य हमें उपलब्ध होती हैं :—

१—शब्द[१५]

२—बन्ध

३—सौक्ष्म्य

४—स्थौल्य

५—संस्थान

६—भेद

७— तम

८ छाया

९ आतप

१० उद्योत

ये पौद्गलिक कार्य तीन प्रकार के होते हैं :—

१ प्रायोगिक[९६]

२ मिश्र

३ वैस्रसिक

इनका क्रमशः अर्थ है—जीव के प्रयत्न से बनने वाली वस्तुएं जीव, के प्रयत्न और स्वभाव दोनों के संयोग से बनने वाली वस्तुएं तथा स्वभाव से बनने वाली वस्तुएं।

शब्द

जैन दार्शनिकों ने शब्द को केवल पौद्गलिक कहकर ही विश्राम नहीं लिया किन्तु उसकी उत्पत्ति,[९७] शीघ्रगति,[९८] लोक व्यापित्व,[९९] स्थायित्व, आदि विभिन्न पहलुओं पर पूरा प्रकाश डाला है[१००]। तार का सम्बन्ध न होते हुए भी सुघोषा घण्टा का शब्द असंख्य योजन की दूरी पर रही हुई घण्टाओं में प्रतिध्वनित होता है[१०१]—यह विवेचन उस समय का है जबकि 'रेडियो' वायरलेस आदि का अनुसन्धान नहीं हुआ था। हमारा शब्द क्षणमात्र में लोकव्यापी बन जाता है, यह सिद्धान्त भी आज से ढाई हजार वर्ष पहले ही प्रतिपादित हो चुका था।

शब्द पुद्गल-स्कन्धों के संघात और भेद से उत्पन्न होता है। उसके भाषा शब्द (अक्षर-सहित और अक्षर रहित), नो भाषा शब्द (आतोद्य शब्द और नो आतोद्य शब्द) आदि अनेक भेद हैं।

वक्ता बोलने के पूर्व भाषा-परमाणुओं को ग्रहण करता है, भाषा के रूप में उनका परिणमन करता है और तीसरी अवस्था है उत्सर्जन[१०२]। उत्सर्जन के द्वारा बाहर निकले हुए भाषा-पुद्गल आकाश में फैलते हैं। वक्ता का प्रयत्न अगर मन्द है तो वे पुद्गल अभिन्न रहकर 'जल-तरंग-न्याय' से असंख्य योजन तक फैलकर शक्तिहीन हो जाते हैं। और यदि वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है तो वे भिन्न होकर दूसरे असंख्य स्कन्धों को ग्रहण करते-करते. अति सूक्ष्म काल में लोकान्त तक चले जाते हैं।

हम जो सुनते हैं वह वक्ता का मूल शब्द नहीं सुन पाते। वक्ता का शब्द श्रेणियों—आकाश-प्रदेश की पंक्तियों में फैलता है। ये श्रेणियां वक्ता के पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊंचे और नीचे छहों दिशाओं में हैं।

हम शब्द की सम श्रेणी में होते हैं तो मिश्र शब्द सुनते हैं अर्थात् वक्ता द्वारा उच्चारित शब्द द्रव्यों और उनके द्वारा वासित शब्द-द्रव्यों को सुनते हैं।

यदि हम विश्रेणी (विदिशा) में होते हैं तो केवल वासित शब्द ही सुन पाते हैं[१०३]।

सूक्ष्मता और स्थूलता

परमाणु सूक्ष्म है और अचित्त-महास्कन्ध स्थूल है। इनके मध्यवर्ती सौक्ष्म्य और स्थौल्य आपेक्षिक हैं—एक स्थूल वस्तु की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को सूक्ष्म और एक सूक्ष्म वस्तु की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को स्थूल कहा जाता है।

दिगम्बर आचार्य स्थूलता और सूक्ष्मता के आधार पर पुद्गल को छह भागों में विभक्त करते हैं :—

१—बादर-बादर—पत्थर आदि जो विभक्त होकर स्वयं न जुड़े।

२—बादर—प्रवाही पदार्थ जो विभक्त होकर स्वयं मिल जाएं।

३—सूक्ष्म बादर—धूम आदि जो स्थूल भासित होने पर भी अविभाज्य हैं।

४—बादर सूक्ष्म—रस आदि जो सूक्ष्म होने पर इन्द्रिय गम्य हैं।

५—सूक्ष्म—कर्म-वर्गणा आदि जो इन्द्रियातीत हैं।

६—सूक्ष्म-सूक्ष्म—कर्म-वर्गणा से भी अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध।

बन्ध

अवयवों का परस्पर अवयव और अवयवी के रूप में परिणमन होता है—उसे बन्ध कहा जाता है। संयोग में केवल अन्तर रहित अवस्थान होता है किन्तु बन्ध में एकत्व होता है।

बन्ध के दो प्रकार हैं—

१—वैस्रसिक २—प्रायोगिक

स्वभाव जन्य बन्ध वैस्रसिक कहलाता है।

जीव के प्रयोग से जो बन्ध होता है उसे प्रायोगिक कहा जाता है। वैस्रसिक बन्ध सादि और अनादि-दोनों प्रकार का होता है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का बन्ध अनादि है। सादि बन्ध केवल पुद्‌गलों का होता है। द्व्यणुक आदि स्कन्ध बनते हैं वह सादि बन्ध है उसकी प्रक्रिया यह है—

स्कन्ध केवल परमाणुओं के संयोग से नहीं बनता। चिकने और रूखे परमाणुओं का परस्पर एकत्व होता है तब स्कन्ध बनता है अर्थात् स्कन्ध की उत्पत्ति का हेतु परमाणुओं का स्निग्धत्व और रूक्षत्व है।

विशेष नियम यह है—

(१) जघन्य अंश वाले चिकने और रूखे परमाणु मिलकर स्कन्ध नहीं बना सकते।

(२) समान अंश वाले परमाणु, यदि वे सदृश हों—केवल चिकने हों या केवल रूखे हों, मिलकर स्कन्ध नहीं बना सकते।

(३) स्निग्धता या रूक्षता दो अंश या तीन अंश आदि अधिक हों तो सदृश परमाणु मिलकर स्कन्ध का निर्माण कर सकते हैं।

इस प्रक्रिया में श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परा में कुछ मतभेद है। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार—

(१) जघन्य अंश वाले परमाणु का अजघन्य-अंश वाले परमाणु के साथ बन्ध होता है।

(२) सदृश परमाणुओं में तीन-चार आदि अंश अधिक होने पर भी स्कन्ध होना माना जाता है।

(३) दो अंश आदि अधिक हों तो बन्ध होता है—यह सदृश परमाणुओं के लिए ही है।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार—

(१) एक जघन्य अंश वाले परमाणु का दूसरे अजघन्य अंश वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता [१०४]।

(२) सदृश परमाणुओं में केवल दो अंश अधिक होने पर ही बन्ध माना जाता है [१०५]।

(३) दो अंश अधिक होने का विधान सदृश-सदृश की तरह असदृश-असदृश परमाणुओं के लिए भी है[१०६]।

श्वेताम्बर-ग्रन्थ तत्त्वार्थ भाषानुसारिणी टीका के अनुसार

अंश	सदृश	विसदृश
१—जघन्य जघन्य[१०७]	नहीं	नहीं
२—जघन्य ऐकाधिक	नहीं	है
३—जघन्य द्वयाधिक	है	है
४—जघन्य त्र्यादि अधिक	है	है
५—जघन्येतर समजघन्येतर	नहीं	नहीं
६—जघन्येतर एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
७—जघन्येतर द्वयाधिक जघन्येतर	है	है
८—जघन्तेर अधिक जघन्येतर	है	है

दिगम्बर-ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि के अनुसार

अंश	सदृश	विसदृश
१—जघन्य जघन्य	नहीं	नहीं
२—जघन्य एकाधिक	नहीं	नहीं
३—जघन्य द्वयाधिक	नहीं	नहीं
४—जघन्य त्र्यादि अधिक	नहीं	नहीं
५—जघन्येतर सम जघन्येतर	नहीं	नहीं
६—जघन्येतर एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
७—जघन्येतर द्वयाधिक जघन्येतर	है	है
८—जघन्येतर त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

बन्ध काल में अधिक अंश वाले परमाणु हीन अंश वाले परमाणुओं को अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। पांच अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अंश वाला स्निग्ध परमाणु पांच अंश वाला हो जाता है। इसी प्रकार पांच अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अंश वाला रूखा परमाणु स्निग्ध हो जाता है। जिस प्रकार स्निग्धत्व हीनांश रूक्षत्व को अपने में मिला लेता है उसी प्रकार रूक्षत्व भी हीनांश स्निग्धत्व अपने में मिला लेता है।

कभी-कभी परिस्थितिवश स्निग्ध परमाणु समांश रूक्ष परमाणुओं को और रूक्ष परमाणु समांश स्निग्ध परमाणुओं को भी अपने-अपने रूप में परिणत कर लेते हैं[१०८]।

दिगम्बर-परम्परा को यह समांश-परिणति मान्य नहीं है[१०९]।

छाया—अपारदर्शक और पारदर्शक—दोनों प्रकार की होती है।

आतप—उष्ण प्रकाश या ताप किरण।

उद्योत—शीत प्रकाश या ताप किरण।

अग्नि—स्वयं गरम होती है और उसकी प्रभा भी गरम होती है।

आतप—स्वयं ठण्डा और उसकी प्रभा गरम होती है।

उद्योत—स्वयं ठण्डा और उसकी प्रभा भी ठण्डी होती है।

प्रतिबिम्ब

गौतम—भगवन्! काच में देखने वाला व्यक्ति क्या काच को देखता है? अपने शरीर को देखता है? अथवा अपने प्रतिबिम्ब को देखता है? वह क्या देखता है?

भगवान्—गौतम! काच में देखने वाला व्यक्ति कांच को नहीं देखता—वह स्पष्ट है। अपने शरीर को भी नहीं देखता—वह उसमें नहीं है। वह अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देखता है[११०]।

प्रतिबिम्ब-प्रक्रिया औरउसका दर्शन

पौद्गलिक वस्तुएं दो प्रकार की होती हैं। (१) सूक्ष्म (२) स्थूल। इन्द्रिय-गोचर होने वाली सभी वस्तुएं स्थूल होती हैं। स्थूल वस्तुएं चयापचय धर्मक (घट-बढ़ जाने वाली) होती हैं। इनमें से रश्मियां निकलती हैं—वस्तु आकार के अनुरूप छाया-पुद्गल निकलते हैं। और वे भास्कर या अभास्कर वस्तुओं में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं[१११]। अभास्कर वस्तु में पड़ने वाली छाया दिन में श्याम और रात को काली होती है। भास्कर वस्तुओं में पड़ने वाली छाया वस्तु के वर्णानुरूप होती है[११२]। आदर्श में जो शरीर के अवयव संक्रान्त होते हैं वे प्रकाश के द्वारा वहाँ दृष्टिगत होते हैं। इसलिए आदर्शद्रष्टा व्यक्ति आदर्श में न आदर्श देखता है, न अपना शरीर किन्तु अपना प्रतिबिम्ब देखता है।

प्राणी-जगत् के प्रति पुद्गल का उपकार

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह जीव की मुख्य क्रियाएं हैं। इन्हीं के द्वारा प्राणी की चेतना का स्थूल बोध होता है। प्राणी का आहार, शरीर, दृश्य, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास और भाषा—ये सब पौद्गलिक हैं।

मानसिक चिन्तन भी पुद्गल-सहायापेक्ष है। चिन्तक चिन्तन के पूर्व क्षण में मन-वर्गणा के स्कन्धों को ग्रहण करता है। उनकी चिन्तन के अनुकूल आकृतियाँ बन जाती हैं। एक चिन्तन से दूसरे चिन्तन में संक्रान्त होते समय पहली-पहली आकृतियाँ बाहर निकलती रहती हैं और नई-नई आकृतियाँ बन जाती हैं। वे मुक्त आकृतियाँ आकाश-मण्डल में फैल जाती हैं। कई थोड़े काल बाद परिवर्तित हो जाती हैं और कई असंख्य काल तक परिवर्तित नहीं भी होतीं। इन मन-वर्गणा के स्कन्धों का प्राणी के शरीर पर भी अनुकूल एवं प्रतिकूल परिणाम होता है। विचारों की दृढ़ता से विचित्र काम करने का सिद्धान्त इन्हीं का उपजीवी है।

यह समूचा दृश्य संसार पौद्गलिक ही है। जीव की समस्त वैभाविक अवस्थाएं पुद्गल-निमित्तक होती हैं। तात्पर्य-दृष्टि से देखा जाए तो यह जगत् जीव और परमाणुओं के विभिन्न संयोगों का प्रतिबिम्ब (परिणाम) है। जैन-सूत्रों में परमाणु और जीव-परमाणु की संयोगकृत दशाओं का अति प्रचुर वर्णन है। भगवती, प्रज्ञापना और स्थानाङ्ग आदि इसके आकर-ग्रन्थ हैं। 'परमाणु-षट्त्रिंशिका' आदि परमाणुविषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण जैन-तत्त्वज्ञों की परमाणुविषयक स्वतन्त्र अन्वेषणा का मूर्त रूप है। आज के विज्ञान की अन्वेषणाओं के विचित्र वर्ण इनमें भरे पड़े हैं। भारतीय वैज्ञानिक जगत् के लिए यह गौरव की बात है।

एक द्रव्य-अनेक द्रव्य

समानजातीय द्रव्यों की दृष्टि से सब द्रव्यों की स्थिति एक नहीं है। छह द्रव्यों में धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीन द्रव्य एक द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से एक हैं। इनके समानजातीय द्रव्य नहीं हैं। एक-द्रव्य द्रव्य व्यापक होते हैं।

धर्म अधर्म समूचे लोक में व्याप्त हैं। आकाश लोक अलोक दोनों में व्याप्त है। काल, पुद्‌गल और जीव—ये तीन द्रव्य अनेक द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से अनन्त हैं।

पुद्‌गल द्रव्य सांख्य-सम्मत प्रकृति की तरह एक या व्यापक नहीं किन्तु अनन्त हैं, अनन्त परमाणु और अनन्त स्कन्ध हैं[११३]। जीवात्मा भी एक और व्यापक नहीं, अनन्त हैं। काल के भी समय अनन्त हैं[११४]। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन में द्रव्यों की संख्या के दो ही विकल्प हैं—एक या अनन्त[११५]। कई ग्रन्थकारों ने काल के असंख्य परमाणु माने हैं पर वह युक्त नहीं। यदि उन कालाणुओं को स्वतन्त्र द्रव्य माने तब तो द्रव्य-संख्या में विरोध आता है और यदि उन्हें एक समुदय के रूप में माने तो अस्तिकाय की संख्या में विरोध आता है। इसलिए कालाणु असंख्य हैं और वे समूचे लोकाकाश में फैले हुए हैं। यह बात किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती।

सादृश्य-वैसादृश्य

विशेष गुण की अपेक्षा पांचों द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्‌गल और जीव विसदृश हैं। सामान्य गुण की अपेक्षा वे सदृश भी हैं। व्यापक गुण की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश सदृश हैं। अमूर्तत्व की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और जीव सदृश है। अचैतन्य की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्‌गल सदृश हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व प्रदेशत्व और अगुरु-लघुत्व की अपेक्षा सभी द्रव्य सदृश हैं।

असंख्य द्वीप-समुद्र और मनुष्य-क्षेत्र

जैन-दृष्टि के अनुसार भूवलय (भूगोल) का स्वरूप इस प्रकार है—तिरछे लोक में असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं। उनमें मनुष्यों की आबादी सिर्फ ढाई द्वीप [जम्बू, धातकी और अर्ध पुष्कर] में ही है। इनके बीच में लवण और कालोदधि—ये दो समुद्र भी आ जाते हैं, बाकी के द्वीप-समुद्रों में न तो मनुष्य पैदा होते हैं और न सूर्य-चन्द्र की गति होती है, इसलिए ये ढाई द्वीप और दो समुद्र शेष द्वीप समुद्रों से विभक्त हो जाते हैं। इनको 'मनुष्य क्षेत्र' या 'समय-क्षेत्र' कहा जाता है। शेष इनसे व्यतिरिक्त हैं। उनमें सूर्य-चन्द्र हैं सही, पर वे चलते नहीं, स्थिर हैं। जहाँ सूर्य है वहाँ सूर्य और जहाँ चन्द्रमा है

वहाँ चन्द्रमा। इसलिए वहाँ समय का माप नहीं है। तिरछालोक असंख्य योजन का है, उसमें मनुष्य-लोक सिर्फ ४५ लाख योजन का है। पृथ्वी का इतना बड़ा रूप वर्तमान की साधारण दुनियां को भले ही एक कल्पना-सा लगे, किन्तु विज्ञान के विद्यार्थी के लिए कोई आश्चर्यजनक नहीं। वैज्ञानिकों ने ग्रह, उपग्रह और ताराओं के रूप में असंख्य पृथ्वियां मानी हैं। वैज्ञानिक जगत् के अनुसार—"ज्येष्ठ तारा इतना बड़ा है कि उसमें हमारी वर्तमान दुनियां जैसी सात नील पृथ्वियां समा जाती हैं[११६]।" वर्तमान में उपलब्ध पृथ्वी के बारे में एक वैज्ञानिक ने लिखा है—"और तारों के सामने यह पृथ्वी एक धूल के कण के समान है[११७]। विज्ञान निहारिका की लम्बाई-चौड़ाई का जो वर्णन करता है, उसे पढ़कर कोई भी व्यक्ति आधुनिक या विज्ञानवादी होने के कारण ही प्राच्य वर्णनों को कपोल-कल्पित नहीं मान सकता।" नंगी आँखों से देखने से यह निहारिका शायद एक धुंधले बिन्दु मात्र-सी दिखलाई पड़ेगी, किन्तु इसका आकार इतना बड़ा है कि हम बीस करोड़ मील व्यास वाले गोले की कल्पना करें, तब ऐसे दस लाख गोलों की लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान करें—फिर भी उक्त निहारिका की लम्बाई-चौड़ाई के सामने उक्त अपरिमेय आकार भी तुच्छ होगा और इस ब्रह्माण्ड में ऐसी हजारों निहारिकाएं हैं। इससे भी बड़ी और इतनी दूरी पर हैं कि १ लाख ८६ हजार मील प्रति सेकेण्ड चलने वाले प्रकाश को वहाँ से पृथ्वी तक पहुँचने में १० से ३० लाख वर्ष तक लग सकते हैं[११८]। वैदिक शास्त्रों में भी इसी प्रकार अनेक द्वीप-समुद्र होने का उल्लेख मिलता है। जम्बूद्वीप, भरत आदि नाम भी समान ही हैं। आज की दुनियां एक अन्तर-खण्ड के रूप में है। इसका शेष दुनियां से सम्बन्ध जुड़ा हुआ नहीं दीखता। फिर भी दुनियां को इतना ही मानने का कोई कारण नहीं। आज तक हुई शोधों के इतिहास को जानने वाला इस परिणाम तक कैसे पहुँच सकता है कि दुनियां बस इतनी है और उसकी अन्तिम शोध हो चुकी है।

अलोक का आकाश अनन्त है। लोक का आकाश सीमित है[११९]। अलोक की तुलना में लोक एक छोटा-सा टुकड़ा है। अपनी सीमा में वह बहुत बड़ा है। पृथ्वी और उसके आश्रित जीव और अजीव आदि सारे द्रव्य

इसके गर्भ में समाए हुए हैं।

पृथ्वियां आठ हैं। सब से छोटी पृथ्वी 'सिद्ध शिला' है वह ऊँचे लोक में है।

(१) रत्न प्रभा (२) शर्करा प्रभा (३) बालुका प्रभा (४) पङ्क प्रभा (५) धूम प्रभा (६) तमः प्रभा (७) महातम प्रभा—ये सात बड़ी पृथ्वियां हैं। ये सातों नीचे लोक में हैं। पहली पृथ्वी का ऊपरी भाग तिरछे लोक में है। हम उसी पर रह रहे हैं। यह पृथ्वी एक ही है। किन्तु जल और स्थल के विभिन्न आवेष्टनों के कारण वह असंख्य-भागों में बंटी हुई है। जैन सूत्रों में इसके बृहदाकार और प्रायः अचल मर्यादा का स्वरूप लिखा गया है। पृथ्वी के लध्वाकार और चल मर्यादा में परिवर्तन होते रहते हैं। बृहदाकार और अचल मर्यादा के साथ लध्वाकार और चल मर्यादा की संगति नहीं होती, इसीलिए बहुत सारे लोग असमञ्जस में पड़े हुए हैं।

प्रो० घासीराम जैन ने इस स्थिति का उल्लेख करते हुए लिखा है :—

"विश्व की मूल आकृति तो कदाचित् अपरिवर्तनीय हो किन्तु उसके भिन्न-भिन्न अङ्गों की आकृति में सर्वदा परिवर्तन हुआ करते हैं। ये परिवर्तन कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन नहीं किन्तु कभी-कभी भयानक हुआ करते हैं। उदाहरणतः भूगर्भ-शास्त्रियों को हिमाचल पर्वत की चोटी पर वे पदार्थ उपलब्ध हुए हैं जो समुद्र की तली में रहते हैं। जैसे, सीप, शंख, मछलियों के अस्थिपञ्जर-प्रभृति"। अत एव इससे यह सिद्ध हो चुका है कि अब से ३ लाख वर्ष पूर्व हिमालय पर्वत समुद्र के गर्भ में था। स्वर्गीय पण्डित गोपालदासजी वरैय्या अपनी—"जैन जागरफी" नामक पुस्तक में लिखते हैं :—

"चतुर्थ काल के आदि में इस आर्य-खण्ड में उपसागर की उत्पत्ति होती है जो क्रम से चारों तरफ को फैलकर आर्य-खण्ड के बहुभाग को रोक लेता है। वर्तमान के एशिया, योरोप, अफ्रिका, अमेरिका और आस्ट्रेलिया ये पांचों महाद्वीप इसी आर्य-खण्ड में हैं। उपसागर ने चारों ओर फैलकर ही इनको द्वीपाकार बना दिया है। केवल हिन्दुस्तान को ही आर्य-खण्ड नहीं समझना चाहिए।"

अब से लेकर चतुर्थकाल के आदि तक की लगभग वर्ष-संख्या १४३ के आगे ६० शून्य लगाने से बनती है। अर्थात्-उपसागर की उत्पत्ति से जो भयानक परिवर्तन धरातल पर हुआ उसको इतना लम्बा काल बीत गया, और तब से भी अब तक और छोटे-छोटे परिवर्तन भी हुए ही होंगे। जिस भूमि को यह उप-समुद्र घेरे हुए है वहाँ पहले स्थल था—ऐसा पता आधुनिक भू-शास्त्रवेत्ताओं ने चलाया है जो 'गौंडवाना लैंड—सिद्धान्त (Gondwanaland Theory) के नाम से सुप्रसिद्ध है। अभी इस गौंडवाना-लैंड के सम्बन्ध में जो विवाद ब्रिटिश ऐसोशिएसन की भू-गर्भ, जन्तु व वनस्पति-विज्ञान की सम्मिलित मीटिंग में हुआ है उसका मुख्य अंश हम पाठकों की जानकारी के लिए उधृत करते हैं।

सिद्धान्त इस प्रकार है कि किसी समय में, जिसकी काल-गणना शायद अभी तक नहीं की जा सकी। एक ऐसा द्वीप विद्यमान था जो दक्षिणी अमेरीका और अफ्रिका के वर्तमान द्वीपों को जोड़ता था और जहाँ आजकल दक्षिणी अटलांटिक महासागर स्थित है। इस खोए हुए द्वीप को गौंडवानालैंड के नाम से पुकारते हैं और इससे हमारे उप-सागर-उत्पत्ति सिद्धान्त की पुष्टि होती है :—

—Professor Watson, President of the Zoology section, treated the question from the biological point of view. He traced certain marked resemblances in the reptile lye in each of two existing continents, quoting among other examples, the case of the decynodon, the most characteristic of the snakes of the Karroo, which was found also in South America, Madagasker, India and Australia. He went on to deduce from the peculiar similarity in the flora, reptiles and glacial conditions that there must have been some great equational continent between Africa and South America, possibly

extending to Australia. The Professor mentioned, further an out the Gondwanaland theory, the ling fish, which can live out of water as well as in it, is found in fresh water only in South Africa and South America, the two species being almost indistinguishable. Dr. Du Joit (South Africa) declared that the former existance of Gondwanaland and was almost indisputable……

अर्थात् प्रो० वाटसन ने प्राणी-विज्ञान की अपेक्षा-दृष्टि से विवेचन करते हुए बतलाया कि इन द्वीप-महाद्वीपों में पाये जाने वाले कृमियों (Reptiles) में बड़ी भारी समानता है। उदाहरणस्वरूप कारू का विचित्र सांप दक्षिणी अमेरिका, मेडागास्कर (अफ्रिका का निकटवर्ती अन्तर द्वीप) हिन्दुस्थान और आस्ट्रेलिया में भी पाया जाता है। अत एव उन्होंने इन प्रमाणों द्वारा यह परिणाम निकाला कि दक्षिणी अमेरिका, अफ्रिका और सम्भवतः आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ भूमध्य-रेखा के निकटवर्ती कोई महाद्वीप अवश्य था जो अब नहीं रहा। इसी के समर्थन में उन्होंने एक विशेष प्रकार की मछली का भी बयान किया जो जल के बाहर अथवा भीतर दोनों प्रकार जीवित रहती है। तत्पश्चात् दक्षिणी अफ्रिका के डा० डूरो ने अनेक प्रमाणों सहित इस बात को स्वीकार किया कि गौंडवाना-लैंड की स्थिति के सम्बन्ध में अब कोई विशेष मतभेद नहीं है।

समय-समय पर और भी अनेक परिवर्तन हुए हैं। यह दिखलाने के लिए "वीणा" वर्ष ३ अंक ४ में प्रकाशित एक लेख का कुछ अंश उद्धृत करते हैं जिसका हमारे वक्तव्य से विशेष सम्बन्ध है :—

"सन् १८१४ में 'अटलांटिक' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उसमें भारतवर्ष के चार चित्र बनाये गए हैं :—पहले नक्शे में ईशा के पूर्व १० लाख से ८ लाख वर्ष तक की स्थिति बताई गई है। उस समय भारत के उत्तर में समुद्र नहीं था। बहुत दूर अक्षांश ५५ तक धरातल ही था, उसके उपरान्त ध्रुव पर्यन्त समुद्र था। (अर्थात् नोरवे, स्वीडन आदि देश भी विद्यमान न थे)

दूसरा नक्शा ई० पू० ८ लाख से २ लाख वर्ष की स्थिति बतलाता है··· चीन, लाशा व हिमालय आदि सब उस समय समुद्र में थे····दक्षिण की ओर वर्तमान हिमालय की चोटी का प्रादुर्भाव हो गया था। उसे उस समय भारतीय लोग 'उत्तरगिरि' कहते थे···।

तीसरा चित्र ई० पू० २ लाख से ८० हजार वर्ष तक की स्थिति बतलाता है। इस काल में जैसे-जैसे समुद्र सूखता गया वैसे-वैसे इस पर हिमपात होता गया। जिसे आजकल हिमालय के नाम से पुकारा जाता है।

चौथा चित्र ई० पू० ८० हजार से ६५६४ वर्ष पर्यन्त की स्थिति को बतलाता है। इन वर्षों में समुद्र घटते-घटते पूर्व अक्षांश ७८.१२ व उत्तर अक्षांश ३८.५३ के प्रदेश में एक तालाब के रूप में बतलाया गया है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट विदित है कि आधुनिक भूगोल की प्राचीन विवरण से तुलना करने में अनेक कठिनाइयों का सामना होना अवश्यंभावी है और सम्भवतः अनेक विषमताओं का कारण हो सकता है [१२०]।

दस करोड़ वर्ष पुराने कीड़े की खोज ने भू-भाग के परिवर्तन पर नया प्रकाश डाला है। भारतीय जन्तु-विद्यासमिति (जूलोजिकल सर्वे आफ इन्डिया) के भूतपूर्व डाइरेक्टर डा० बी० एन० चोपड़ा को बनारस के कुओं में एक आदिम युग के कीड़े का पता चला जिसके पुरखे करीब १० करोड़ वर्ष पहिले पृथ्वी पर वास करते थे। वह कीड़ा एक प्रकार के झींगे (केकड़े) की शक्ल का है। यह शीशे के समान पारदर्शी है, और इसके १०० पैर हैं। यह कीड़ा आकार में बहुत छोटा है।

भू-मण्डल निर्माण के इतिहास में करीब १० करोड़ वर्ष पूर्व (मेसोजोइक) काल में यह कीड़ा पृथ्वी पर पाया जाता था। अभी तक इस किस्म के कीड़े केवल आस्ट्रेलिया, टैसमिनिया, न्यूजीलैंड तथा दक्षिणी अफ्रिका में देखे जाते हैं।

इस कीड़े के भारतवर्ष में प्राप्त होने से भू-विज्ञान वेत्ताओं का यह अनुमान सत्य मालूम पड़ता है कि अत्यन्त पुरातन काल में एक समय भारत, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रिका, अमेरिका, टैसमिनिया, न्यूजीलैंड और एशिया का दक्षिणी भाग एक साथ मिले हुए थे।

बाबा आदम के जमाने का १० करोड़ वर्ष बूढ़ा यह कीड़ा पृथ्वी की सतह के नीचे के पानी में रहता है और बरसात के दिनों में कुओं में पानी अधिक होने से इनके बन्धुओं की संख्या अधिक दिखाई पड़ती है। बरसात में कुओ में यह कीड़े इतने बढ़ जाते हैं कि कोई भी इन्हें आसानी से देख सकता है। बनारस छावनी के 'केशर महल' में नहाने के लिए पानी कुएँ से मशीन से पम्प किया जाता था वहाँ गुसलखाने (स्नानागार) के नहाने के टबों में भी ये कीड़े काफी संख्या में उपस्थित पाये गए।

वह छोटा कीड़ा इस प्रकार सुन्दरता के साथ पृथ्वी के आदिम युग की कहानी और अमेरिका, आस्ट्रेलिया और भारत की प्राचीन एकता की कहानी भी बहुत पटु सुनाता है।

"ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत और सुदूर पूर्व के ये द्वीप-समूह किसी अतीत काल में अखण्ड और अविभक्त प्रदेश था [१२१]।"

भू-भाग के विविध परिवर्तनों को ध्यान में रखकर कुछ जैन मनीषियों ने आगमोक्त और वार्तमानिक भूगोल की संगति बिठाने का यत्न किया है। इसके लिए यशोविजयजी द्वारा सम्पादित संग्रहणी द्रष्टव्य है।

कुछ विद्वानों ने इसके बारे में निम्नप्रकार की संगति बिठाई है :—

भरत-क्षेत्र की सीमा पर जो हैमवत पर्वत है उससे महागंगा और महा-सिन्धु दो नदियां निकलकर भरत-क्षेत्र में बहती हुई लवण-समुद्र में गिरी है। जहाँ ये दोनों नदियां समुद्र में मिलती हैं वहाँ से लवण-समुद्र का पानी आकर भरत-क्षेत्र में भर गया है जो आज पांच महासागरों के नाम से पुकारा जाता है, तथा मध्य में अनेक द्वीप से बन गए हैं जो एशिया, अमेरिका आदि कहलाते हैं। इस प्रकार आज कल जितनी पृथ्वी जानने में आई है, वह सब भरत-क्षेत्र में है।

ऊपर के कथन से यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाती है कि पृथ्वी इतनी बड़ी है कि इसमें एक-एक सूर्य-चन्द्रमा से काम नहीं चल सकता। केवल जम्बूद्वीप में ही दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं [१२२]। कुछ दिन पहले जापान के किसी विज्ञान-वेत्ता ने भी यही बात प्रगट की कि जब भरत और ऐरावत में दिन रहता है तब विदेहों में रात होती है। इस हिसाब से समस्त

भरत-क्षेत्र में एक साथ ही सूर्य दिखाई देना चाहिए और अमेरिका, एशिया में जो रात-दिन का अन्तर है वह नहीं होना चाहिए। परन्तु भरत-क्षेत्र के अन्तर्गत आर्य-क्षेत्र के मध्य की भूमि बहुत ऊँची हो गई है जिससे एक ओर का सूर्य दूसरी ओर दिखाई नहीं देता। वह ऊँचाई की आड में आ जाता है। और इसलिए उधर जाने वाले चन्द्रमा की किरणें वहाँ पर पड़ती हैं। ऐसा होने से एक ही भरत-क्षेत्र में रात-दिन का अन्तर पड़ जाता है। इस आर्य-क्षेत्र के मध्य-भाग के ऊँचे होने से ही पृथ्वी गोल जान पड़ती है। उस पर चारों ओर उपसमुद्र का पानी फैला हुआ है और बीच में द्वीप पड़ गए हैं। इसलिए चाहे जिधर से जाने में भी जहाज नियत स्थान पर पहुंच जाते हैं। सूर्य और चन्द्रमा दोनों ही लगभग जम्बूद्वीप के किनारे-किनारे मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए घूमते हैं और छह-छह महीने तक उत्तरायण-दक्षिणायन होते रहते हैं। इस आर्य-क्षेत्र की ऊँचाई में भी कोई-कोई मीलों लम्बे-चौड़े स्थान बहुत नीचे रह गए हैं कि जब सूर्य उत्तरायण होता है तभी उन पर प्रकाश पड़ सकता है। तथा वे स्थान ऐसी जगह पर हैं कि जहाँ पर दोनों सूर्यों का प्रकाश पड़ सकता है तथा दक्षिणायन के समय सतत् अन्धकार रहता है।—

जैन-दृष्टि के अनुसार पृथ्वी चिपटी है। पृथ्वी के आकार के बारे में विज्ञान का मत अभी स्थिर नहीं है। पृथ्वी को कोई नारंगी की भांति गोलाकार, कोई लौकी के आकार वाली [१२३] और कोई पृथिव्याकार मानते हैं [१२४]।

विलियम एडगल ने इसे चिपटा माना है। वे कहते हैं—हरएक किन्तु सभी मानते हैं कि पृथ्वी गोल है,[१२५] किन्तु रूस की केन्द्रिय-कार्टोग्राफी संख्या के प्रमुख प्रोफेसर 'इसाकोम' ने अपनी राय में जाहिर किया है कि—"भू मध्य रेखा एक वृत्त नहीं किन्तु तीन धुरियों की एक 'इलिप्स' है।"

"पृथ्वी चिपटी है इसे प्रमाणित करने के लिए कितनेक मनुष्यों ने वर्ष बिता दिये, किन्तु बहुत थोड़ों ने 'सोमरसेर' के वासी स्वर्गीय 'विलियम एडगल' के जितना साहस दिखाया था। एडगल ने ५० वर्ष तक संलग्न चेष्टा की। उसने रात्रि के समय आकाश की परीक्षा के लिए कभी बिछौने पर न सोकर कुर्सी पर ही रातें बिताईं। उसने अपने बगीचे में एक ऐसा लोहे का नल गाड़ा जो कि ध्रुव तारे की तरफ उन्मुख था और उसके भीतर से देखा जा

सकता था। उस उत्साही निरीक्षक ने शेष में इस सिद्धान्त का अन्वेषण किया कि पृथ्वी थाली के आकार-चपटी है जिसके चारों तरफ सूर्य उत्तर से दक्षिण की तरफ घूमता है। उसने यह भी प्रगट किया कि ध्रुव ५०० माइल दूर है और सूर्य का व्यास १० माइल है।"

जैन-दृष्टि से पृथ्वी को चिपटा माना गया है—यह समग्रता की दृष्टि से है। विशाल भूमि के मध्यवर्ती बहुत सारे भूखण्ड वर्तुलाकार भी मिल सकते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार लङ्का से पश्चिम की ओर आठ योजन नीचे पाताल लङ्का है [१२१]।

काल-परिवर्तन के साथ-साथ भरत व ऐरावत के क्षेत्र की भूमि में ह्रास होता है—"भरतैरावतयो वृद्धिह्रासौ···तत्त्वार्थ ३।२८ ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिता···३।२९ श्लोक वार्तिककार विद्यानन्द स्वामी ने—तात्स्थ्यात् तच्छब्दासिद्धे भरतैरावतयो वृद्धिह्रासयोगः, अधिकरणनिर्देशो वा"—तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक ३।२८ टीका पृ० ३५४ त्रिलोकसार में प्रलय के समय पृथ्वी को १ योजन विध्वस्त होना माना है—"तेहिंतो सेसजणा, नस्संति विसग्गिवरिस-दड्ढमही।

इगि जोयण मेत्त मधो, चुण्णी किज्जदिहु कालवसा।

(ति० ८६७)

इसका तात्पर्य यह है कि भोग-भूमि के प्रारम्भ से ही मूल जम्बूद्वीप के समतल पर 'मलवा' लदता चला आ रहा है, जिसकी ऊँचाई अति दुषमा के अन्त में पूरी एक योजन हो जाती है। वही 'मलवा' प्रलयकाल में साफ हो जाता है और पूर्व वाला समतल भाग ही निकल आता है। इस बढ़े हुए 'मलवे' के कारण ही भूगोल मानी जाने लगी है। अनेक देश नीचे और ऊपर विषम-स्थिति में आ गए हैं। इस प्रकार वर्तमान की मानी जाने वाली भूगोल के भी जैनशास्त्रानुसार अर्ध-सत्यता या आंशिक-सत्यता सिद्ध हो जाती है एवं समतल की प्रदक्षिणा रूप अर्ध नारंगी के समान गोलाई भी सिद्ध हो जाती है।

चर-अचर :—

जैन-दृष्टि के अनुसार पृथ्वी स्थिर है। वर्तमान के भूगोल-वेत्ता पृथ्वी को

चर मानते हैं। यह मत-द्वैध बहुत दिनों तक विवाद का स्थल बना रहा। आइंस्टीन ने इसका भाग्य पलट दिया।

"क्या पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है या स्थिर है" ? सापेक्षवाद के अनुसार कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। हम Denton की पुस्तक Relativity से कुछ यहाँ भावार्थ उपस्थित करते हैं :—

"सूर्य-मंडल के भिन्न-भिन्न ग्रहों में जो आपेक्षिक गति है उसका समाधान पुराने 'अचल पृथ्वी' के आधार पर भी किया जा सकता है और 'कोपर निकस' के उस नए सिद्धान्त के अनुसार जिसमें पृथ्वी को चलती हुई माना जाता है। दोनों ही सिद्धान्त सही हैं और जो कुछ खगोल में हो रहा है उसका ठीक-ठीक विवरण देते हैं। किन्तु पृथ्वी को स्थिर मान लेने पर गणित की दृष्टि से कई कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। सूर्य और चन्द्रमा की कक्षा से तो अवश्य गोलाकार रहती है, किन्तु सूर्य से अन्य ग्रहों का मार्ग बड़ा जटिल हो जाता है जिसका सरलता से हिसाब नहीं लगाया जा सकता (इस हिसाब को जैनाचार्यों ने बड़ी सुगमता से लगाया है जिसे देखकर जर्मनी के बड़े-बड़े विद्वान् Gr. D. C Schubieng प्रभृति शत्-मुख से प्रशंसा करते हैं) किन्तु सूर्य को स्थिर मान लेने पर सब ग्रहों की कक्षा गोलाकार रहती है। जिसकी गणना बड़ी सुगमता से हो सकती है।"

आइन्स्टीन के अनुसार विज्ञान का कोई भी प्रयोग इस विषय के निश्चयात्मक सत्य का पता नहीं लगा सकते [१२७]।

"सूर्य चलता हो अथवा पृथ्वी चलती हो किसी को भी चलायमान मानने से गणित में कोई त्रुटि नहीं आएगी [१२८]।"

सृष्टिवाद

सापेक्ष दृष्टि के अनुसार विश्व अनादि-अनन्त और सादि-सान्त जो है, द्रव्य की अपेक्षा अनादि अनन्त है, पर्याय की अपेक्षा सादि सान्त। लोक में दो द्रव्य हैं—चेतन और अचेतन। दोनों अनादि हैं, शाश्वत हैं। इनका पौर्वापर्य (अनुक्रम-आनुपूर्वी।) सम्बन्ध नहीं है। पहले जीव और बाद में अजीव अथवा पहले अजीव और बाद में जीव—ऐसा सम्बन्ध नहीं होता। अण्डा मुर्गी से पैदा होता है और मुर्गी अण्डे से पैदा होती है। बीज वृक्ष से

पैदा होता है और वृक्ष बीज से पैदा होता है—ये प्रथम भी हैं और पश्चात् भी। अनुक्रम सम्बन्ध से रहित शाश्वतभाव है। इनका प्राथम्य और पाश्चात्य भाव नहीं निकाला जा सकता। यह ध्रुव अंश की चर्चा है। परिणमन की दृष्टि से जगत् परिवर्तनशील है। परिवर्तन स्वाभाविक भी होता है और वैभाविक भी। स्वाभाविक परिवर्तन सब पदार्थों में प्रतिक्षण होता है। वैभाविक परिवर्तन कर्म बद्ध-जीव और पुद्‌गल-स्कन्धों में ही होता है। हमारा दृश्य जगत् वही है।

विश्व को सादि-सान्त मानने वाले भूतवादी या जड़ाद्वैतवादी दर्शन सृष्टि और प्रलय को स्वीकार करते हैं, इसलिए उन्हें विश्व के आदि कारण की अपेक्षा होती है। इनके अनुसार चैतन्य की उत्पत्ति जड़ से हुई है। जड़-चैतन्याद्वैतवादी कहते हैं—"जगत् की उत्पत्ति जड़ और चैतन्य—इन दोनों गुणों के मिश्रित पदार्थ से हुई है।

विश्व को अनादि अनन्त मानने वाले अधिकांश दर्शन भी सृष्टि और प्रलय को या परिवर्तन को स्वीकार करते हैं। इसलिए उन्हें भी विश्व के आदि कारण की मीमांसा करनी पड़ी। अद्वैतवाद के अनुसार विश्व का आदि कारण ब्रह्म है। इस प्रकार अद्वैतवाद की तीन शाखाएं बन जाती हैं—(१) जड़ाद्वैतवाद (२) जड़चैतन्याद्वैतवाद (३) चैतन्याद्वैतवाद।

जड़ाद्वैतवाद और चैतन्याद्वैतवाद—ये दोनों "कारण के अनुरूप कार्य होता है"—इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते। पहले में जड़ से चैतन्य, दूसरे में चैतन्य से जड़ की उत्पत्ति मान्य है।

द्वैतवादी दर्शन जड़ और चैतन्य दोनों का अस्तित्व स्वतन्त्र मानते हैं। इनके अनुसार जड़ से चैतन्य या चैतन्य से जड़ उत्पन्न नहीं होता। कारण के अनुरूप ही कार्य उत्पन्न होने के तथ्य को ये स्वीकार करते हैं। इस अभिमत के अनुसार जड़ और चैतन्य के संयोग का नाम सृष्टि है।

नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक दर्शन सृष्टि-पक्ष में आरम्भवादी हैं [१२९]। सांख्य और योग परिणामवादी हैं [१३०]। जैन और बौद्ध दर्शन सृष्टिवादी नहीं, परिवर्तनवादी हैं [१३१]। जैन-दृष्टि के अनुसार विश्व एक शिल्प-गृह है। उसकी व्यवस्था स्वयं उसीमें समाविष्ट नियमों के द्वारा होती है। नियम वह पद्धति

है जो चेतन और अचेतन-पुद्गल के विविध जातीय संयोग से स्वयं प्रगट होती है।

नं०	वाद	दृश्य जगत् का कारण क्या है ?
१	जड़ाद्वैतवाद	जड़पदार्थ
२	जड़ चैतन्याद्वैतवाद	जड़-चैतन्ययुक्त पदार्थ
३	चैतन्याद्वैतवाद (विवर्त्तवाद)[132]	ब्रह्म
४	आरम्भवाद	परमाणु-क्रिया
५	परिणामवाद	प्रकृति
६	प्रतीत्यसमुत्पादवाद	अव्याकृत (कहा नहीं जा सकता)
७	सापेक्ष-सादि-सान्तवाद	जीव और पुद्गल की वैभाविक पर्याय।

पांचवां खण्ड

आचार मीमांसा

पच्चीस

२२७-२३४

जिज्ञासा

लोक-विजय

लोकसार

साधना-पथ

संसार और मोक्ष

लोक-विजय

गौतम ने पूछा—भगवन्! विजय क्या है?

भगवान् ने कहा—गौतम! आत्म-स्वभाव की अनुभूति ही शाश्वत सुख है। शाश्वत-सुख की अनुभूति ही विजय है[1]।

दुःख आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा में दुःख की उपलब्धि जो है, वही पराजय है।

भगवान् ने कहा—गौतम!

जो क्रोध-दर्शी है, वह मान-दर्शी है।

जो मान-दर्शी है, वह माया-दर्शी है।

जो माया-दर्शी है, वह लोभ-दर्शी है।

जो लोभ-दर्शी है, वह प्रेम-दर्शी है।

जो प्रेम-दर्शी है, वह द्वेष-दर्शी है।

जो द्वेष-दर्शी है, वह मोह-दर्शी है।

जो मोह-दर्शी है, वह गर्भ-दर्शी है।

जो गर्भ-दर्शी है, वह जन्म-दर्शी है।

जो जन्म-दर्शी है, वह मार-दर्शी है।

जो मार-दर्शी है, वह नरक दर्शी है।

जो नरक-दर्शी है, वह तिर्यक्-दर्शी है।

जो तिर्यक्-दर्शी है, वह दुःख-दर्शी है[2]।

दुःख की उपलब्धि मनुष्य की घोर पराजय है। नरक और तिर्यंच (पशु-पक्षी) की योनि दुःखानुभूति का मुख्य स्थान है—पराजित व्यक्ति के लिए बन्दी-गृह है।

गर्भ, जन्म और मौत—ये वहाँ से आने वाले हैं। वहाँ से आने का निर्देशक मोह है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम और द्वेष की परस्पर व्याप्ति है। ये सब मोह के ही विविध-रूप हैं।

मोह का मायाजाल इस ओर से उस ओर तक फैला हुआ है। वही लोक है।

एक मोह को जीतने वाला समूचे लोक को जीत लेता है। भगवान् ने कहा—गौतम! यह सर्वदर्शी का दर्शन है, यह निःस्त्र-विजेता का दर्शन है, यह लोक-विजेता का दर्शन है [३]।

द्रष्टा, निःशस्त्र और विजेता जो होता है वह सब उपाधियों से मुक्त हो जाता है अथवा सब उपाधियों से मुक्ति पानेवाला व्यक्ति ही द्रष्टा, निःस्शत्र या विजेता हो सकता है [४]।

यह द्रष्टा का दर्शन है, यह शस्त्र-हीन विजेता का दर्शन है। क्रोध, मान, माया और लोभ को त्यागने वाला ही इसका अनुयायी होगा। वह सब से पहले पराजय के कारणों को समझेगा, फिर अपनी भूलों से निमंत्रित पराजय को विजय के रूप में बदल देगा [५]।

लोकसार

गौतम—भगवन्! जीवन का सार क्या है?

भगवान्—गौतम! जीवन का सार है—आत्म-स्वरूप की उपलब्धि।

गौतम—भगवन्! उसकी उपलब्धि के साधन क्या हैं?

भगवान्—गौतम! अन्तर्-दर्शन, अन्तर्-ज्ञान और अन्तर्-विहार [६]।

जीवन का सार क्या है? यह प्रश्न आलोचना के आदिकाल से चर्चा जा रहा है।

विचार-सृष्टि के शैशव काल में जो पदार्थ सामने आया, मन को भाया, वही सार लगने लगा। नश्वर सुख के पहले स्पर्श ने मनुष्य को मोह लिया। वही सार लगा। किन्तु ज्योंही उसका विपाक हुआ, मनुष्य चिल्लाया—"सार की खोज अभी अधूरी है। आपातभद्र और परिणाम-विरस जो है वह सार नहीं है; क्षणभर सुख दे और चिरकाल तक दुःख दे, वह सार नहीं है; थोड़ा सुख दे और अधिक दुःख दे, वह सार नहीं है [७]।"

बहिर्-जगत् (दृश्य या पौद्गलिक जगत्) का स्वभाव ही ऐसा है। उसके गुण—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द—आते हैं, मन को लुभा चले जाते हैं।

ये गुण विषय हैं। विषय के आसेवन का फल है—संग। संग का फल है—मोह। मोह का फल है—बहिर्-दर्शन (दृश्य जगत् में आस्था)[८]। बहिर्-दर्शन का फल है—'बहिर्-ज्ञान' (दृश्य जगत् का ज्ञान)। 'बहिर्-ज्ञान' का फल है—'बहिर्-विहार' (दृश्य जगत् में रमण)।

इसकी सार-साधना है दृश्य-जगत् का विकास, उन्नयन और भोग।

सुखाभास में सुख की आस्था, नश्वर के प्रति अनश्वर का सा अनुराग, अहित में हित की सी गति, अभक्ष्य में भक्ष्य का-सा भाव, अकर्तव्य में कर्तव्य की-सी प्रेरणा—ये इनके विपाक हैं।

विचारणा के प्रौढ़-काल में मनुष्य ने समझा—जो परिणाम-भद्र, स्थिर और शाश्वत है, वही सार है। इसकी संज्ञा—'विवेक-दर्शन' है।

विवेक-दर्शन का फल है—विषय-त्याग।

विषय-त्याग का फल है—असंग।

असंग का फल है—निर्मोहता।

निर्मोहता का फल है—अन्तर्-दर्शन।

अन्तर्-दर्शन का फल है—अन्तर्-ज्ञान।

अन्तर्-ज्ञान का फल है—अन्तर्-विहार।

इस रत्न-त्रयी का समन्वित-फल है—आत्म-स्वरूप की उपलब्धि—मोक्ष या आत्मा का पूर्ण विकास—मुक्ति।

भगवान् ने कहा—गौतम! यह आत्मा (अदृश्य-जगत्) ही शाश्वत सुखानुभूति का केन्द्र है। वह स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द से अतीत है इसलिए अदृश्य, अपौद्गलिक, अभौतिक है। वह चिन्मय-स्वभाव में उपयुक्त है, इसलिए शाश्वत सुखानुभूति का केन्द्र है[९]।

फलित की भाषा में साध्य की दृष्टि से सार है—आत्मा की उपलब्धि और साधन की दृष्टि से सार है—रत्नत्रयी।

इसीलिए भगवान् ने कहा—गौतम! धर्म की श्रुति कठिन है, धर्म की श्रद्धा कठिनतर है, धर्म का आचरण कठिनतम है[१०]।

धर्म-श्रद्धा की संज्ञा 'अन्तर्-दृष्टि' है। उसके पाँच लक्षण हैं—(१) शम

(२) संवेग (३) निर्वेद (४) अनुकम्पा और (५) आस्तिक्य। धर्म की श्रुति से आस्तिक्य दृढ़ होता है।

आस्तिक्य का फल है—अनुकम्पा, अक्रूरता या अहिंसा।

अहिंसा का फल है—निर्वेद—संसार-विरक्ति, भोग-खिन्नता। भोग से खिन्न होने का फल है—संवेग—मोक्ष की अभिलाषा—धर्म-श्रद्धा। धर्म-श्रद्धा का फल है—शम—तीव्रतम क्रोध, मान, माया और लोभ का विलय और नश्वर सुख के प्रति विराग और शाश्वत सुख के प्रति अनुराग[११]।

लोक में सार यही है।

साधना-पथ

"आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खं"—सूत्र'

..."विद्या और चरित्र—ये मोक्ष हैं"—।

सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र—ये साधना के तीन अङ्ग हैं। केवल सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान या सम्यक्-चारित्र से साध्य की सिद्धि नहीं होती। दर्शन, ज्ञान और चारित्र—ये तीनों निरावरण (क्षायिक) बन भविष्य को विशुद्ध बना डालते हैं। अतीत की कर्म-राशि को धोने के लिए तपस्या है।

शारीरिक दृष्टि से उक्त तीनों की अपेक्षा तपस्या का मार्ग कठोर है। पर यह भी सच है—कष्ट सहे बिना आत्म-हित का लाभ नहीं होता[१२]।

महात्मा बुद्ध ने तपस्या की उपेक्षा की। ध्यान को ही निर्वाण का मुख्य साधन माना। भगवान् महावीर ने ध्यान और तपस्या—दोनों को मुख्य स्थान दिया। यूं तो ध्यान भी तपस्या है, किन्तु आहार-त्याग को भी उन्होंने गौण नहीं किया। उसका जितनी मात्रा और जितने रूपों में जैन साधकों में विकास हुआ, उतना दूसरों में नहीं—यह कहना अत्युक्ति नहीं।

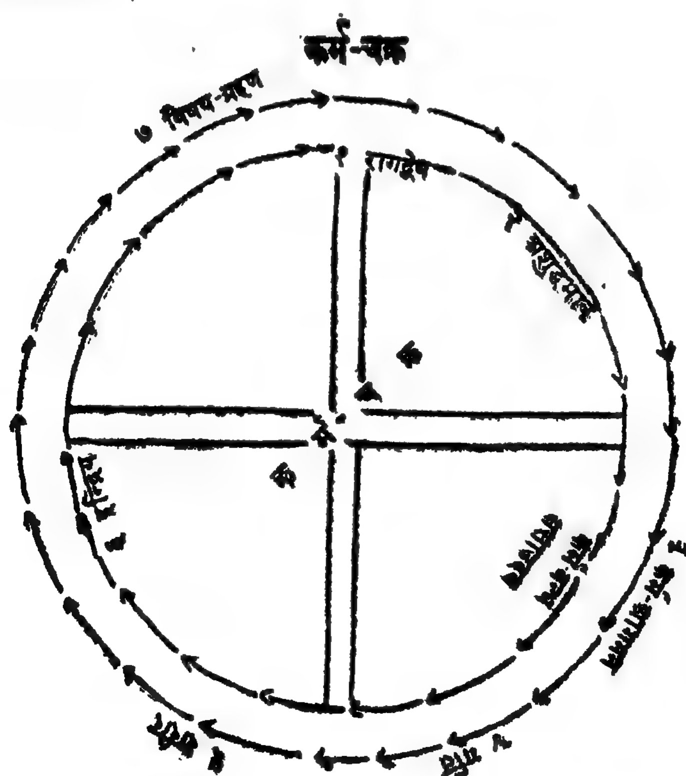
तपस्या आत्म-शुद्धि के लिए है। इसलिए तपस्या की मर्यादा यही है कि वह इन्द्रिय और मानस विजय की साधक रहे, तब तक की जाए। तपस्या कितनी लम्बी हो—इसका मान-दण्ड अपनी-अपनी शक्ति और विरक्ति है। मन खिन्न न हो, आर्त्त-ध्यान न बढ़े, तब तक तपस्या हो—यही मत मर्यादा

है[१३]। विरक्ति काल में उपवास से अनशन तक की तपस्या आदेय है। उसके बिना वे आत्म-वञ्चना, या आत्म-हत्या के साधन बन जाते हैं।

संसार और मोक्ष

जैन-दृष्टि के अनुसार राग-द्वेष ही संसार है। ये दोनों कर्म-बीज हैं[१४]। ये दोनों मोह से पैदा होते हैं[१५]। मोह के दो भेद हैं—(१) दर्शन-मोह (२) चारित्र-मोह। दर्शन-मोह तात्त्विक दृष्टि का विपर्यास है। यही संसार-भ्रमण की मूल जड़ है। सम्यग्-दर्शन के बिना सम्यग् ज्ञान नहीं होता। सम्यग्-ज्ञान के बिना सम्यक्-चारित्र, नहीं होता, सम्यक्-चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता[१६]।

चारित्र-मोह आचरण की शुद्धि नहीं होने देता। इससे राग-द्वेष तीव्र बनते हैं, राग-द्वेष से कर्म और कर्म से संसार—इस प्रकार यह चक्र निरन्तर घूमता रहता है।



बौद्ध दर्शन भी संसार का मूल राग-द्वेष और मोह या अविद्या—इन्हीं को मानता है [१७]। नैयायिक भी राग-द्वेष और मोह या मिथ्याज्ञान को संसार-बीज मानते हैं [१८]। सांख्य पांच विपर्यय और पतञ्जलि क्लेशों को संसार का मूल मानते हैं [१९]। संसार प्रकृति है, जो प्रीति-अप्रीति, और विषाद या मोह धर्म वाले सत्त्व, रजस् और तमस् गुण युक्त है—त्रिगुणात्मिका है।

प्रायः सभी दर्शन सम्यग् ज्ञान या सम्यग्-दर्शन को मुक्ति का मुख्य कारण मानते हैं। बौद्धों की दृष्टि में क्षणभङ्गुरता का ज्ञान या चार आर्य-सत्यों का ज्ञान विद्या या सम्यग् दर्शन है। नैयायिक तत्त्व-ज्ञान,[२०] सांख्य[२१] और योग दर्शन[२२] भेद या विवेक-ख्याति को सम्यग्-दर्शन मानते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार तत्त्वों के प्रति यथार्थ रुचि जो होती है, वह सम्यग्-दर्शन है[२३]।

छब्बीस

२३५-२६२

शील और श्रुत

एक समय भगवान् राजगृह में समवसृत थे। गौतम स्वामी आए। भगवान् को वंदना कर बोले—भगवन्! कई अन्य यूथिक कहते हैं—शील ही श्रेय है, कई कहते हैं श्रुत ही श्रेय है, कई कहते हैं शील श्रेय है और श्रुत भी श्रेय है, कई कहते हैं श्रुत श्रेय है और शील भी श्रेय है; इनमें कौनसा अभिमत ठीक है भगवन्?

भगवान् बोले—गौतम! अन्य-यूथिक जो कहते हैं, वह मिथ्या (एकान्त अपूर्ण) है। मैं यूं कहता हूँ—प्ररूपणा करता हूँ—

चार प्रकार के पुरुष-जात होते हैं—

१—शीलसम्पन्न, श्रुतसम्पन्न नहीं।

२—श्रुतसम्पन्न, शीलसम्पन्न नहीं।

३—शीलसम्पन्न और श्रुतसम्पन्न।

४—न शीलसम्पन्न और न श्रुतसम्पन्न।

पहला पुरुष-जात शीलसम्पन्न है—उपरत (पाप से निवृत्त) है, किन्तु अश्रुतवान् है—अविज्ञातधर्मा है, इसलिए वह मोक्ष मार्ग का देश-आराधक है[1]।

दूसरा श्रुत-सम्पन्न है—विज्ञातधर्मा है, किन्तु शील सम्पन्न नहीं—उपरत नहीं, इसलिए वह देशविराधक है[2]।

तीसरा शीलवान् भी है (उपरत भी है), श्रुतवान् भी है (विज्ञातधर्मा भी है), इसलिए वह सर्व-आराधक है।

चौथा शीलवान् भी नहीं है (उपरत भी नहीं है), श्रुतवान् भी नहीं है (विज्ञातधर्मा भी नहीं है), इसलिए वह सर्व विराधक है[3]।

इसमें भगवान् ने बताया कि कोरा ज्ञान श्रेयस् की एकांगी आराधना है। कोरा शील भी वैसा ही है। ज्ञान और शील दोनों नहीं, वह श्रेयस् की विराधना है; आराधना है ही नहीं। ज्ञान और शील दोनों की संगति ही श्रेयस् की सर्वांगीण आराधना है[4]।

आराधना या मोक्ष-मार्ग

बन्धन से मुक्ति की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, बाह्य-दर्शन से अन्तर-दर्शन की ओर जो गति है, वह आराधना है। उसके तीन प्रकार हैं[१]— (१) ज्ञान-आराधना (२) दर्शन-आराधना (३) चरित्र-आराधना, इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार होते हैं—

(१) ज्ञान-आराधना—उत्कृष्ट (प्रकृष्ट प्रयत्न) मध्यम (मध्यम प्रयत्न) जघन्य (अल्पतम प्रयत्न)

(२) दर्शन-आराधना— ,, ,, ,,

(३) चरित्र-आराधना—,, ,, ,,

आत्मा की योग्यता विविधरूप होती है। अत एव तीनों आराधनाओं का प्रयत्न भी सम नहीं होता। उनका तरतमभाव निम्न यंत्र से देखिए—

	ज्ञान का उत्कृष्ट प्रयत्न	ज्ञान का मध्यम प्रयत्न	ज्ञान का अल्पतम प्रयत्न	दर्शन का उत्कृष्ट प्रयत्न	दर्शन का मध्यम प्रयत्न	दर्शन का अल्पतम प्रयत्न	चरित्र का उत्कृष्ट प्रयत्न	चरित्र का मध्यम प्रयत्न	चरित्र का अल्पतम प्रयत्न
ज्ञान के उत्कृष्ट प्रयत्न में				है	है		है	है	
दर्शन के उत्कृष्ट प्रयत्न में	है	है	है				है	है	है
चरित्र के उत्कृष्ट प्रयत्न में	है	है	है	है					

यह आन्तरिक वृत्तियों का बड़ा ही सुन्दर और सूक्ष्म विश्लेषण है। श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र के तारतम्य को समझने की यह पूर्ण दृष्टि है।

धर्म

श्रेयस् की साधना ही धर्म है। साधना ही चरम रूप तक पहुँच कर सिद्धि बन जाती है। श्रेयस् का अर्थ है—आत्मा का पूर्ण-विकास या चैतन्य का निर्द्वन्द्व प्रकाश। चैतन्य सब उपाधियों से मुक्त हो चैतन्यस्वरूप हो जाए, उसका नाम श्रेयस् है। श्रेयस् की साधना भी चैतन्य की आराधनामय है, इसलिए वह भी श्रेयस् है। उसके दो, तीन, चार और दस; इस प्रकार अनेक अपेक्षाओं से अनेक रूप बतलाए हैं। पर वह सब विस्तार है। संक्षेप में आत्मरमण ही धर्म है। वास्तविकता की दृष्टि (वस्तुस्वरूप के निर्णय की दृष्टि) से हमारी गति संक्षेप की ओर होती है। पर यह साधारण जनता के लिए बुद्धि-गम्य नहीं होता, तब फिर सक्षेप से विस्तार की ओर गति होती है। ज्ञानमय और चरित्रमय आत्मा ही धर्म है। इस प्रकार धर्म दो रूपों में बंट जाता है—ज्ञान और चरित्र [१]।

ज्ञान के दो पहलू होते हैं—रुचि और जानकारी। सत्य की रुचि हो तभी सत्य का ज्ञान और सत्य का ज्ञान हो तभी उसका स्वीकरण हो सकता है।

इस दृष्टि से धर्म के तीन रूप बन जाते हैं—(१) रुचि, (श्रद्धा या दर्शन) (२) ज्ञान (३) चरित्र।

चरित्र के दो प्रकार हैं :—

(१) संवर (क्रियानिरोध या अक्रिया)

(२) तपस्या या निर्जरा (अक्रिया द्वारा क्रिया का विशोधन) इस दृष्टि से धर्म के चार प्रकार बन जाते हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप।

चारित्र-धर्म के दस प्रकार भी होते हैं—

(१) क्षमा (५) लाघव (९) धर्म-दान
(२) मुक्ति (६) सत्य (१०) ब्रह्मचर्य
(३) आर्जव (७) संयम
(४) मार्दव (८) त्याग

इनमें सर्वाधिक प्रयोजकता रत्न-त्रयी—ज्ञान, दर्शन (श्रद्धा या रुचि,

और चरित्र की है। इस त्रयात्मक श्रेयोमार्ग (मोक्ष-मार्ग) की आराधना करने वाला ही सर्वाराधक या मोक्ष-गामी है।

सम्यक् संप्रयोग

ज्ञान, दर्शन और चरित्र का त्रिवेणी-संगम प्राणीमात्र में होता है। पर उससे साध्य सिद्ध नहीं बनता। साध्य-सिद्धि के लिए केवल त्रिवेणी का संगम ही पर्याप्त नहीं है। पर्याप्ति (पूर्णता) का दूसरा पण (शर्त) है यथार्थता। ये तीनों यथार्थ (तथाभूत) और अयथार्थ (अतथाभूत) दोनों प्रकार के होते हैं। श्रेयस्-साधना की समग्रता अयथार्थ ज्ञान, दर्शन, चरित्र से नहीं होती। इसलिए इनके पीछे सम्यक् शब्द और जोड़ा गया। सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-चरित्र—मोक्ष-मार्ग हैं [७]।

पौर्वापर्य

साधना और पूर्णता (स्वरूप-विकास के उत्कर्ष) की दृष्टि से सम्यग्-दर्शन का स्थान पहला है, सम्यग्-ज्ञान का दूसरा और सम्यग्-चरित्र का तीसरा है।

साधना-क्रम

दर्शन के बिना ज्ञान, ज्ञान के बिना चरित्र, चरित्र के बिना कर्म-मोक्ष और कर्म-मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता [८]।

स्वरूप-विकास-क्रम

सम्यग्-दर्शन का पूर्ण विकास 'चतुर्थ गुण-स्थान' (आरोह क्रम की पहली भूमिका) में भी हो सकता है। अगर वहाँ न हो तो बारहवें गुणस्थान (आरोह क्रम की आठवीं भूमिका—क्षीणमोह) की प्राप्ति से पहले तो हो ही जाता है।

सम्यग्-ज्ञान का पूर्ण विकास तेरहवें और सम्यक्-चरित्र का पूर्ण विकास चौदहवें गुणस्थान में होता है। ये तीनों पूर्ण होते हैं और साध्य मिल जाता है—आत्मा कर्ममुक्त हो परम-आत्मा बन जाता है।

सम्यक्त्व

एक चक्षुष्मान् वह होता है, जो रूप और संस्थान को ज्ञेय दृष्टि से देखता है। दूसरा चक्षुष्मान् वह होता है, जो वस्तु को ज्ञेय, हेय और उपादेय

दशा को विपरीत दृष्टि से देखता है। तीसरा उसे अविपरीत दृष्टि से देखता है। पहला स्थूल-दर्शन है, दूसरा बहि-र्दर्शन और तीसरा अन्तर्-दर्शन। स्थूल-दर्शन जगत् का व्यवहार है, केवल वस्तु की ज्ञेय दशा से सम्बन्धित है। अगले दोनों का आधार मुख्यवृत्त्या वस्तु की हेय और उपादेय दशा है। अन्तर्-दर्शन मोह के पुद्गलों से ढका होता है। तब (सही नहीं होता इसलिए) वह मिथ्या-दर्शन (विपरीत दर्शन) कहलाता है। तीव्र कषाय के (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्व-मोह, मिथ्यात्व-मोह और सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-मोह के पुद्गल-विजातीय द्रव्य का विपाक) उदय रहते हुए अन्तर्-दर्शन सम्यक् नहीं बनता, आग्रह या आवेश नहीं छूटता। इस विजातीय द्रव्य के दूर हो जाने पर आत्मा में एक प्रकार का शुद्ध परिणमन पैदा होता है। उसकी संज्ञा 'सम्यक्त्व' है। यह अन्तर्-दर्शन का कारण है। वस्तु को जान लेना मात्र अन्तर्-दर्शन नहीं, वह आत्मिक शुद्धि की अभिव्यक्ति है। यही सम्यक्-दर्शन (यथार्थ-दर्शन)—अविपरीत-दर्शन, सही दृष्टि, सत्य रुचि, सत्याभिमुखता, अन्-अभिनिवेश, तत्त्व-श्रद्धा, यथावस्थित वस्तु परिज्ञान है। सम्यक्त्व और सम्यग्-दर्शन में कार्य-कारणभाव है। सत्य के प्रति आस्था होने की क्षमता को मोह परमाणु विकृत न कर सकें, उतनी प्रतिरोधात्मक शक्ति जो है, वह 'सम्यक्त्व' है। यह केवल आत्मिक स्थिति है। सम्यग्-दर्शन इसका ज्ञान-सापेक्ष परिणाम है। उपचार-दृष्टि से सम्यग्-दर्शन को भी सम्यक्त्व कहा जाता है [१]।

मिथ्या दर्शन और सम्यग् दर्शन

मिथ्यात्व का अभिव्यक्त रूप तत्त्व-श्रद्धा का विपर्यय और सम्यक्त्व का अभिव्यक्त रूप तत्त्व-श्रद्धा का अविपर्यय है।

विपरीत तत्त्व-श्रद्धा के दस रूप बनते हैं :—

१—अधर्म में धर्म संज्ञा।

२—धर्म में अधर्म संज्ञा।

३—अमार्ग में मार्ग संज्ञा।

४—मार्ग में अमार्ग संज्ञा।

५—अजीव में जीव संज्ञा।

६—जीव में अजीव संज्ञा।

७—असाधु में साधु संज्ञा।

८—साधु में असाधु संज्ञा।

९—अमुक्त में मुक्त संज्ञा।

१०—मुक्त में अमुक्त संज्ञा।

इसी प्रकार सम्यक्-तत्व-श्रद्धा के भी दस रूप बनते हैं :—

१—अधर्म में अधर्म संज्ञा।

२—धर्म में धर्म संज्ञा।

३—अमार्ग में अमार्ग संज्ञा।

४—मार्ग में मार्ग संज्ञा।

५—अजीव में अजीव संज्ञा।

६—जीव में जीव संज्ञा

७—असाधु में असाधु संज्ञा।

८—साधु में साधु संज्ञा।

९—अमुक्त में अमुक्त संज्ञा।

१०—मुक्त में मुक्त संज्ञा।

यह साधक, साधना और साध्य का विवेक है। जीव-अजीव की यथार्थ श्रद्धा के बिना साध्य की जिज्ञासा ही नहीं होती। आत्मवादी ही परमात्मा बनने का प्रयत्न करेगा, अनात्मवादी नहीं। इस दृष्टि से जीव अजीव का संज्ञान साध्य के आधार का विवेक है। साधु-असाधु का संज्ञान साधक की दशा का विवेक है। धर्म, अधर्म, मार्ग, अमार्ग का संज्ञान साधना का विवेक है। मुक्त, अमुक्त का संज्ञान साध्य-असाध्य का विवेक है।

ज्ञान और सम्यग् दर्शन का भेद

सम्यग्-दर्शन-तत्त्व-रुचि है और सम्यग्-ज्ञान उसका कारण है[१०]। पदार्थ-विज्ञान तत्त्व-रुचि के बिना भी हो सकता है, मोह-दशा में हो सकता है, किन्तु तत्त्व-रुचि मोह-परमाणुओं की तीव्र परिपाक-दशा में नहीं होती।

तत्त्व रुचि का अर्थ है आत्माभिमुखता, आत्म-विनिश्चय अथवा आत्म-विनिश्चय का प्रयोजक पदार्थ-विज्ञान।

ज्ञान-शक्ति आत्मा की अनावरण-दशा का परिणाम है। इसलिए वह सिर्फ पदार्थाभिमुखी या ज्ञेयाभिमुखी वृत्ति है। दर्शन-शक्ति अनावरण और अमोह दोनों का संयुक्त परिणाम है। इसलिए वह साध्याभिमुखी या आत्माभिमुखी वृत्ति है।

दर्शन के प्रकार

एकविध दर्शन—

सामान्यवृत्त्या दर्शन एक है [११]। आत्मा का जो तत्त्व-श्रद्धात्मक परिणाम है, वह दर्शन (दृष्टि, रुचि, अभिप्रीति, श्रद्धा) है। उपाधि-भेद से वह अनेक प्रकार का होता है। फिर भी सब में श्रद्धा की व्याप्ति समान होती है। इसलिए निरुपाधिक वृत्ति या श्रद्धा की अपेक्षा वह एक है। एक समय में एक व्यक्ति को एक ही कोटी की श्रद्धा होती है। इस दृष्टि से भी वह एक है।

त्रिविध दर्शन :—

श्रद्धा का सामान्य रूप एक है—यह अभेद-बुद्धि है, श्रद्धा का सामान्य निरूपण है। व्यवहार जगत् में वह एक नहीं है। वह सही भी होती है और गलत भी। इसलिए वह द्विरूप है—(१) सम्यग्-दर्शन (२) मिथ्या-दर्शन [१२]। ये दोनों भेद तत्त्वोपाधिक हैं। श्रद्धा अपने आपमें सत्य या असत्य नहीं होती। तत्त्व भी अपने आपमें सत्य-असत्य का विकल्प नहीं रखता। तत्त्व और श्रद्धा का सम्बन्ध होता है तब 'तत्त्व-श्रद्धा' ऐसा प्रयोग बनता है। तब यह विकल्प खड़ा होता है—श्रद्धा सत्य है या असत्य ? यही श्रद्धा की द्विरूपता का आधार है। तत्त्व की यथार्थता का दर्शन या दृष्टि है अथवा तत्त्व की यथार्थता में जो रुचि या विश्वास है, वह श्रद्धा सम्यक् है। तत्त्व का अयथार्थ दर्शन, अयथार्थ रुचि या प्रतीति है, वह श्रद्धा मिथ्या है। तत्त्व-दर्शन का तीसरा प्रकार यथार्थता और अयथार्थता के बीच का होता है। तत्त्व का अमुक स्वरूप यथार्थ है और अमुक नहीं—ऐसी दोलायमान वृत्ति वाली श्रद्धा सम्यग् मिथ्या है। इसमें यथार्थता और अयथार्थता दोनों का स्पर्श होता है, किन्तु निर्णय किसी का भी नहीं जमता। इसलिए यह मिश्र है। इस प्रकार तत्त्वोपाधिकता से श्रद्धा के तीन रूप बनते हैं—(१) सम्यक्-दर्शन (सम्यक्त्व) (२) मिथ्या-दर्शन) (मिथ्यात्व) (३) सम्यक्-मिथ्या-दर्शन (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व)।

पंचविध दर्शन—

(१) औपशमिक

(२) क्षायोपशमिक

(३) क्षायिक

(४) सास्वादन

(५) वेदक

आत्मा पर आठ प्रकार के सूक्ष्मतम विजातीय द्रव्यों (पुद्गल वर्गणाओं) का मलावलेप लगा रहता है [१३]। उनमें कोई आत्म-शक्ति के आवारक हैं, कोई विकारक, कोई निरोधक और कोई पुद्गल-संयोगकारक। चतुर्थ प्रकार का विजातीय द्रव्य आत्मा को मूढ़ बनाता है, इसलिए उसकी संज्ञा 'मोह' है। मूढ़ता दो प्रकार की होती है—(१) तत्त्व-मूढ़ता (२) चरित्र-मूढ़ता [१४]। तत्त्व-मूढ़ता पैदा करने वाले सम्मोहक परमाणुओं की संज्ञा दर्शन-मोह है [१५]। वे विकारी होते हैं तब सम्यक्-मिथ्यात्व (संशयशील दशा) प्रगट होता है [१६]। उनके अविकारी बन[१७] जाने पर सम्यक्त्व प्रगट होता है [१८]। उनका पूर्ण शमन हो जाने पर विशुद्धतर स्वल्पकालिक-सम्यक्त्व प्रगट होता है [१९]। उनका पूर्ण क्षय (आत्मा से सर्वथा विसम्बन्ध या वियोग) होने से विशुद्धतम और शाश्वतिक-सम्यक्त्व प्रगट होता है [२०]। यही सम्यक्त्व का मौलिक रूप है। पूर्व रूपों की तुलना में इसे सम्यक्त्व का पूर्ण विकास या पूर्णता भी कहा जा सकता है। इस सम्मोहन पैदा करने वाले विजातीय द्रव्यों (पुद्गलों) का स्वीकरण या अविशोधन, अर्ध-शुद्धीकरण, विशुद्धीकरण, उपशमन और विलयन—ये सब आत्मा के अशुद्ध और शुद्ध प्रयत्न के द्वारा होते हैं। इनके स्वीकरण या अविशोधन के हेतुओं की जानकारी के लिए कर्म-बन्ध के कारण सास्वादन-अपक्रान्तिकालीन सम्यक्-दर्शन होता है [२१]। वेदक-दर्शन-सम्मोहक परमाणुओं के क्षीण होने का पहला समय जो है, वह वेदक-सम्यग्-दर्शन है। इस काल में उन परमाणुओं का एकबारगी वेद होता है। उसके बाद वे सब आत्मा से विलग हो जाते हैं। यह आत्मा की दर्शन-मोह-मुक्ति-दशा (क्षायिक-सम्यक्-भाव की प्राप्ति-दशा) है। इसके बाद आत्मा फिर कभी दर्शन-मूढ़ नहीं बनता।

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के हेतु

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति दर्शन-मोह के परमाणुओं का विलय होने से होती है। इस दृष्टि का प्राप्ति-हेतु दर्शन मोह के परमाणुओं का विलय है। यह (विलय) निसर्गजन्य और ज्ञान-जन्य दोनों प्रकार का होता है। आचरण की शुद्धि होते-होते दर्शन-मोह के परमाणु शिथिल हो जाते हैं। वैसा होने पर जो तत्त्व-रुचि पैदा होती है, यथार्थ-दर्शन होता है, वह नैसर्गिक-सम्यग्-दर्शन कहलाता है।

श्रवण, अध्ययन, वाचन या उपदेश से जो सत्य के प्रति आकर्षण होता है, वह आधिगमिक सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन का मुख्य हेतु (दर्शन-मोह विलय) दोनों में समान है। इनका भेद सिर्फ बाहरी प्रक्रिया से होता है। इनकी तुलना सहज प्रतिभा और अभ्यासलब्ध ज्ञान से की जा सकती है।

पंचविध सम्यग् दर्शन दोनों प्रकार का होता है। इस दृष्टि से वह दसविध हो जाता है:—

(१-२)	नैसर्गिक	और	आधिगमिक	औपशमिक	सम्यग्	दर्शन
(३-४)	,,	,,	,,	क्षायोपशमिक	,,	,,
(५-६)	,,	,,	,,	क्षायिक	,,	,,
(७-८)	,,	,,	,,	सास्वाद	,,	,,
(९-१०)	,,	,,	,,	वेदक	,,	,,

दसविध रुचि

किसी भी वस्तु के स्वीकरण की पहली अवस्था रुचि है। रुचि से श्रुति होती है या श्रुति से रुचि—यह बड़ा जटिल प्रश्न है। ज्ञान, श्रुति, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन—ये रुचि के कारण हैं, ऐसा माना गया है। दूसरी ओर यथार्थ रुचि के बिना यथार्थ ज्ञान नहीं होता है—यह भी माना गया है। इनमें पौर्वापर्य है या एक साथ उत्पन्न होते हैं? इस विचार से यह मिला कि पहले रुचि होती है और फिर ज्ञान होता है। सत्य की रुचि होने के पश्चात् ही उसकी जानकारी का प्रयत्न होता है। इस दृष्टि-बिन्दु से रुचि या सम्यक्त्व जो है, वह नैसर्गिक ही होता है। दर्शन-मोह के परमाणुओं का विलय होते ही वह अभिव्यक्त हो जाता है। निसर्ग और अधिगम का प्रपंच जो है, वह सिर्फ

उसकी अभिव्यक्ति के निमित्त की अपेक्षा से है। जो रुचि अपने आप किसी बाहरी निमित्त के बिना भी व्यक्त हो जाती है, वह नैसर्गिक और जो बाहरी निमित्त (उपदेश-अध्ययन आदि) से व्यक्त होती है, वह आधिगमिक है।

ज्ञान से रुचि का स्थान पहला है। इसलिए सम्यक् दर्शन (अविपरीत दर्शन) के बिना ज्ञान भी सम्यक्—(अविपरीत) नहीं होता। जहाँ मिथ्या-दर्शन वहाँ मिथ्या ज्ञान और जहाँ सम्यग् दर्शन वहाँ सम्यक् ज्ञान—ऐसा क्रम है। दर्शन सम्यक् बनते ही ज्ञान सम्यक् बन जाता है। दर्शन और ज्ञान का सम्यक्त्व युगपत् होता। उसमें पौर्वापर्य नहीं है। वास्तविक कार्य-कारण-भाव भी नहीं है। ज्ञान का कारण ज्ञानावरण और दर्शन का कारण दर्शन-मोह का विलय है। इसमें साहचर्य-भाव है। इस (साहचर्य-भाव) में प्रधानता दर्शन की है। दृष्टि का मिथ्यात्व ज्ञान के सम्यक्त्व का प्रतिबन्धक है।

मिथ्या-दृष्टि के रहते बुद्धि में सम्यग् भाव नहीं आता। यह प्रतिबन्ध दूर होते ही ज्ञान का प्रयोग सम्यक् हो जाता है। इस दृष्टि से सम्यग् दृष्टि को सम्यग् ज्ञान का कारण या उपकारक भी कहा जा सकता है।

दृष्टि-शुद्धि श्रद्धा-पक्ष है। सत्य की रुचि ही इसकी सीमा है। बुद्धि-शुद्धि ज्ञान-पक्ष है। उसकी मर्यादा है—सत्य का ज्ञान। क्रिया-शुद्धि उसका आचरण-पक्ष है। उसका विषय है—सत्य का आचरण। तीनों मर्यादित हैं, इसलिए असहाय हैं। केवल रुचि या आस्था-बन्ध होने मात्र से जानकारी नहीं होती, इसलिए रुचि को ज्ञान की अपेक्षा होती है। केवल जानने मात्र से साध्य नहीं मिलता। इसलिए ज्ञान को क्रिया की अपेक्षा होती है। संक्षेप में रुचि ज्ञान-सापेक्ष है और ज्ञान क्रिया-सापेक्ष। ज्ञान और क्रिया के सम्यग् भाव का मूल रुचि है, इसलिए वे दोनों रुचि-सापेक्ष हैं। यह सापेक्षता ही मोक्ष का पूर्ण योग है। इसलिए रुचि, ज्ञान और क्रिया को सर्वथा तोड़ा नहीं जा सकता। इनका विभाग केवल उपयोगितापरक है या निरपेक्ष-दृष्टिकृत है। इनकी सापेक्ष स्थिति में कहा जा सकता है—रुचि ज्ञान को आगे ले जाती है। ज्ञान से रुचि को पोषण मिलता है, ज्ञान से क्रिया के प्रति उत्साह बढ़ता है, क्रिया से ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होता है, रुचि और आगे बढ़ जाती है।

इस प्रकार तीनों आपस में सहयोगी, पोषक व उपकारक हैं। इस विशाल दृष्टि से रुचि के दस प्रकार बतलाए हैं[२१]—

(१) निसर्ग-रुचि,
(२) अधिगम-रुचि,
(३) आज्ञा-रुचि,
(४) सूत्र-रुचि,
(५) बीज-रुचि,
(६) अभिगम-रुचि,
(७) विस्तार-रुचि,
(८) क्रिया-रुचि,
(९) संक्षेप-रुचि,
(१०) धर्म रुचि ।

(१) जिस व्यक्ति की वीतराग प्ररूपित चार तथ्यों—(१) बन्ध (२) बन्ध-हेतु (३) मोक्ष (४) मोक्ष-हेतु पर अथवा (१) द्रव्य (२) क्षेत्र (३) काल (४) भाव—इन चार दृष्टि-बिन्दुओं द्वारा उन पर सहज श्रद्धा होती है, वह निसर्ग-रुचि है ।

(२) सत्य की वह श्रद्धा जो दूसरों के उपदेश से मिलती है, वह अधिगम रुचि या उपदेश-रुचि है ।

(३) जिसमें राग, द्वेष, मोह, अज्ञान की कमी होती है और दुराग्रह से दूर रहने के कारण वीतराग की आज्ञा को सहज स्वीकार करता है, उसकी श्रद्धा आज्ञा-रुचि है ।

(४) सूत्र पढ़ने से जिसे श्रद्धा-लाभ होता है, वह सूत्र-रुचि है ।

(५) थोड़ा जानने मात्र से जो रुचि फैल जाती है, वह बीज-रुचि है ।

(६) अर्थ सहित विशाल श्रुत-राशि को पाने की श्रद्धा अभिगम-रुचि है ।

(७) सत्य के सब पहलुओं को पकड़ने वाली सर्वांगीण दृष्टि विस्तार-रुचि है ।

(८) क्रिया—आचार की निष्ठा क्रिया-रुचि है ।

(९) जो व्यक्ति असत्-मतवाद में फंसा हुआ भी नहीं है और सत्य-वाद में विशारद भी नहीं है उसकी सम्यग् दृष्टि को संक्षेप-रुचि कहा जाता है ।

(१०) धर्म (श्रुत और चारित्र) में जो आस्था-बन्ध होता है, वह धर्म-रुचि है ।

प्राणी मात्र में मिलने वाले योग्यता के तरतमभाव और उनके कारण होनेवाले रुचि-वैचित्र्य के आधार पर यह वर्गीकरण हुआ है ।

सम्यग् दर्शन का प्राप्ति-क्रम और लब्धि-प्रक्रिया

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के तीन कारण हैं :—दर्शन-मोह के परमाणुओं का (१) पूर्ण उपशमन, (२) अपूर्ण विलय (३) पूर्ण विलय। इनसे प्रगट होने वाला सम्यग् दर्शन क्रमशः (१) औपशमिक सम्यक्त्व, (२) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, (३) क्षायिक सम्यक्त्व—कहलाता है। इनका प्राप्ति-क्रम निश्चित नहीं है। प्राप्ति का पौर्वापर्य भी नहीं है। पहले पहल औपशमिक—सम्यग् दर्शन भी हो सकता है। क्षायोपशमिक भी और क्षायिक भी।

अनादि मिथ्या दृष्टि व्यक्ति (जो कभी भी सम्यग् दर्शनी नहीं बना) अज्ञात कष्ट सहते-सहते कुछ उदयाभिमुख होता है, संसार-परावर्तन की मर्यादा सीमित रह जाती है, कर्मावरण कुछ क्षीण होता है, दुःखाभिघात से संतप्त हो सुख की ओर मुड़ना चाहता है, तब उसे आत्म-जागरण की एक स्पष्ट रेखा मिलती है। उसके परिणामों (विचारों) में एक तीव्र आन्दोलन शुरू होता है। पहले चरण में राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि (जिसे तोड़े बिना सम्यग् दर्शन प्रगट नहीं होता) के समीप पहुँचता है। दूसरे चरण में वह उसे तोड़ने का प्रयत्न करता है। विशुद्ध परिणाम वाला प्राणी वहाँ मिथ्यात्वग्रन्थि के घटक पुद्‌गलों का शोधन कर उनकी मादकता या मोहकता को निष्प्रभ बना क्षायोपशमिक सम्यग् दर्शनी बन जाता है। मन्दविशुद्ध परिणाम वाला व्यक्ति वैसा नहीं कर सकता। वह आगे चलता है। तीसरे चरण में पहुँच मिथ्यात्व मोह के परमाणुओं को दो भागों में विभक्त कर डालता है[२३]। पहला भाग अल्प कालवेद्य और दूसरा बहु-कालवेद्य (अल्प स्थितिक और दीर्घ स्थितिक) होता है। इस प्रकार यहाँ दोनों स्थितियों के बीच में व्यवधान (अन्तर) हो जाता है। पहला पुञ्ज भोग लिया जाता है। (उदीरणा द्वारा शीघ्र उदय में आ नष्ट हो जाता है) दूसरा पुञ्ज उपशान्त (निरुद्ध-उदय) रहता है। ऐसा होने पर चौथे चरण में (अन्तर-करण के पहले समय में) औपशमिक सम्यग् दर्शन प्रगट होता है[२४]।

यथा प्रवृत्ति :—

अनादि काल से जैसी प्रवृति है वैसी की वैसी बनी रहे वह 'यथा प्रवृति' है। संसार का मूल मोह-कर्म है। उसके वेद्य परमाणु दीर्घ-स्थितिक होते हैं,

तबतक 'यथाप्रवृत्ति' करण से आगे गति नहीं होती। अकाम-निर्जरा तथा भवस्थिति के परिपाक होने से कषाय मन्द होता है। मोह-कर्म की स्थिति देशोन कोड़ाकोड़ सागर जितनी रहती है, आयुवर्जित शेष कर्मों की भी इतनी ही रहती है, तब परिणाम-शुद्धि का क्रम आगे बढ़ता है। फल स्वरूप 'अपूर्व करण' होता है—पहले कभी नहीं हुई, वैसी आत्म-दर्शन की प्रेरणा होती है। किन्तु इसमें आत्म-दर्शन नहीं होता। यह धारा और आगे बढ़ती है—अनि-वृत्तिकरण होता है। यह फल-प्राप्ति के बिना निवृत्त नहीं होता। इसमें आत्म-दर्शन हो जाता है।

मार्ग लाभ

पथिक चला। मार्ग हाथ नहीं लगा। इधर-उधर भटकता रहा। आखिर अपने आप पथ पर आ गया। यह नैसर्गिक मार्ग-लाभ है।

दूसरा पथभ्रष्ट व्यक्ति इधर उधर भटकता रहा, मार्ग नहीं मिला। इतने में दूसरा व्यक्ति दीखा। उससे पूछा और मार्ग मिल गया। यह आधिगमिक मार्ग-लाभ है।

आरोग्य लाभ

रोग हुआ। दवा नहीं ली। रोग की स्थिति पकी। वह मिट गया। आरोग्य हुआ। यह नैसर्गिक आरोग्य-लाभ है।

रोग हुआ। सहा नहीं गया। वैद्य के पास गया। दवा ली, वह मिट गया। यह प्रायोगिक आरोग्य-लाभ है।

सम्यग् दर्शन-लाभ

अनादि काल से जीव संसार में भ्रमण करता रहा। सम्यग्-दर्शन नहीं हुआ—आत्म-विकास का मार्ग नहीं मिला। संसार-भ्रमण की स्थिति पकी। घिसते-घिसते पत्थर चिकना, गोल बनता है, वैसे थपेड़े खाते-खाते कर्मावरण शिथिल हुआ, आत्म-दर्शन की रुचि जाग उठी। यह नैसर्गिक सम्यग् दर्शन लाभ है।

कष्टों से तिलमिला उठा। त्रिविध ताप से संतप्त हो गया। शान्ति का उपाय नहीं सूझा। मार्ग-द्रष्टा का योग मिला, प्रयत्न किया। कर्म का आवरण हटा। आत्म-दर्शन की रुचि जाग उठी। यह आधिगमिक सम्यग् दर्शन लाभ है।

अन्तर् मुहूर्त के बाद

औपशमिक सम्यग् दर्शन अल्पकालीन (अन्तर्मुहूर्त स्थितिक) होता है। दबा हुआ रोग फिर से उभर आता है। अन्तर् मुहूर्त के लिए निरुद्धोदय किए हुए दर्शन-मोह के परमाणु काल-मर्यादा पूर्ण होते ही फिर सक्रिय बन जाते हैं। थोड़े समय के लिए जो सम्यग् दर्शनी बना, वह फिर मिथ्या-दर्शनी बन जाता है। रोग के परमाणुओं को निर्मूल नष्ट करने वाला सदा के लिए स्वस्थ बन जाता है। उनका शोधन करने वाला भी उनसे ग्रस्त नहीं होता। किन्तु उन्हें दबाये रखने वाला हरदम खतरे में रहता है। औपशमिक सम्यग् दर्शनी इस तीसरी कोटि का होता है। औपशमिक सम्यग् दर्शन के बारे में दो परम्पराएं हैं—(१) सैद्धान्तिक और (२) कर्म-ग्रन्थिक। सिद्धान्त-पक्ष की मान्यता यह है कि क्षायौपशमिक सम्यग् दर्शन पाने वाला व्यक्ति ही अपूर्व करण में दर्शन-मोह के परमाणुओं का त्रि-पुञ्जीकरण करता है। औपशमिक सम्यग् दर्शनी औपशमिक सम्यग् दर्शन से गिरकर मिथ्या दर्शनी होता है।

कर्मग्रन्थ का पक्ष है—अनादिमिथ्या दृष्टि अन्तर-करण में औपशमिक-सम्यग् दर्शन या दर्शन-मोह के परमाणुओं को त्रि-पुञ्जीकृत करता है। उस आन्तर् मौहूर्तिक सम्यग् दर्शन के बाद जो पुञ्ज अधिक प्रभावशाली होता है, वह उसे प्रभावित करता है। (जिस पुञ्ज का उदय होता है, उसी दशा में वह चला जाता है) अशुद्ध पुञ्ज के प्रभावकाल (उदय) में वह मिथ्या-दर्शनी, अर्ध-विशुद्ध पुञ्ज के प्रभाव-काल में सम्यग् मिथ्या दर्शनी और शुद्ध पुञ्ज के प्रभाव-काल में सम्यग् दर्शनी बन जाता है।

सिद्धान्त-पक्ष में पहले क्षायौपशमिक सम्यग् दर्शन प्राप्त होता है—ऐसी मान्यता है। कर्म-ग्रन्थ पक्ष में पहले औपशमिक सम्यग् दर्शन प्राप्त होता है—यह माना जाता है।

कई आचार्य दोनों विकल्पों को मान्य करते हैं। कई आचार्य क्षायिक-सम्यक्-दर्शन भी पहले-पहल प्राप्त होता है—ऐसा मानते हैं। सम्यग् दर्शन का आदि-अनन्त विकल्प इसका आधार है।

क्षायोपशमिक सम्यग् दर्शनी (अपूर्व करण में) ग्रन्थि भेद कर मिथ्यात्व-मोह के परमाणुओं को तीन पुंजों में बांट देता है :—

(१) अशुद्ध पुञ्ज—यह पूर्ण आवरण है।

(२) अर्द्धशुद्ध पुञ्ज—यह अर्धावरण है।

(३) शुद्ध पुञ्ज—यह पारदर्शक है।

तीन पुञ्ज

(१) मैला कपड़ा, कोरे जल से धुला कपड़ा और साबुन से धुला कपड़ा।

(२) मैला जल, थोड़ा स्वच्छ जल और स्वच्छ जल।

(३) मादक द्रव्य, अर्ध-शोधित मादक द्रव्य और पूर्ण-शोधित मादक द्रव्य।

जैसे एक ही वस्तु की ये तीन-तीन दशाएं हैं, वैसे ही दर्शन-मोह के परमाणुओं की भी तीन दशाएं होती हैं। आत्मा का परिणाम अशुद्ध होता है, तब वे परमाणु एक पुञ्ज में ही रहते हैं। उनकी मादकता सम्यग् दर्शन को मूढ़ बनाए रखती है। यह मिथ्यात्व-दशा है। आत्मा का परिणाम कुछ शुद्ध होता है (मोह की गांठ कुछ ढीली पड़ती है) तब उन परमाणुओं का दो रूपों में पुञ्जीकरण होता है—(१) अशुद्ध (२) अर्ध शुद्ध। दूसरे पुञ्ज में मादकता का लोहावरण कुछ टूटता है, उसमें सम्यग् दर्शन की कुछ पारदर्शक रेखाएं खिंच जाती हैं। यह सम्यग् मिथ्यात्व (मिश्र) दशा है।

आत्मा का परिणाम शुद्ध होता है, उन परमाणुओं की मादकता धो डालने में पूर्ण होता है, तब उनके तीन पुञ्ज बनते हैं। तीसरा पुञ्ज शुद्ध होता है।

क्षायोपशमिक सम्यग् दर्शनी पहले दो पुञ्जों को निष्क्रिय बना देता है[२५]। तीसरे पुञ्ज का उदय रहता है, पर वह शोधित होने के कारण शक्ति-हीन बना रहता है। इसलिए यथार्थ दर्शन में बाधा नहीं डालता। मैले अभ्रक या काच में रही हुई बिजली या दीपक पार की वस्तु को प्रकाशित नहीं करती। उन्हें साफ कर दिया जाए, फिर वे उनके प्रकाश-प्रसरण में बाधक नहीं बनते। वैसे ही शुद्ध पुञ्ज सम्यग् दर्शन को मूढ़ बनाने वाले परमाणु हैं। किन्तु परिणाम-

शुद्धि के द्वारा उनकी मोहक-शक्ति का मालिन्य धुल जाने के कारण वे आत्म-दर्शन में सम्मोह पैदा नहीं कर सकते।

क्षायिक-सम्यक्त्वी दर्शन-मोह के परमाणुओं को पूर्ण रूपेण नष्ट कर डालता है। वहाँ इनका अस्तित्व भी शेष नहीं रहता। यह वास्तविक या सर्व-विशुद्ध सम्यग् दर्शन है। पहले दोनों (औपशमिक और क्षायोपशमिक) प्रतिघाती हैं, पर अप्रतिपाती है।

मिथ्या दर्शन के तीन रूप

काल की दृष्टि से मिथ्या दर्शन के तीन विकल्प होते हैं :—

(१) अनादि अनन्त (२) अनादि-सान्त (३) सादि-सान्त।

(१) कभी सम्यग् दर्शन नहीं पाने वाले (अभव्य या जाति भव्य) जीवों की अपेक्षा मिथ्या दर्शन अनादि-अनन्त है।

(२) पहली बार सम्यग् दर्शन प्रगट हुआ, उसकी अपेक्षा यह अनादि-सान्त है।

(३) प्रतिपाति सम्यग् दर्शन (सम्यग् दर्शन आया और चला गया) की अपेक्षा वह सादि-सान्त है।

सम्यग् दर्शन के दो रूप

सम्यग् दर्शन के सिर्फ दो विकल्प बनते हैं :

(१) सादि-सान्त (२) सादि-अनन्त। प्रतिपाति (औपशमिक और क्षायोपशमिक) सम्यग् दर्शन सादि-सान्त हैं। अप्रतिपाति (क्षायिक)— सम्यग्-दर्शन सादि-अनन्त होता है।

मिथ्या दर्शनी एक बार सम्यग् दर्शनी बनने के बाद फिर से मिथ्या दर्शनी बन जाता है। किन्तु अनन्त काल की असीम मर्यादा तक वह मिथ्या दर्शनी ही बना नहीं रहता है, इसलिए मिथ्या दर्शन सादि-अनन्त नहीं होता।

सम्यग् दर्शन सहज नहीं होता। वह विकास-दशा में प्राप्त होता है, इसलिए वह अनादि-सान्त और अनादि-अनन्त नहीं होता।

सम्यग् दर्शन और पुञ्ज

(१) क्षायिक सम्यग् दर्शनी अपुञ्जी होता है। उसके दर्शन-मोह के

परमाणुओं का पुञ्ज होता ही नहीं। यह क्षपक (उनको खपाने वाला—नष्ट करने वाला) होता है।

(२) मिथ्या दर्शनी एक पुञ्जी होता है। दर्शन-मोह के परमाणु उसे सघन रूप में प्रभावित किये रहते हैं।

(३) सम्यग् मिथ्या दर्शनी द्विपुञ्जी होता है। दर्शन-मोह के परमाणुओं का शोधन करने चल पड़ता है। किन्तु पूरा नहीं कर पाता, यह उस समय की दशा है।

(४) क्षायोपशमिक-सम्यक् दर्शनी त्रिपुंजी होता है। प्रकारान्तर से मिथ्यात्व मोह के परमाणु क्षीण नहीं होते, उसी दशा में सम्यग् दृष्टि (क्षायोपशमिक सम्यग् दृष्टि) त्रिपुञ्जी होता है। मिथ्यात्व पुञ्ज के क्षीण होने पर वह द्विपुञ्जी, मिश्र पुञ्ज के क्षीण होने पर एक पुञ्जी और सम्यक्त्व-पुञ्ज के क्षीण होने पर अपुञ्जी (क्षायिक सम्यग् दृष्टि) बन जाता है।

मिश्र-पुञ्ज संक्रम

दर्शन-मोह के परमाणुओं का पुञ्जीकरण, उनका उदय और संक्रमण परिणाम-धारा की अशुद्धि, अशुद्धि-अल्पता और शुद्धि पर निर्भर है।

परिणाम शुद्ध होते हैं मोह का दबाव ढीला पड़ जाता है। तब शुद्ध पुञ्ज का उदय रहता है। परिणाम कुछ शुद्ध होते हैं (मोह का दबाव कुछ ढीला पड़ता है) तब अर्ध-शुद्ध पुञ्ज का उदय रहता है। परिणाम अशुद्ध होते हैं (मोह का दबाव तीव्र होता है) तब अशुद्ध-पुञ्ज का उदय रहता है।

मिथ्यात्व परमाणुओं की त्रिपुञ्जीकृत अवस्था में जिस पुञ्ज की प्रेरक परिणाम-धारा का प्राबल्य होता है, वह दूसरे को अपने में संक्रान्त कर लेती है। सम्यग् दृष्टि शुद्धि की जागरणोन्मुख परिणाम-धारा के द्वारा मिथ्यात्व पुञ्ज को मिश्र पुञ्ज में और जागृत परिणाम-धारा के द्वारा उसे सम्यक्त्व पुञ्ज में संक्रान्त करता है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व पुञ्ज का संक्रमण मिश्र पुञ्ज और सम्यक्त्व पुञ्ज दोनों में होता है।

मिश्र पुञ्ज का संक्रमण मिथ्यात्व और सम्यक्त्व—इन दोनों पुञ्जों में होता है। मिथ्या दृष्टि सम्यक् मिथ्यात्व पुञ्ज को मिथ्यात्व पुञ्ज में संक्रान्त करता है। सम्यक्त्वी उसको सम्यक्त्व पुञ्ज में संक्रान्त करता है। मिश्र-दृष्टि

मिथ्यात्व पुञ्ज को सम्यक् मिथ्यात्व पुञ्ज में संक्रान्त कर सकता है। पर सम्यक्त्व पुञ्ज को उसमें संक्रान्त नहीं कर सकता।

व्यावहारिक-सम्यग् दर्शन

सम्यग् दर्शन का सिद्धान्त सम्प्रदाय परक नहीं, आत्मपरक है। आत्मा अमुक मर्यादा तक मोह के परमाणुओं से वियुक्त हो जाती है, तीव्र कषाय (अनन्तानुबन्धी चतुष्क) रहित हो जाती है, तब उसमें आत्मोन्मुखता (आत्म-दर्शन की प्रवृत्ति) का भाव जागृत होता है। यथार्थ में वह (आत्म-दर्शन) ही सम्यग् दर्शन है। जिसे एक का सम्यग् दर्शन होता है, उसे सबका सम्यग् दर्शन होता है। आत्मदर्शी समदर्शी हो जाता है और इसलिए वह सम्यक् दर्शी होता है। यह निश्चय-दृष्टि की बात है और यह आत्मानुमेय या स्वानुभवगम्य है। सम्यग् दर्शन का व्यावहारिक रूप तत्त्व श्रद्धान है [२६]।

सम्यग् दर्शी का संकल्प

कषाय की मन्दता होते ही सत्य के प्रति रुचि तीव्र हो जाती है। उसकी गति अतथ्य से तथ्य की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अबोधि से बोधि की ओर, अमार्ग से मार्ग की ओर अज्ञान से ज्ञान की ओर अक्रिया से क्रिया की ओर, मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर हो जाती है। उसका संकल्प ऊर्ध्व मुखी और आत्मलक्षी हो जाता है [२७]।

व्यावहारिक सम्यग् दर्शन की स्वीकार-विधि

लोक में चार मंगल हैं (१) अरिहन्त[२८] (२) सिद्ध[२९] (३) साधु (४) केवली भाषित धर्म [३०]।

चार लोकोत्तम हैं—(१) अरिहन्त (२) सिद्ध (३) साधु (४) केवली-भाषित धर्म।

चार शरण्य हैं—मैं (१) अरिहन्त की शरण लेता हूँ (२) सिद्ध की शरण लेता हूँ। (३) साधु की शरण लेता हूँ (४) केवली भाषित धर्म की शरण लेता हूँ [३१]। जिसमें अरिहन्त देव, सुसाधु-गुरु और तत्त्व-धर्म की यथार्थ श्रद्धा है, उस सम्यक्त्व को मैं यावज्जीवन के लिए स्वीकार करता हूँ [३२]। यह दर्शन-पुरुष के व्यावहारिक सम्यग् दर्शन के स्वीकार की विधि है [३३]। इसमें उसके सत्य संकल्प का ही स्थिरीकरण है।

दर्शन-शुद्ध के लिए साधना, साधक और सिद्ध से बढ़कर कोई सत्य नहीं होता [34]। इसलिए वह उन्हीं को 'मंगल' लोकोत्तम मानता है और उन्हीं की शरण स्वीकार करता है। यह व्यक्ति की आस्था या व्यक्तिवाद नहीं, किन्तु गुणवाद है।

आचार और अतिचार

सम्यग् दर्शन में पोष लाने वाली प्रवृत्ति उसका आचार और दोष लाने वाली प्रवृत्ति उसका अतिचार होती है। ये व्यावहारिक निमित्त हैं, सम्यग् दर्शन का स्वरूप नहीं है।

सम्यग् दर्शन के आचार आठ हैं[35]—

(१) निःशंकित......सत्य में निश्चित विश्वास।
(२) निःकांक्षित......मिथ्या विचार के स्वीकार की अरुचि।
(३) निर्विचिकित्सा......सत्याचरण के फल में विश्वास।
(४) अमूढ़-दृष्टि......असत्य और असत्याचरण की महिमा के प्रति अनाकर्षण, अव्यामोह।
(५) उपबृंहण.........आत्म-गुण की वृद्धि।
(६) स्थिरीकरण.........सत्य से डगमगा जाए, उन्हें फिर से सत्य में स्थापित करना।
(७) वात्सल्य............सत्य धर्मों के प्रति सम्मान-भावना, सत्याचरण का सहयोग।
(८) प्रभावना.........प्रभावकढंग से सत्य के महात्म्य का प्रकाशन।

पांच अतिचार

(१) शंका...सत्य में संदेह।
(२) काङ्क्षा...मिथ्याचार के स्वीकार की अभिलाषा।
(३) विचिकित्सा...सत्याचरण की फल-प्राप्ति में संदेह।
(४) परपाखण्ड-प्रशंसा...इतर सम्प्रदाय की प्रशंसा।
(५) परपाषण्ड-संस्तव...इतर सम्प्रदाय का परिचय।

सम्यग्-दर्शन की व्यावहारिक पहिचान

सम्यग् दर्शन आध्यात्मिक शुद्धि है। वह बुद्धिगम्य वस्तु नहीं है। फिर भी उसकी पहिचान के कुछ व्यावहारिक लक्षण बतलाए हैं।

सम्यक्त्व श्रद्धा के तीन लक्षण [३६] :—

(१) परमार्थ संस्तव…परम सत्य के अन्वेषण की रुचि।

(२) सुदृढ़ परमार्थ सेवन…परम सत्य के उपासक का संसर्ग या मिले हुए सत्य का आचरण।

(३) कुदर्शन वर्जना—कुमार्ग से दूर रहने की दृढ़ आस्था।

सत्यान्वेषी या सत्यशील और असत्यविरत जो हो तो जाना सकता है कि वह सम्यग् दर्शन-पुरुष है।

पांच लक्षण

(१) शम…कषाय उपशमन

(२) संवेग…मोक्ष की अभिलाषा

(३) निर्वेद…संसार से विरक्ति

(४) अनुकम्पा…प्राणीमात्र के प्रति कृपाभाव, सर्वभूत मैत्री-आत्मौपम्यभाव।

(५) आस्तिक्य…आत्मा में निष्ठा।

सम्यक् दर्शन का फल

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्! दर्शन-सम्पन्नता का क्या लाभ है?

भगवान्—गौतम! दर्शन-सम्पदा से विपरीत दर्शन का अन्त होता है। दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति यथार्थ द्रष्टा बन जाता है। उसमें सत्य की लौ जलती है, वह फिर बुझती नहीं। वह अनुत्तर-ज्ञान-धारा से आत्मा को भावित किए रहता है। यह आध्यात्मिक फल है। व्यावहारिक फल यह है कि सम्यग् दर्शी देवगति के सिवाय अन्य किसी भी गति का आयु-बन्ध नहीं करता [३७]।

महत्त्व

भगवान् महावीर का दर्शन गुण पर आश्रित था। उन्होंने बाहरी सम्पदा के कारण किसी को महत्त्व नहीं दिया। परिवर्तित युग में जैन धर्म भी जात्याश्रित होने लगा। जाति-मद से मदोन्मत्त बने लोग समान धर्मी भाइ-

यों की भी अवहेलना करने लगे। ऐसे समय में व्यावहारिक सम्यग् दर्शन की व्याख्या और विशाल बनी। आचार्य समन्त भद्र ने मद के साथ उसकी विसंगति बताते हुए कहा है—"जो धार्मिक व्यक्ति अष्टमद (१) जाति (२) कुल (३) बल (४) रूप (५) श्रुत (६) तप (७) ऐश्वर्य (८) लाभ से उन्मत्त होकर धर्मस्थ व्यक्तियों का अनादर करता है, वह अपने आत्म-धर्म का अनादर करता है। सम्यग् दर्शन आदि धर्म को धर्मात्मा ही धारण करता है। जो धर्मात्मा है, वह महात्मा है। धार्मिक के बिना धर्म नहीं होता। सम्यग् दर्शन की सम्पदा जिसे मिली है, वह भंगी भी देव है। तीर्थंकरों ने उसे देव माना है। राख से ढकी हुई आग का तेज तिमिर नहीं बनता, वह ज्योतिपुञ्ज ही रहता है[३८]।

आचार्य भिक्षु ने कहा है :—

वे व्यक्ति विरले ही होते हैं, जिनके घट में सम्यकत्व रम रहा हो। जिस के हृदय में सम्यकत्व-सूर्य का उदय होता है, वह प्रकाश से भर जाता है, उसका अन्धकार चला जाता है।

सभी खानों में हीरे नहीं मिलते, सर्वत्र चन्दन नहीं होता, रत्न-राशि सर्वत्र नहीं मिलती, सभी सर्प 'मणिधर' नहीं होते, सभी लब्धि (विशेष शक्ति) के धारक नहीं होते, बन्धन-मुक्त सभी नहीं होते, सभी सिंह 'केसरी' नहीं होते, सभी साधु 'साधु' नहीं होते, उसी प्रकार सभी जीव सम्यक्त्वी नहीं होते।

नव-तत्त्व के सही श्रद्धान से मिथ्यात्त्व (१० मिथ्यात्व) का नाश होता है। यही सम्यकत्व का प्रवेश-द्वार है।

सम्यकत्व के आजाने पर श्रावक-धर्म या साधु-धर्म का पालन सहज हो जाता है, कर्म-बन्धन टूटने लगते हैं और वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

तथ्य (भावों ध्रुव सत्यों) की अन्वेषणा, प्राप्ति और प्रतीति जो है, वह सम्यकत्व है, यह व्यावहारिक सम्यग् दर्शन की परिभाषा है। इसका आधार तत्त्वों की सम्यग्-श्रद्धा है। दर्शन-पुरुष की तत्त्व-श्रद्धा अपने आप सम्यक् हो जाती है। तत्त्व श्रद्धा का विपर्यय आग्रह और अभिनिवेश से होता है। अभिनिवेश का हेतु तीव्र कषाय है। दर्शन-पुरुष का कषाय मन्द हो जाता है, उसमें आग्रह का भाव नहीं रहता। वह सत्य को सरल और सहज भाव से पकड़ लेता है।

ध्रुव सत्य

विश्व के सर्व सत्यों का समावेश दो ध्रुव सत्यों—चेतन और अचेतन में होता है। शुद्ध-तत्त्व दृष्टि से चेतन और अचेतन—ये दो ही तत्त्व हैं।

इनके छह भेद विश्व की व्यवस्था जानने के लिए होते हैं। इनके नव भेद आत्म-साधना की साधक-बाधक दशा और साहित्य की मीमांसा के हेतु किए जाते हैं।

जैन दर्शन के ध्रुवसत्य

सम्यग् दर्शन के आधार भूत तत्त्व :—

(१) आत्मा है (२) नित्य है (३) कर्त्ता है (४) भोक्ता है (५) बन्ध है (६) मोक्ष है।

विश्व-स्थिति के आधार भूत तत्त्व :—

(१) पुनर्जन्म—जीव मरकर पुनरपि बार-बार जन्म लेते हैं।

(२) कर्म-बन्ध—जीव सदा (प्रवाह रूपेण अनादि काल से) निरन्तर कर्म बाँधते हैं।

(३) मोहनीय कर्म-बन्ध—जीव सदा (प्रवाह रूपेण अनादि काल से) निरन्तर मोहनीय कर्म बांधते हैं।

(४) जीव अजीव का अत्यन्ताभाव—ऐसा न हुआ, न भाव्य है और न होगा कि जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए।

(५) त्रस-स्थावर—अविच्छेद—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि गतिशील प्राणी स्थावर बन जाए। और स्थावर प्राणी गतिशील बन जाए।

(६) लोकालोक पृथक्त्व—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक हो जाए और अलोक लोक हो जाए।

(७) लोकालोक अन्योन्याप्रवेश—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक में प्रवेश करे और अलोक लोक में प्रवेश करे।

(८) लोक और जीवों का आधार-आधेय सम्बन्ध—जितने क्षेत्र का नाम लोक है, उतने क्षेत्र में जीव हैं और जितने क्षेत्र में जीव हैं, उतने क्षेत्र का नाम लोक है।

(९) लोक-मर्यादा—जितने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं, उतना क्षेत्र 'लोक' है और जितना क्षेत्र लोक है, उतने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं।

(१०) अलोकगति कारणाभाव—लोक के सब अन्तिम भागों में आबद्ध-पार्श्व-स्पृष्ट पुद्गल हैं। लोकान्त के पुद्गल स्वभाव से ही रूखे होते हैं। वे गति में सहायता करने की स्थिति में संघटित नहीं हो सकते। उनकी सहायता के बिना जीव अलोक में गति नहीं कर सकते।

असम्भाव्य कार्य[३९]

(१) अजीव को जीव नहीं बनाया जा सकता।

(२) जीव को अजीव नहीं बनाया जा सकता।

(३) एक साथ दो भाषा नहीं बोली जा सकती।

(४) अपने किए कर्मों के फलों को इच्छा-अधीन नहीं किया जा सकता।

(५) परमाणु तोड़ा नहीं जा सकता।

(६) अलोक में नहीं जाया जा सकता।

सर्वज्ञ या विशिष्ट योगी के सिवाय कोई भी व्यक्ति इन तत्त्वों का साक्षात्कार नहीं कर सकता[४०]।

(१) धर्म-(गति-तत्त्व)

(२) अधर्म-(स्थिति-तत्त्व)

(३) आकाश

(४) शरीर रहित जीव

(५) परमाणु

(६) शब्द

पारमार्थिक सत्ता—

(१) ज्ञाता का सतत अस्तित्व[४१]।

(२) ज्ञेय का स्वतन्त्र अस्तित्व वस्तु-ज्ञान पर निर्भर नहीं है[४२]।

(३) ज्ञाता और ज्ञेय में भोग्य सम्बन्ध।

(४) वाणी में ज्ञान का प्रामाणिक प्रतिबिम्ब—विचारों या लक्ष्यों की अभिव्यक्ति का यथार्थ साधन [४३]।

(५) ज्ञेय (संवेद्य या विषय) और ज्ञातृ (संवित् या विषयी) के समकालीन अस्तित्व, स्वतन्त्र-अस्तित्व तथा पारस्परिक सम्बन्ध के कारण उनका विषयविषयीभाव।

चार सिद्धान्त

(१) पदार्थमात्र—परिवर्तनशील है।

(२) सत् का सर्वथा नाश और सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं होता।

(३) जीव और पुद्गल में गति-शक्ति होती है।

(४) व्यवस्था वस्तु का मूल भूत स्वभाव है।

इनकी जड़वाद के चार सिद्धान्तों से तुलना कीजिए।

(क) ज्ञाता और ज्ञेय नित्य परिवर्तनशील हैं।

(ख) सद् वस्तु का सम्पूर्ण नाश नहीं होता—पूर्ण अभाव में से सद् वस्तु उत्पन्न नहीं होती।

(ग) प्रत्येक वस्तु में स्वभाव-सिद्ध गति-शक्ति किंवा परिवर्तनशक्ति अवश्य रहती है।

(घ) रचना, योजना, व्यवस्था, नियमबद्धता अथवा सुसंगति वस्तु का मूलभूत स्वभाव है [४४]।

सत्य क्या है

भगवान् ने कहा—सत्य वही है, जो जिन-प्रवेदित है—प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा निरूपित है [४५]। यह यथार्थवाद है, सत्य का निरूपण है किन्तु यथार्थता नहीं है—सत्य नहीं है।

जो सत् है, वही सत्य है—जो है वही सत्य है, जो नहीं है वह सत्य नहीं है। यह अस्तित्व—सत्य, वस्तु-सत्य, स्वरूप-सत्य या ज्ञेय सत्य है। जिस वस्तु का जो सहज शुद्ध रूप है, वह सत्य है। परमाणु परमाणु रूप में सत्य है। आत्मा-आत्मा रूप में सत्य है। धर्म, अधर्म, आकाश भी अपने रूप में सत्य हैं। एक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाला। अविभाज्य पुद्गल—यह परमाणु का सहज रूप सत्य है। बहुत सारे परमाणु मिलते हैं—स्कन्ध बन

जाता है, इसलिए परमाणु पूर्ण-सत्य (त्रैकालिक सत्य) नहीं है। परमाणु-दशा में परमाणु सत्य है। भूत-भविष्यत् कालीन स्कन्ध की दशा में उसका विभक्त रूप सत्य नहीं है।

आत्मा शरीर-दशा में अर्ध सत्य है। शरीर, वाणी, मन और श्वास उसका स्वरूप नहीं है। आत्मा का स्वरूप है—अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य (शक्ति), अरूप। सरूप (सशरीर) आत्मा वर्तमान पर्याय की अपेक्षा सत्य है (अर्ध सत्य है)। अरूप (अशरीर, शरीरमुक्त) आत्मा पूर्ण सत्य (परम सत्य या त्रैकालिक सत्य) है। धर्म, अधर्म और आकाश (इन तीनों तत्त्वों का वैभाविक रूपान्तर नहीं होता। ये सदा अपने सहज रूप में ही रहते हैं—इसलिए) पूर्ण सत्य हैं।

साध्य-सत्य

साध्य-सत्य स्वरूप-सत्य का ही एक प्रकार है। वस्तु-सत्य व्यापक है। परमाणु में ज्ञान नहीं होता, अतः उसके लिए कुछ साध्य भी नहीं होता। वह स्वाभाविक काल-मर्यादा के अनुसार कभी स्कन्ध में जुड़ जाता है और कभी उससे विलग हो जाता है।

आत्मा ज्ञानशील पदार्थ है। विभाव-दशा (शरीर-दशा) में स्वभाव (अशरीर-दशा या ज्ञान, आनन्द और वीर्य का पूर्ण प्रकाश) उसका साध्य होता है। साध्य न मिलने तक यह सत्य होता है और उसके मिलने पर (सिद्धि के पश्चात्) वह स्वरूप-सत्य के रूप में बदल जाता है।

साध्य-काल में मोक्ष सत्य होता है और आत्मा अर्ध-सत्य। सिद्धि-दशा में मोक्ष और आत्मा का अद्वैत (अभेद) हो जाता है, फिर कभी भेद नहीं होता। इसलिए मुक्त आत्मा का स्वरूप पूर्ण-सत्य है (त्रैकालिक है, अपुनरावर्तनीय है)।

जैन-तत्त्व-व्यवस्था के अनुसार चेतन और अचेतन—ये दो सामान्य सत्य हैं। ये निरपेक्ष स्वरूप-सत्य हैं। गति-हेतुकता, स्थिति-हेतुकता, अवकाश-हेतुकता, परिवर्तन-हेतुकता और ग्रहण (संयोग-वियोग) की अपेक्षा—विभिन्न कार्यों और गुणों की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल—अचेतन

के ये पांच रूप (पांच द्रव्य) और जीव, ये छह सत्य हैं। ये विभाग-सापेक्ष स्वरूप सत्य हैं।

आस्रव (बन्ध-हेतु), संवर (बन्धन-निरोध) निर्जरा (बन्धन-क्षय हेतु)— ये तीनों साधन-सत्य हैं। मोक्ष साध्य-सत्य है। बन्धन-दशा में आत्मा के ये चारों रूप सत्य हैं। मुक्त-दशा में आस्रव भी नहीं होता, संवर भी नहीं होता, निर्जरा भी नहीं होती, साध्यरूप मोक्ष भी नहीं होता, इसलिए वहाँ आत्मा का केवल आत्मरूप ही सत्य है।

आत्मा के साथ अनात्मा (अजीव-पुद्गल) का सम्बन्ध रहते हुए उसके बन्ध, पुण्य और पाप से तीनों रूप सत्य हैं। मुक्त-दशा में बन्धन भी नहीं होता, पुण्य भी नहीं होता, पाप भी नहीं होता। इसलिए जीव-वियुक्त-दशा में केवल अजीव (पुद्गल) ही सत्य है। तात्पर्य कि जीव-अजीव की संयोग-दशा में नव सत्य हैं। उनकी वियोग-दशा में केवल दो ही सत्य हैं।

व्यवहार-नय से वस्तु का वर्तमान रूप (वैकारिक रूप) भी सत्य है। निश्चय-नय से वस्तु का त्रैकालिक (स्वाभाविक रूप) सत्य है।

रहस्य की खोज

हम क्या हैं ? हमें क्या करना है ? हम कहाँ से आते हैं और कहाँ चले जाते हैं—जैन दर्शन इन प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है। इसके समाधान के साथ-साथ हमें यह निर्णय भी कर लेना होगा कि जगत् का स्वरूप क्या है और उसमें हमारा क्या स्थान है ?

हमें अपनी जानकारी के लिए आत्मा, धर्म और कर्म की समस्याओं पर विचार करना होगा। आत्मा की स्वाभाविक या विशुद्ध दशा धर्म है—जिसे 'संवर' और 'निर्जरा'—अपूर्ण मुक्ति और पूर्ण मुक्ति कहते हैं। 'संवर' आत्मा की वह दशा है, जिसमें विजातीय तत्त्व-कर्म-पुद्गल का उसके साथ संश्लेष होना छूट जाता है। पहले लगे हुए विजातीय तत्त्व का आत्मा से विश्लेष या विसंबंध होता है, वह दशा है 'निर्जरा'। विजातीय-तत्त्व थोड़ा अलग होता है, वह आंशिक या अपूर्ण निर्जरा होती है। विजातीय-तत्त्व सर्वथा अलग हो जाता है, उसका नाम है मोक्ष।

आत्मा का अपना रूप मोक्ष है। विजातीय द्रव्य के प्रभाव से उसकी जो दशा बनती है, वह 'वैभाविक' दशा कहलाती है। इसके पोषक चार तत्त्व हैं—आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप। आत्मा के साथ विजातीय तत्त्व एक रूप बनता है। इसे बन्ध कहा जाता है। इसके दो रूप हैं—शुभ और अशुभ। शुभ पुद्गल-स्कन्ध (पुण्य) जब आत्मा पर प्रभाव डालते हैं, तब वह मनोज्ञ पुद्गलों की ओर आकृष्ट होती है और उसे पौद्गलिक सुख की अनुभूति होती है। अशुभ पुद्गल-स्कन्धों (पाप) का प्रभाव इससे विपरीत होता है। उससे अप्रिय, अमनोज्ञ भाव बनते हैं। आत्मा में विजातीय तत्त्व के स्वीकरण का जो हेतु है, उसकी संज्ञा 'आस्रव' है। विभाव से स्वभाव में आने के लिए ये तत्त्व उपयोगी हैं। इनकी उपयोगिता के बारे में विचार करना उपयोगितावाद है।

धर्म गति है, गति का हेतु या उपकारक 'धर्म' नामक द्रव्य है। स्थिति है, स्थिति का हेतु या उपकारक 'अधर्म' नामक द्रव्य है। आधार है, आधार का हेतु या उपकारक 'आकाश' नामक द्रव्य है। परिवर्तन है, परिवर्तन का हेतु या

उपकारक 'काल' नामक तत्त्व है। जो मूर्त है वह 'पुद्गल' द्रव्य है। जिसमें चैतन्य है वह जीव है। इनकी क्रिया या उपकारों की जो समष्टि है वह जगत् है। यह भी उपयोगितावाद है।

पदार्थों के अस्तित्व के बारे में विचार करना अस्तित्ववाद या वास्तविक-वाद कहलाता है। अस्तित्व की दृष्टि से पदार्थ दो हैं—चेतन और अचेतन।

अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद

जैन-परिभाषा में दोनों के लिए एक शब्द है 'द्रव्यानुयोग'। पदार्थ के अस्तित्व और उपयोग पर विचार करने वाला समूचा सिद्धान्त इसमें समा जाता है।

उपयोगिता के दो रूप हैं—आध्यात्मिक और जागतिक। नव तत्त्व की व्यवस्था आत्म-कल्याण के लक्ष्य से की हुई है, इसलिए यह आध्यात्मिक है। यह आत्म-मुक्ति के साधक, बाधक तत्वों का विचार है। कर्मबद्ध आत्मा को जीव और कर्म-मुक्त आत्मा को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष साध्य है। जीव के वहाँ तक पहुँचने में पुण्य, पाप, बन्ध और आस्रव—ये चार तत्त्व बाधक हैं, संवर और निर्जरा—ये दो साधक हैं। अजीव उसका प्रतिपक्षी तत्त्व है।

षड्द्रव्य की व्यवस्था विश्व के सहज-संचलन या सहज-नियम की दृष्टि से हुई है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के लिए क्या उपयोग है, यह जानकारी हमें इससे मिलती है।

वास्तविकतावाद में पदार्थ के उपयोग पर कोई विचार नहीं होता। सिर्फ उसके अस्तित्व पर ही विचार होता है, इसलिए वह 'पदार्थवाद' या 'आधि-भौतिकवाद' कहलाता है।

दर्शन का विकास अस्तित्व और उपयोग दोनों के आधार पर हुआ है। अस्तित्व और उपयोग दोनों प्रमाण द्वारा साधे गए हैं। इसलिए प्रमाण, न्याय या तर्क के विकास के आधार भी यही दोनों हैं। पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—तर्क्य—हेतु गम्य और अतर्क्य—हेतु-अगम्य। न्यायशास्त्र का मुख्य विषय है—प्रमाण-मीमांसा। तर्क-शास्त्र इससे भिन्न नहीं है। वह ज्ञान-विवेचन का ही

एक अङ्ग है। प्रमाण दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। तर्क-गम्य पदार्थों की जानकारी के लिए जो अनुमान है, वह परोक्ष के पांच रूपों में से एक है।

पूर्व-धारणा की यथार्थ-स्मृति आती है, उसे तर्क द्वारा साधनों की आवश्यकता नहीं होती। वह अपने आप सत्य है—प्रमाण है। यथार्थ पहिचान प्रत्यभिज्ञा के लिए भी यही बात है। मैं जब अपने पूर्व परिचित व्यक्ति को साक्षात् पाता हूँ तब मुझे उसे जानने के लिए तर्क आवश्यक नहीं होता।

मैं जिसके यथार्थ ज्ञान और यथार्थ-वाणी का अनुभव कर चुका, उसकी वाणी को प्रमाण मानते समय मुझे हेतु नहीं ढूंढ़ना पड़ेगा। यथार्थ जानने वाला भी कभी और कहीं भूल कर सकता है—यथार्थ कहने वाला भी कभी और कहीं असत्य बोल सकता है—इस संभावना से यदि मैं उसकी प्रत्येक वाणी को तर्क की कसौटी पर कसे बिना प्रमाण न मानूँ तो वह मेरी भूल होगी। मेरा विश्वासी मुझे ठगना चाहे, वहाँ मेरे लिए वह प्रमाणाभास होगा। किन्तु तर्क का सहारा लिए बिना कहीं भी वह मेरे लिए प्रमाण न बने, यह कैसे माना जाए ? यदि यह न हो तो जगत् का अधिकांश व्यवहार ही न चले ? व्यवहार में जहाँ व्यावहारिक आप्त की स्थिति है, वहाँ परमार्थ में पारमार्थिक आप्त—वीतराग की। किन्तु तर्क से आगे विश्वास है अवश्य।

आँख से जो मैं देखता हूँ। कान से जो सुनता हूँ, उसके लिए मुझे तर्क नहीं चाहिए।

सत्य आँख और कान से परे भी है। वहाँ तर्क की पहुँच ही नहीं है।

तर्क का क्षेत्र केवल कार्य-कारण की नियमबद्धता, दो वस्तुओं का निश्चित साहचर्य। एक के बाद दूसरे के आने का नियम और व्याप्य में व्यापक के रहने का नियम है। एक शब्द में व्याप्ति है। वह सार्वदिक और सार्वत्रिक होती है। वह अनेक काल और अनेक देश के अनेक व्यक्तियों के समान अनुभव द्वारा सृष्ट नियम है। इसलिए उसे प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाण-परम्परा से ऊँचा या एकाधिकार स्थान नहीं दिया जा सकता

अतर्क्य आज्ञा-ग्राह्य या आगम-गम्य होता है।

निरूपण या कथन की विधि

निरूपण वस्तु का होता है। वस्तु के जितने रूप होते हैं उतने ही रूप

निरूपण के हो जाते हैं। संक्षेप में वस्तु के दो रूप हैं—आज्ञा-गम्य और हेतु-गम्य। आज्ञा-गम्य पदार्थ को आज्ञा-सिद्ध कहा जाए और हेतु-गम्य पदार्थ को हेतु-सिद्ध, यह कथन-विधि की आराधना है। पदार्थ मात्र को आज्ञा-सिद्ध या हेतु सिद्ध कहा जाए, यह कथन-विधि की विराधना है[१]।

सफल प्ररूपक वही होता है जो हेतु के पक्ष में हेतुवादी और आगम के पक्ष में आगम-वादी रहे[२]।

ज्ञान का फल चारित्र है या यों कहिए कि ज्ञान चारित्र के लिए है। मूल वस्तु सम्यग् दर्शन है जो सम्यग् दर्शनी नहीं, वह ज्ञानी नहीं होता। ज्ञान के बिना चरण गुण नहीं आते। अगुणी को मोक्ष नहीं मिलता मोक्ष के बिना निर्वाण (स्वरूप-लाभ या आत्यन्तिक शान्ति) नहीं होती[३]।

वह ज्ञान मिथ्या है, जो क्रिया या आचरण के लिए न हो। वह तर्क शुष्क है, जो अभिनिवेश के लिए आये। चारित्र से पहले ज्ञान का जो स्थान है, वह चारित्र की विशुद्धि के लिए ही है।

क्रियावाद का निरूपण वही कर सकता है, जो आत्मा को जानता है, लोक को जानता है, गति-आगति को जानता है, शाश्वत और अशाश्वत को जानता है, जन्म-मृत्यु को जानता है। आस्रव और संवर को जानता है, दुःख और निर्जरा को जानता है[४]।

क्रियावाद शब्द आत्म-दृष्टि का प्रतीक है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। वह संसार दशा में आवृत रहता है। उसकी शुद्धि के लिए क्रिया या चारित्र है। चारित्र साधन है, साध्य है, आत्म-स्वरूप का प्रादुर्भाव। साध्य की दृष्टि से ज्ञान का स्थान पहला है और चारित्र का दूसरा। साधन की दृष्टि से चारित्र का स्थान पहला है और ज्ञान का दूसरा। जब शुद्धि की प्रक्रिया चलती है, तब साधन की अपेक्षा प्रमुख रहती है। यही कारण है—द्रव्यानुयोग से पहले चरण-करणानुयोग की योजना हुई है।

दर्शन

धर्म मूलक दर्शन का विचार चार प्रश्नों पर चलता है।

(१) बन्ध

(२) बन्ध-हेतु (आस्रव)

(३) मोक्ष

(४) मोक्ष-हेतु (संवर-निर्जरा)

संक्षेप में दो हैं :—आस्रव और संवर। इसीलिए काल-क्रम के प्रवाह में बार-बार यह वाणी मुखरित हुई है।

"आस्रवो भव हेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टि रन्यदस्याः प्रपञ्चनम्[५]॥

यही तत्त्व वेदान्त में अविद्या और विद्या शब्द के द्वारा कहा गया है[६]। बौद्ध दर्शन के चार आर्य-सत्य और क्या हैं? यही तो हैं :—

(१) दुःख-हेय

(२) समुदय-हेयहेतु

(३) मार्ग-हानोपाय या मोक्ष-उपाय।

(४) निरोध-हान या मोक्ष।

यही तत्त्व हमें पातञ्जल-योगसूत्र और व्यास-भाष्य में मिलता है[७]। योग-दर्शन भी यही कहता है—विवेकी, के लिए यह संयोग दुःख है और दुःख हेय है[८]। त्रिविध दुःख के थपेड़ों से थका हुआ मनुष्य उसके नाश के लिए जिज्ञासु बनता है[९]।

"नृणामेकोगम्य स्त्वमसि खलु नानापथजुषाम्"—गम्य एक है—उसके मार्ग अनेक। सत्य एक है—शोध-पद्धतियाँ अनेक। सत्य की शोध और सत्य का आचरण धर्म है। सत्य-शोध की संस्थाएं, सम्प्रदाय या समाज हैं। वे धर्म नहीं हैं। सम्प्रदाय अनेक बन गए पर सत्य अनेक नहीं बना। सत्य शुद्ध-नित्य और शाश्वत होता है। साधन के रूप में वह है अहिंसा[१०] और साध्य के रूप में वह मोक्ष है[११]।

दुःख से सुख की ओर

मोक्ष और क्या है? दुःख से सुख की ओर प्रस्थान और दुःख से मुक्ति। निर्जरा-आत्म-शुद्धि सुख है। पाप-कर्म दुःख है[१२]। भगवान् महावीर की दृष्टि पाप के फल पर नहीं पाप की जड़ पर प्रहार करती है। वे कहते हैं "मूल का छेद करो—काम-भोग क्षण मात्र सुख हैं बहुत काल तक दुःख देने वाले हैं[१३]। यह संसार मोक्ष के विपक्ष है" इसलिए ये सुख नहीं हैं[१४]।

"दुःख सबको अप्रिय है [१५]। संसार दुःखमय है [१६]।" जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, और मृत्यु दुःख है। आत्म-विकास की जो पूर्ण दशा है, वहाँ न जन्म है न मृत्यु है, न रोग है और न जरा।

मोक्ष

दर्शन का विचार जहाँ से चलता है और जहाँ रुकता है—आगे पीछे वहीं आता है—बन्ध और मोक्ष। मोक्ष-दर्शन के विचार की यही मर्यादा है। और जो विचार होता है वह इनके परिवार के रूप में होता है। भगवान् महावीर ने दो प्रकार की प्रज्ञा बताई है ज्ञ और प्रत्याख्यान—जानना और छोड़ना [१७]। ज्ञेय सब पदार्थ हैं। आत्मा के साथ जो विजातीय सम्बन्ध है, वह हेय है। उपादेय हेय (त्याग) से अलग कुछ भी नहीं है। आत्मा का अपना रूप सत्-चित् और आनन्दघन है। हेय नहीं छूटता तब तक वह छोड़ने-लेने की उलझन में फँसा रहता है। हेय-बंधन छूटते ही वह अपने रूप में आ जाता है। फिर बाहर से न कुछ लेता है और न कुछ लेने की उसे अपेक्षा होती है।

शरीर छूट जाता है। शरीर के धर्म छूट जाते हैं—शरीर के मुख्य धर्म चार हैं :—

(१) आहार (२) श्वास उच्छ्वास (३) वाणी (४) चिन्तन—ये रहते हैं तब संसार चलता है। संसार में विचारों और सम्पर्कों का तांता जुड़ा रहता है। इसीलिए जीवन अनेक रस-ग्राही बन जाता है।

पुरुषार्थ

चार दुष्प्राप्य-वस्तुओं में से एक मनुष्यत्व है। मनुष्य का ज्ञान और पुरुषार्थ चार प्रवृत्तियों में लगता है। वे हैं (१) अर्थ (२) काम (३) धर्म (४) मोक्ष। ये दो भागों में बंटते हैं—संसार और मोक्ष। पहले दो पुरुषार्थ सामाजिक हैं। उनमें अर्थ-साधन है और काम साध्य। अन्तिम दो आध्यात्मिक हैं। उनमें धर्म साधन है और मोक्ष साध्य। आत्म-मुक्ति पर विचार करने वाला शास्त्र मोक्ष-शास्त्र या धर्म-शास्त्र होता है। अर्थ और काम पर विचार करने वाले समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र (अर्थ-विचार) और काम-शास्त्र (काम-विचार) कहलाते हैं। इन चारों की अपनी-अपनी मर्यादा है।

अर्थ और काम—ये दो जीवन की आवश्यकता या विवशता है। धर्म और मोक्ष जीवन की स्ववशता। वे (धर्म और मोक्ष) क्रियावादी के लिए हैं, अक्रियावादी के लिए नहीं। शेष दो पुरुषार्थ प्रत्येक समाजिक व्यक्ति के लिए हैं।

जैन-दर्शन सिर्फ मोक्ष का दर्शन है। वह मोक्ष और उसके साधन भूत धर्म का विचार करता है। शेष दो पुरुषार्थों को वह नहीं छूता। वे समाज-दर्शन के विषय हैं।

सामाजिक रीति या कर्त्तव्य, अर्थ और काम की बुराई पर नियन्त्रण कैसे हो, यह विचार मोक्ष-दर्शन की परिधि में आता है। किन्तु समाज-कर्त्तव्य, अर्थ और काम की व्यवस्था कैसे की जाए, यह विचार मोक्ष-दर्शन की सीमा में नहीं आता।

मोक्ष का पुरुषार्थ अहिंसा है। वह शाश्वत और सार्वभौम है। शेष पुरुषार्थ सार्वदेशिक और सार्वकालिक नहीं है। देश-देश और समय-समय की अनुकूल स्थिति के अनुसार उनमें परिवर्तन किया जाता है। अहिंसा कभी और कहीं हिंसा नहीं हो सकती और हिंसा अहिंसा नहीं हो सकती। इसी लिए अहिंसा और समाज कर्त्तव्य की मर्यादाएं अलग-अलग होती हैं।

लोक-व्यवस्था में कोई वाद, विचार या दर्शन आये, मोक्ष-दर्शन को उनमें बाधक बनने की आवश्यकता नहीं होती। अर्थ और काम को मोक्ष-दर्शन से अपनी व्यवस्था का समाधान पाना भी अपेक्षित नहीं होता। समाज-दर्शन और मोक्ष-दर्शन को एक मानने का परिणाम बहुत अनिष्ट हुआ है। इससे समाज की व्यवस्था में दोष आया है और मोक्ष-दर्शन बदनाम हुआ। अधिकांश पश्चिमी दर्शनों और अक्रियावादी भारतीय दर्शन का लोक-धर्म के साथ विशेष संबन्ध है। धर्म दर्शन-सापेक्ष और ससीम लोक धर्मों से निरपेक्ष हैं। वे निःसीम लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं।

"जेण सिया तेण-णोसिया [१८]"—जिस लोक-व्यवस्था और भोग-परिभोग से प्राप्ति और तृप्ति होती है, उससे नहीं भी होती, इसलिए यह सार वस्तु नहीं है।

प्राणीमात्र दुःख से घबड़ाते हैं। दुःख अपना किया हुआ होता है।

उसका कारण प्रमाद है। उससे मुक्ति पाने का उपाय अप्रमाद है [१९]। कुशल दर्शन वह है, जो दुःख के निदानमूल कारण और उनका उपचार बताए [२०]।

दुःख स्वकर्मकृत है यह जानकर कृत, कारित और अनुमोदन रूप आस्रव (दुःख-उत्पत्ति के कारण-मिथ्यात्व अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग) का निरोध करें [२१]।

कुशल दार्शनिक वह है जो बन्धन से मुक्त होने का उपाय खोजे [२२]। दर्शन की धुरी आत्मा है। आत्मा है—इसलिए धर्म का महत्त्व है। धर्म से बन्धन की मुक्ति मिलती है। बन्धन मुक्त दशा में ब्रह्म-भाव या ईश्वर-पद प्रगट होता है, किन्तु जब तक आत्मा की दृष्टि अन्तर्मुखी नहीं होती, इन्द्रिय की विषय-वासनाओं से आसक्ति नहीं हटती। तबतक आत्म-दर्शन नहीं होता। जिसका मन शब्द, रूप गन्ध, रस और स्पर्श से विरक्त हो जाता है; वही आत्मवित्, ज्ञानवित्, वेदवित्, धर्मवित् और ब्रह्मवित् होता है [२३]।

परिवर्तन और विकास

जीव और अजीव—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल की समष्टि विश्व है। जीव और पुद्गल के संयोग से जो विविधता पैदा होती है, उसका नाम है सृष्टि।

जीव और पुद्गल में दो प्रकार की अवस्थाएं मिलती हैं—स्वभाव और विभाव या विकार।

परिवर्तन का निमित्त काल बनता है। परिवर्तन का उपादान स्वयं द्रव्य होता है। धर्म, अधर्म और आकाश में स्वभाव-परिवर्तन होता है। जीव और पुद्गल में काल के निमित्त से ही जो परिवर्तन होता है वह स्वभाव-परिवर्तन कहलाता है। जीव के निमित्त से पुद्गल में और पुद्गल के निमित्त से जीव में जो परिवर्तन होता है, उसे कहते हैं—विभाव-परिवर्तन। स्थूल दृष्टि से हमें दो पदार्थ दीखते हैं—एक सजीव और दूसरा निर्जीव। दूसरे शब्दों में जीवत्-शरीर और निर्जीव शरीर या जीव मुक्त शरीर। आत्मा अमूर्त है, इसलिए अदृश्य है। पुद्गल मूर्त होने के कारण दृश्य अवश्य हैं पर अचेतन हैं। आत्मा और पुद्गल दोनों के संयोग से जीवत् शरीर बनता है। पुद्गल के सहयोग के कारण जीव के ज्ञान को क्रियात्मक रूप मिलता है और

जीव के सहयोग के कारण पुद्गल की ज्ञानात्मक प्रवृत्तियां होती हैं। सब जीव चेतना युक्त होते हैं। किन्तु चेतना की प्रवृत्ति उन्हीं की दीख पड़ती है—जो शरीर सहित होते हैं। सब पुद्गल रूप सहित हैं फिर भी चर्मचक्षु द्वारा वे ही दृश्य हैं, जो जीव युक्त और मुक्त-शरीर हैं। पुद्गल दो प्रकार के होते हैं—जीव-सहित और जीव-रहित। शस्त्र-अहत सजीव और शस्त्र-हत निर्जीव होते हैं। जीव और स्थूल शरीर के वियोग के निमित्त शस्त्र कहलाते हैं। शस्त्र के द्वारा जीव शरीर से अलग होते हैं। जीव के चले जाने पर जो शरीर या शरीर के पुद्गल-स्कन्ध होते हैं—वे जीवमुक्त शरीर कहलाते हैं [२४]। खनिज पदार्थ—सब धातुएं पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर हैं। पानी अप्कायिक जीवों का शरीर है। अग्नि तैजस कायिक, हवा वायुकायिक, तृण-लता-वृक्ष आदि वनस्पति कायिक, और शेष सब त्रस कायिक जीवों के शरीर हैं।

जीव और शरीर का सम्बन्ध अनादि-प्रवाह वाला है। वह जब तक नहीं टूटता तब तक पुद्गल जीव पर और जीव पुद्गल पर अपना-अपना प्रभाव डालते रहते हैं। वस्तुवृत्त्या जीव पर प्रभाव डालने वाला कार्मण शरीर है। यह जीव के विकारी परिवर्तन का आन्तरिक कारण है। इसे बाह्य-स्थितियां प्रभावित करती हैं। कार्मण-शरीर कार्मण-वर्गणा से बनता है। ये वर्गणाएं सबसे अधिक सूक्ष्म होती हैं। वर्गणा का अर्थ है एक जाति के पुद्गल स्कन्धों का समूह। ऐसी वर्गणाएँ असंख्य हैं। प्रत्यक्ष उपयोग की दृष्टि से वे आठ मानी जाती हैं :—

१—औदारिक वर्गणा	५—कार्मण वर्गणा
२—वैक्रिय वर्गणा	६—श्वासोच्छ्वास वर्गणा
३—आहारक ,,	७—भाषा ,,
४—तैजस् ,,	८—मन ,,

पहली पांच वर्गणाओं से पांच प्रकार के शरीरों का निर्माण होता है। शेष तीन वर्गणाओं से श्वास-उच्छ्वास, वाणी और मन की क्रियाएं होती हैं। ये वर्गणाएं समूचे लोक में व्याप्त हैं। जब तक इनका व्यवस्थित संगठन नहीं बनता, तब तक ये स्वानुकूल प्रवृत्ति के योग्य रहती हैं किन्तु उसे कर नहीं सकतीं। इनका व्यवस्थित संगठन करने वाले प्राणी हैं। प्राणी अनादिकाल

से कार्मण वर्गणाओं से आवेष्टित हैं। प्राणी का निम्नतम विकसित रूप 'निगोद' है[२५]। निगोद अनादि-वनस्पति है। उसके एक-एक शरीर में अनन्त-अनन्त जीव होते हैं। यह जीवों का अक्षय कोष है और सबका मूल स्थान है। निगोद के जीव एकेन्द्रिय होते हैं। जो जीव निगोद को छोड़ दूसरी काय में नहीं गए वे 'अव्यवहार-राशि' कहलाते हैं[२६] और निगोद से बाहर निकले जीव 'व्यवहार-राशि'[२७]। अव्यवहार-राशि का तात्पर्य यह है कि उन जीवों ने अनादि-वनस्पति के सिवाय और कोई व्यवहार नहीं पाया। स्त्यानर्द्धि-निद्रा-घोरतम निद्रा के उदय से ये जीव अव्यक्त-चेतना (जघन्यतम चैतन्य शक्ति) वाले होते हैं। इनमें विकास की कोई प्रवृत्ति नहीं होती। अव्यवहार-राशि से बाहर निकलकर प्राणी विकास की योग्यता को अनुकूल सामग्री पा अभिव्यक्त करता है। विकास की अन्तिम स्थिति है शरीर का अत्यन्त वियोग या आत्मा की बन्धन-मुक्तदशा[२८]। यह प्रयत्नसाध्य है। निगोदीय जघन्यता स्वभाव सिद्ध है।

स्थूल शरीर मृत्यु से छूट जाता है पर सूक्ष्म शरीर नहीं छूटते। इसलिए फिर प्राणी को स्थूल शरीर बनाना पड़ता है। किन्तु जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर छूट जाते हैं तब फिर शरीर नहीं बनता।

आत्मा की अविकसित दशा में उस पर कषाय का लेप रहता है[२९]। इससे उसमें स्व-पर की मिथ्या कल्पना बनती है। स्व में पर की दृष्टि और पर में स्व की दृष्टि का नाम है मिथ्या-दृष्टि। पुद्गल पर है, विजातीय है, बाह्य है। उसमें स्व की भावना, आसक्ति या अनुराग पैदा होता है अथवा घृणा की भावना बनती है। ये दोनों आत्मा के आवेग या प्रकम्पन हैं अथवा प्रत्येक प्रवृत्ति आत्मा में कम्पन पैदा करती है। इनसे कार्मण वर्गणाएं संगठित हो आत्मा के साथ चिपक जाती हैं। आत्मा को हर समय अनन्त-अनन्त कर्म-वर्गणाएं आवेष्टित किये रहती हैं। नई कर्म-वर्गणाएं पहले की कर्म-वर्गणाओं से रासायनिक क्रिया द्वारा घुल-मिल होकर एकमेक बनजाती हैं। सब कर्म-वर्गणाओं की योग्यता समान नहीं होती। कई चिकनी होती है, कई रूखी-तीव्र रस और मंद रस। इसलिए कई छूकर रह जाती हैं, कई गाढ़ बन्धन में बंध जाती हैं। कर्म-वर्गणाएं बनते ही अपना प्रभाव नहीं डालतीं

आत्मा का आवेष्टन बनने के बाद जो उन्हें नई बनावट या नई शक्ति मिलती है, उसका परिपाक होने पर वे फल देने या प्रभाव डालने में समर्थ होती हैं।

प्रज्ञापना (३५) में दो प्रकार की वेदना बताई हैं।

(१) आभ्युपगमिकी :—अभ्युपगम-सिद्धान्त के कारण जो कष्ट सहा जाता है वह आभ्युपगमिकी वेदना है।

(२) औपक्रमिकी :—कर्म का उदय होने पर अथवा उदीरणा द्वारा कर्म के उदय में आने पर जो कष्टानुभूति होती है, वह औपक्रमिकी वेदना है।

उदीरणा जीव अपने आप करता है अथवा इष्ट-अनिष्ट पुद्गल सामग्री अथवा दूसरे व्यक्ति के द्वारा हो जाती है। आयुर्वेद के पुरुषार्थ का यही निमित है।

वेदना चार प्रकार से भोगी जाती है :—

(१) द्रव्य से (२) क्षेत्र से (३) काल से (४) भाव से।

द्रव्य से :—जल-वायु के अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु के संयोग से।

क्षेत्र से :—शीत-उष्ण आदि-आदि अनुकूल-प्रतिकूल स्थान के संयोग से।

काल से :—गर्मी में हैजा, सर्दी में बुखार, निमोनिया अथवा अशुभ ग्रहों के उदय से।

भाव से :—असात वेदनीय के उदय से।

वेदना का मूल असात-वेदनीय का उदय है। जहाँ भाव से वेदना है वहीं द्रव्य, क्षेत्र और काल उसके (वेदना के) निमित बनते हैं। भाव-वेदना के अभाव में द्रव्यादि कोई असर नहीं डाल सकते। कर्म-वर्गणाएं पौद्गलिक हैं अतएव पुद्गल-सामग्री उसके विपाक या परिपाक में निमित बनती है।

धन के पास धन आता है—यह नियम कर्म-वर्गणाओं पर भी लागू होता है। कर्म के पास कर्म आता है। शुद्ध या मुक्त आत्मा के कर्म नहीं लगता। कर्म से बन्धी आत्मा का कषाय-लेप तीव्र होता जाता है। तीव्र कषाय तीव्र कम्पन पैदा करती है और उसके द्वारा अधिक कर्म-वर्गणाएं खींची जाती हैं [३०]।

इसी प्रकार प्रवृत्ति का प्रकम्पन भी जैसा तीव्र या मन्द होता है, वैसी ही प्रचुर या न्यून मात्रा में उनके द्वारा कर्म-वर्गणाओं का ग्रहण होता है। प्रवृत्ति

सत् और असत् दोनों प्रकार की होती है। सत् से सत्-कर्मवर्गणाएं और असत् से असत्-कर्मवर्गणाएं आकृष्ट होती हैं। यही संसार, जन्म-मृत्यु या भव-परम्परा है। इस दशा में आत्मा विकारी रहता है। इसलिए उस पर अनगिनत वस्तुओं और वस्तु-स्थितियों का असर होता रहता है। असर जो होता है, उसका कारण आत्मा की अपनी विकृत दशा है। विकारी दशा छूटने पर शुद्ध आत्मा पर कोई वस्तु प्रभाव नहीं डाल सकती। यह अनुभव सिद्ध बात है—असमभावी व्यक्ति, जिसमें राग-द्वेष का प्राचुर्य होता है, को पग-पग पर सुख-दुःख सताते हैं। उसे कोई भी व्यक्ति थोड़े में प्रसन्न और थोड़े में अप्रसन्न बना देता है। दूसरे की चेष्टाएं उसे बदलने में भारी निमित्त बनती हैं। समभावी व्यक्ति की स्थिति ऐसी नहीं होती। कारण यही कि उसकी आत्मा में विकार की मात्रा कम है या उसने ज्ञान द्वारा उसे उपशान्त कर रखा है। पूर्ण विकास होने पर आत्मा पूर्णतया स्वस्थ हो जाती है, इसलिए पर वस्तु का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। शरीर नहीं रहता तब उसके माध्यम से होने वाली संवेदना भी नहीं रहती। आत्मा सहजवृत्त्या अप्रकम्प—अडोल है। उसमें कम्पन शरीर-संयोग से होता है। अशरीर होने पर वह नहीं होता।

शुद्ध आत्मा के स्वरूप की पहिचान के लिए आठ मुख्य बातें हैं :—

(१) अनन्त-ज्ञान
(२) अनन्त-दर्शन
(३) क्षायक-सम्यक्त्व
(४) लब्धि
(५) सहज-आनन्द
(६) अटल-अवगाह
(७) अमूर्तिकपन
(८) अगुरु-लघु-भाव

थोड़े विस्तार में यूं समझिए—मुक्त आत्मा का ज्ञान-दर्शन अबाध होता है। उन्हें जानने में बाहरी पदार्थ रुकावट नहीं डाल सकते। उनकी आत्म-रुचि यथार्थ होती है। उसमें कोई विपर्यास नहीं होता। उनकी लब्धि-आत्मशक्ति भी अबाध होती है। वे पौद्गलिक सुख दुःख की अनुभूति से रहित होती हैं। वे बाह्य पदार्थों को जानती हैं किन्तु शरीर के द्वारा होने वाली उसकी अनुभूति उन्हें नहीं होती। उनमें न जन्म-मृत्यु की पर्याय होती है, न रूप और न गुरु-लघु भाव।

आत्मा की अनुद्‌बुद्ध-दशा में कर्म-वर्गणाएं इन आत्म-शक्तियों को दबाए रहती हैं—इन्हें पूर्ण विकसित नहीं होने देतीं। भव-स्थिति पकने पर कर्म-वर्गणाएं घिसती-घिसती बलहीन हो जाती हैं। तब आत्मा में कुछ सहज बुद्धि जागती है। यहीं से आत्म-विकास का क्रम शुरू होता है। तब से दृष्टि यथार्थ बनती है, सम्यक्त्व प्राप्त होता है। यह आत्म-जागरण का पहिला सोपान है। इसमें आत्मा अपने रूप को 'स्व' और बाह्य वस्तुओं को 'पर' जान ही नहीं लेती किन्तु उसकी सहज श्रद्धा भी वैसी ही बन जाती है। इसीलिए इस दशा वाली आत्मा को अन्तर् आत्मा, सम्यग् दृष्टि या सम्यक्त्वी कहते हैं। इससे पहिले की दशा में वह बहिर् आत्मा मिथ्या दृष्टि या मिथ्यात्वी कहलाती है।

इस जागरण के बाद आत्मा अपनी मुक्ति के लिए आगे बढ़ती है। सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान के सहारे वह सम्यक् चारित्र का बल बढ़ाती है। ज्यों-ज्यों चरित्र का बल बढ़ता है त्यों-त्यों कर्म-वर्गणाओं का आकर्षण कम होता जाता है। सत् प्रवृत्ति या अहिंसात्मक प्रवृत्ति से पहले बन्धी कर्म-वर्गणाएं शिथिल हो जाती हैं। चलते-चलते ऐसी विशुद्धि बढ़ती है कि आत्मा शरीर-दशा में भी निरावरण बन जाती है। ज्ञान, दर्शन, वीतराग-भाव और शक्ति का पूर्ण या बाधा-हीन या बाह्य-वस्तुओं से अप्रभावित विकास हो जाता है। इस दशा में भव या शेष आयुष्य को टिकाए रखने वाली चार वर्गणाएं—भवोपग्राही वर्गणाएं बाकी रहती हैं। जीवन के अन्त में ये भी टूट जाती हैं। आत्मा पूर्ण मुक्त या बाहरी प्रभावों से सर्वथा रहित हो जाती है। बन्धन मुक्त तुम्बा जैसे पानी पर तैरने लग जाता है वैसे ही बन्धन-मुक्त आत्मा लोक के अग्रभाग में अवस्थित हो जाती है। मुक्त आत्मा में वैभाविक परिवर्तन नहीं होता, स्वाभाविक परिवर्तन अवश्य होता है। वह वस्तुमात्र का अवश्यम्भावी धर्म है।

ज्ञान और प्रत्याख्यान

भगवान् ने कहा—पुरुष! तू सत्य की आराधना कर। सत्य की आराधना करने वाला मौत को तर जाता है। जो मौत से परे (अमृत) है वही श्रेयस् है[२१]।

जो नश्वरता की ओर पीठ किये चलता है वह श्रेयोदर्शी (अमृतगामी) है, जो श्रेयोदर्शी है वही नश्वरता की ओर पीठ किये चलता है [३२]।

गौतम ! मैंने दो प्रकार की प्रज्ञाओं का निरूपण किया है—

(१) ज्ञ-प्रज्ञा (२) प्रत्याख्यान-प्रज्ञा।

ज्ञ-प्रज्ञा का विषय समूचा विश्व है। जितने द्रव्य हैं वे सब ज्ञेय हैं।

प्रत्याख्यान—प्रज्ञा का विषय विजातीय-द्रव्य (पुद्गल-द्रव्य) और उसकी संग्राहक प्रवृत्तियां हैं। जीव और अजीव—ये दो मूलभूत तत्त्व हैं। विजातीय द्रव्य के संग्रह की संज्ञा बन्ध है। उसकी विपाक-दशा का नाम पुण्य और पाप है।

विजातीय-द्रव्य की संग्राहक प्रवृत्ति का नाम 'आस्रव' है।

विजातीय-द्रव्य के निरोध की दशा का नाम 'संवर' है।

विजातीय-द्रव्य को क्षीण करने वाली प्रवृत्ति का नाम 'निर्जरा' है।

विजातीय-द्रव्य की पूर्ण—प्रत्याख्यान दशा 'मोक्ष' है।

ज्ञ-प्रज्ञा की दृष्टि से द्रव्य-मात्र सत्य है।

प्रत्याख्यान प्रज्ञा की दृष्टि से मोक्ष और उसके साधन 'संवर' और 'निर्जरा'—ये सत्य हैं।

सत्य के ज्ञान और सत्य के आचरण द्वारा स्वयं सत्य बन जाना यही मेरे दर्शन—जैन-दर्शन या सत्य की उपलब्धि का मर्म है।

मोक्ष-साधना में उपयोगी ज्ञेयों को तत्त्व कहा जाता है। वे यों हैं :—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर निर्जरा, बंध मोक्ष [३३]। उमास्वाति ने उनकी संख्या सात मानी है—पुण्य और पाप का उल्लेख नहीं किया है [३४]। संक्षेप दृष्टि से तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव [३५]। सात या नौ विभाग उन्हीं का विस्तार है। पुण्य और पाप बन्ध के अवांतर भेद हैं। उनकी पृथक् विवक्षा हो तो तत्त्व नौ और यदि उनकी स्वतंत्र विवक्षा न हो तो वे सात होते हैं।

पुण्य से लेकर मोक्ष तक के सात तत्त्व स्वतंत्र नहीं हैं। वे जीव और अजीव के अवस्था-विशेष हैं। पुण्य, पाप और बंध, ये पौद्गलिक हैं—इसलिए अजीव के पर्याय हैं। आस्रव आत्मा की शुभ-अशुभ परिणति भी है और शुभ-

अशुभ कर्म-पुद्गलों का आकर्षक भी है। इसलिए इसे मुख्य-वृत्त्या कई आचार्य जीव-पर्याय मानते हैं, कई अजीव पर्याय। यह विवक्षा-भेद है।

नव तत्त्वों में पहला तत्त्व जीव है और नवां मोक्ष। जीव के दो प्रकार बतलाये गए हैं—(१) संसारी बद्ध और (२) मुक्त[११]। यहाँ बद्ध-जीव (पहला) और मुक्त जीव नौवाँ तत्त्व है। अजीव जीव प्रतिपक्ष है। वह बद्ध-मुक्त नहीं होता। पर जीव का बन्धन पौद्गलिक होता है। इसलिए साधना के क्रम में अजीव की जानकारी भी आवश्यक है। बन्धन-मुक्ति की जिज्ञासा उत्पन्न होने पर जीव साधक बनता है और साध्य होता है मोक्ष। शेष सारे तत्त्व साधक या बाधक बनते हैं। पुण्य, पाप और बंध मोक्ष के बाधक हैं। आस्रव को अपेक्षा-भेद से बाधक और साधक दोनों माना जाता है। शुभ-योग को कभी आस्रव कहें तो उसे मोक्ष का साधक भी कह सकते हैं। किन्तु आस्रव का कर्म-संग्राहक रूप मोक्ष का बाधक ही है। संवर और निर्जरा—ये दो मोक्ष के साधक हैं।

बाधक तत्त्व—(आस्रव) पाँच हैं—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय (५) योग।

जीव में विकार पैदा करने वाले परमाणु मोह कहलाते हैं। दृष्टि-विकार उत्पन्न करने वाले परमाणु दर्शन-मोह हैं।

उनके तीन पुञ्ज हैं :—

(१) मादक (२) अर्ध-मादक (३) अमादक।

मादक पुञ्ज के उदय काल में विपरीत-दृष्टि, अर्ध-मादक पुञ्ज के उदयकाल में सन्दिग्ध-दृष्टि, अमादक पुञ्ज के उदयकाल में प्रतिपाति-क्षायोपशमिक-सम्यक् दृष्टि, तीनों पुञ्जों के पूर्ण उपशमन—काल में प्रतिपाति औपशमिक-सम्यक् दृष्टि, तीनों पुञ्जों के पूर्ण वियोग-काल में अप्रतिपाति क्षायिक सम्यक् दृष्टि होती है।

चारित्र-विकार उत्पन्न करने वाले परमाणु चारित्र-मोह कहलाते हैं। उनके दो विभाग हैं।

(१) कषाय (२) नो कषाय कषाय को उत्तेजित करने वाले परमाणु।

कषाय के चार वर्ग हैं :—

अनन्तानुबन्धी-क्रोध जैसे पत्थर की रेखा (स्थिरतम)।

अनन्तानुबन्धी-मान जैसे पत्थर का खम्भा (दृढ़तम)।

अनन्तानुबन्धी-माया जैसे बांस की जड़ (वक्रतम)।

अनन्तानुबन्धी-लोभ जैसे कृमि-रेशम का (गाढ़तम)।

इनका प्रभुत्व दर्शन-मोह के परमाणुओं के साथ जुड़ा हुआ है। इनके उदयकाल में सम्यक्-दृष्टि प्राप्त नहीं होती। यह मिथ्यात्व आस्रव की भूमिका है। यह सम्यक् दृष्टि की बाधक है। इसके अधिकारी मिथ्या दृष्टि और सन्दिग्ध-दृष्टि है। यहाँ देह से भिन्न आत्मा की प्रतीति नहीं होती। इसे पार करने वाला सम्यक् दृष्टि होता है।

अप्रत्याख्यान-क्रोध—जैसे मिट्टी की रेखा (स्थिरतर)।

अप्रत्याख्यान-मान—जैसे हाड़ का खम्भा (दृढ़तर)।

अप्रत्याख्यान-माया—जैसे मेढ़े का सींग (वक्रतर)।

अप्रत्याख्यान-लोभ— जैसे कीचड़ का रंग (गाढ़तर)

इनके उदय-काल में चारित्र को विकृत करने वाले परमाणुओं का प्रवेश-निरोध (संवर) नहीं होता, यह अव्रत-आस्रव की भूमिका है। यह अणुव्रती जीवन की बाधक है। इसके अधिकारी सम्यक् दृष्टि हैं। यहाँ देह से भिन्न आत्मा की प्रतीति होती है। इसे पार करने वाला अणुव्रती होता है।

प्रत्याख्यान क्रोध—जैसे धूलि-रेखा (स्थिर)

प्रत्याख्यान मान—जैसे काठ का खम्भा (दृढ़)

प्रत्याख्यान माया—जैसे चलते बैल की मूत्रधारा (वक्र)

प्रत्याख्यान लोभ—जैसे खञ्जन का रंग (गाढ़)

इनके उदयकाल में चारित्र-विकारक परमाणुओं का पूर्णतः निरोध (संवर) नहीं होता। यह अपूर्ण-अव्रत-आस्रव की भूमिका है। यह महाव्रती जीवन की बाधक है। इसके अधिकारी अणुव्रती होते हैं। यहाँ आत्म-रमण की वृत्ति का आरम्भिक अभ्यास होने लगता है। इसे पार करने वाले महाव्रती बनते हैं।

संज्वलन क्रोध—जैसे जल-रेखा (अस्थिर—तात्कालिक)

संज्वलन मान—जैसे लता का खम्भा (लचीला)।

संज्वलन माया—जैसे छिलते बांस की छाल (स्वल्पतम वक्र)

संज्वलन लोभ—जैसे हल्दी का रंग (तत्काल उड़ने वाला रंग)

इनके उदयकाल में चारित्र—विकारक परमाणुओं का अस्तित्व निर्मूल नहीं होता। यह प्रारम्भ में प्रमाद और बाद में कषाय-आस्रव की भूमिका है। यह वीतराग-चारित्र की बाधक है। इसके अधिकारी सराग-संयमी होते हैं।

योगआस्रव शैलेशी दशा (असंप्रज्ञात समाधि) का बाधक है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से पाप कर्म का बन्ध होता है। आस्रव के प्रथम चार रूप आन्तरिक दोष हैं। उनके द्वारा पाप कर्म का सतत बन्ध होता है। योग आस्रव प्रवृत्यात्मक है। वह अशुभ और शुभ दोनों प्रकार का होता है। ये दोनों प्रवृत्तियां एक साथ नहीं होतीं। शुभ-प्रवृत्ति से शुभ कर्म और अशुभ प्रवृत्ति से अशुभ कर्म का बन्ध होता है।

आस्रव के द्वारा शुभ-अशुभ कर्म का बन्ध उसका पुण्य-पाप के रूप में उदय, उदय से फिर आस्रव, उससे फिर बन्ध और उदय—यह संसार चक्र है।

साधक तत्त्व—संवर

जितने आस्रव हैं उतने ही संवर हैं। आस्रव के पाँच विभाग किये हैं, इसलिए संवर के भी पाँच विभाग किये हैं :—

(१) सम्यक्त्व (२) विरति (३) अप्रमाद (४) अकषाय (५) अयोग।

चतुर्थगुणस्थानी अविरत सम्यग् दृष्टि के मिथ्यात्व आस्रव नहीं होता। षष्ठगुणस्थानी-प्रमत्त संयति के अविरति आस्रव नहीं होता। सप्तमगुणस्थानी अप्रमत्त संयति के प्रमाद आस्रव नहीं होता। वीतराग के कषाय आस्रव नहीं होता। यह अनास्रव (सर्व-संवर) की दशा है। इसी में शेष सब कर्मों की निर्जरा होती है। सब कर्मों की निर्जरा ही मोक्ष है।

निर्जरा

निर्जरा का अर्थ है कर्म-क्षय और उससे होने वाली आत्म-स्वरूप की उपलब्धि। निर्जरा का हेतु तप है। तप के बारह प्रकार हैं [३७]। इसलिए निर्जरा के बारह प्रकार होते हैं। जैसे संवर आस्रव का प्रतिपक्ष है वैसे ही निर्जरा बंध का प्रतिपक्ष है। आस्रव का संवर और बन्ध की निर्जरा होती है। उससे

आत्मा का परिमित स्वरूपोदय होता है। पूर्ण संवर और पूर्ण निर्जरा होते ही आत्मा का पूर्णोदय हो जाता है—मोक्ष हो जाता है।

गूढ़वाद

आत्मा की तीन अवस्थाएं होती हैं :—

(१) बहिर्-आत्मा (२) अन्तर्-आत्मा (३) परम-आत्मा।

जिसे अपने आप का भान नहीं, वही बाहिर्-आत्मा है। अपने स्वरूप को पहचानने वाला अन्तर्-आत्मा है। जिसका स्वरूप अनावृत हो गया, वह परमात्मा है। आत्मा परमात्मा बने, शुद्ध रूप प्रगट हो, उसके लिए जिस पद्धति का अवलम्बन लिया जाता है, वही 'गूढ़वाद' है।

परमात्म-रूप का साक्षात्कार मन की निर्विकार-स्थिति से होता है, इस लिए वही गूढ़वाद है। मन के निर्विकार होने की प्रक्रिया स्पष्ट नहीं, सरल नहीं। सहजतया उसका ज्ञान होना कठिन है। ज्ञान होने पर भी श्रद्धा होना कठिन है। श्रद्धा होने पर भी उसका क्रियात्मक व्यवहार कठिन है। इसी लिए आत्म-शोधन की प्रणाली 'गूढ़' कहलाती है।

आत्म-विकास के पाँच सूत्र हैं—

पहला सूत्र है—अपनी पूर्णता और स्वतंत्रता का अनुभव—मैं पूर्ण हूँ, स्वतंत्र हूँ, जो परमात्मा है, वह मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है[३८]।

दूसरा सूत्र है—चेतन-पुद्‌गल विवेक—मैं भिन्न हूँ, शरीर भिन्न है, मैं चेतन हूँ, वह अचेतन है[३९]।

तीसरा सूत्र है—आनन्द बाहर से नहीं आता। मैं आनन्द का अक्षयकोष हूँ। पुद्‌गल-पदार्थ के संयोग से जो सुखानुभूति होती है, वह अतात्त्विक है। मौलिक आनन्द को वह व्यामोह उत्पन्न करती है।

चौथा सूत्र है—पुद्‌गल-विरक्ति या संसार के प्रति उदासीनता। पुद्‌गल से पुद्‌गल को तृप्ति मिलती है, मुझे नहीं। पर तृप्ति में स्व का जो आरोप है, वह उचित नहीं[४०]।

जो पुद्‌गल-वियोग आत्मा के लिए उपकारी है, वह देह के लिए अपकारी है और जो पुद्‌गल-संयोग देह के लिए उपकारी है, वह आत्मा के लिए अपकारी है[४१]।

पांचवाँ सूत्र है—ध्येय और ध्याता का एकत्व ध्येय परमात्मपद है। वह मुझ से भिन्न नहीं है। ध्यान आदि की समग्र साधना होने पर मेरा ध्येय रूप प्रगट हो जाएगा।

गूढ़वाद के द्वारा साधक को अनेक प्रकार की आध्यात्मिक शक्तियां और योगजन्य विभूतियां प्राप्त होती हैं।

अध्यात्म-शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही पूर्ण सत्य को साक्षात् जान लेता है।

थोड़े में गूढ़वाद का मर्म आत्मा, जो रहस्यमय पदार्थ है, की शोध है। उसे पा लेने के बाद फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता, गूढ़ नहीं रहता।

अक्रियावाद

दर्शन के इतिहास में वह दिन अति महत्वपूर्ण था, जिस दिन अक्रियावाद का सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ। आत्मा की खोज भी उसी दिन पूर्ण हुई, जिस दिन मननशील मनुष्य ने अक्रियावाद का मर्म समझा।

मोक्ष का स्वरूप भी उसी दिन निश्चित हुआ, जब दार्शनिक जगत् ने 'अक्रियावाद' को निकट से देखा।

गौतम स्वामी ने पूछा—"भगवन्! जीव सक्रिय हैं या अक्रिय?"

भगवान् ने कहा—गौतम! "जीव सक्रिय भी हैं और अक्रिय भी। जीव दो प्रकार के हैं—(१) मुक्त और (२) संसारी। मुक्त जीव अक्रिय होते हैं। अयोगी (शैलेशी-अवस्था-प्रतिपन्न) जीवों को छोड़ शेष सब संसारी जीव सक्रिय होते हैं।

शरीर-धारी के लिए क्रिया सहज है, ऐसा माना जाता था। पर 'आत्मा का सहज रूप अक्रियामय है'। इस संवित् का उदय होते ही 'क्रिया आत्मा का विभाव है'—यह निश्चय हो गया। क्रिया वीर्य से पैदा होती है। योग्यतात्मक वीर्य मुक्त जीवों में भी होता है। किन्तु शरीर के बिना वह प्रस्फुटित नहीं होता। इसलिए वह लब्धि-वीर्य ही कहलाता है। शरीर के सहयोग से लब्धि-वीर्य (योगात्मक-वीर्य) क्रियात्मक बन जाता है। इसलिए उसे 'करण-वीर्य' की संज्ञा दी गई। वह शरीरधारी के ही होता है[४२]।

आत्मवादी का परम या चरम साध्य मोक्ष है। मोक्ष का मतलब है

शरीर-मुक्ति, बन्धन,-मुक्ति, क्रिया-मुक्ति। क्रिया से बन्धन, बन्धन से शरीर और शरीर से संसार—यह परम्परा है। मुक्त जीव अशरीर, अबन्ध और अक्रिय होते हैं। अक्रियावाद की स्थापना के बाद क्रियावाद के अन्वेषण की प्रवृत्ति बढ़ी। क्रियावाद की खोज में से 'अहिंसा' का चरम विकास हुआ।

अक्रियावाद की स्थापना से पहले अक्रिया का अर्थ था विश्राम या कार्य-निवृत्ति। थका हुआ व्यक्ति थकान मिटाने के लिए नहीं सोचता, नहीं बोलता और गमनागमनादि नहीं करता उसीका नाम था 'अक्रिया'। किन्तु चित्तवृत्ति निरोध, मौन और कायोत्सर्ग—एतद्रूप अक्रिया किसी महत्त्वपूर्ण साध्य की सिद्धि के लिए है—यह अनुभवगम्य नहीं हुआ था।

'कर्म से कर्म का क्षय नहीं होता, अकर्म से कर्म का क्षय होता है[४३]। ज्यों ही यह कर्म-निवृत्ति का घोष प्रबल हुआ, त्यों ही व्यवहार-मार्ग का द्वन्द्व छिड़ गया। कर्म जीवन के इस छोर से उस छोर तक लगा रहता है। उसे करने वाले मुक्त नहीं बनते। उसे नहीं करने वाले जीवन-धारण भी नहीं कर सकते, समाज और राष्ट्र के धारण की बात तो दूर रही।

इस विचार-संघर्ष से कर्म (प्रवृत्ति) शोधन की दृष्टि मिली। अक्रियात्मक साध्य (मोक्ष) अक्रिया के द्वारा ही प्राप्य है। आत्मा का अभियान अक्रिया की ओर होता है, तब साध्य दूर नहीं रहता। इस अभियान में कर्म रहता है पर वह अक्रिया से परिष्कृत बना हुआ रहता है। प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म[४४]। प्रमत्त का कर्म बाल-वीर्य होता है और अप्रमत्त का कर्म पंडित-वीर्य होता है। पंडित-वीर्य असत् क्रिया रहित होता है, इसलिए वह प्रवृत्ति रूप होते हुए भी निवृत्ति रूप अकर्म है—मोक्ष का साधन है।

"शस्त्र-शिक्षा, जीव-वध, माया, काम-भोग, असंयम, वैर, राग और द्वेष—ये सकर्म-वीर्य हैं। बाल व्यक्ति इनसे घिरा रहता है[४५]।"

"पाप का प्रत्याख्यान, इन्द्रिय-संगोपन, शरीर-संयम, वाणी-संयम, मान-माया परिहार, ऋद्धि, रस और सुख के गौरव का त्याग, उपशम, अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, ध्यान-योग और काय-व्युत्सर्ग—ये अकर्म-वीर्य हैं। पंडित इनके द्वारा मोक्ष का परिव्राजक बनता है[४६]।"

साधना के पहले चरण में ही सारी क्रियाओं का त्याग शक्य नहीं है। मुमुक्षु भी साधना की पूर्व भूमिकाओं में क्रिया-प्रवृत्त रहता है। किन्तु उसका लक्ष्य अक्रिया ही होता है, इसलिए वह कुछ भी न बोले, अगर बोलना आवश्यक हो तो वह भाषा-समिति (दोष-रहित पद्धति) से बोले [४७]। वह चिन्तन न करे, अगर उसके बिना न रह सके तो आत्महित की बात ही सोचे—धर्म और शुक्ल ध्यान ही ध्याए। वह कुछ भी न करे, अगर किये बिना न रह सके तो वही करे जो साध्य से दूर न ले जाए। यह क्रिया-शोधन का प्रकरण है। इस चिन्तन ने संयम, चरित्र, प्रत्याख्यान आदि साधनों को जन्म दिया और उनका विकास किया।

प्रत्याख्यातव्य (त्यक्तव्य) क्या है ? इस अन्वेषण का नवनीत रहा—'क्रियावाद'। उसकी रूप रेखा यूं है—क्रिया का अर्थ है कर्मबन्ध[४८]—कारक कार्य अथवा अप्रत्याख्यानजन्य (प्रत्याख्यान नहीं किया हुआ है उस सूक्ष्म वृत्ति से होने वाला) कर्मबन्ध [४९]। वे क्रियाएं पांच हैं—(१) कायिकी (२) आधिकरणिकी (३) प्राद्वेषिकी (४) पारितापनिकी (५) प्राणातिपातिकी [५०]।

(१) कायिकी (शरीर से होने वाली क्रिया) दो प्रकार की है—(क) अनुपरता (ख) दुष्प्रयुक्ता [५१]।

शरीर की दुष्प्रवृत्ति सतत नहीं होती। निरन्तर जीवों को मारने वाला वधक शायद ही मिले। निरन्तर असत्य बोलने वाला और बुरा मन बर्ताने वाला भी नहीं मिलेगा किन्तु उनकी अनुपरति (अनिवृत्ति) नैरंतरिक होती है। दुष्प्रयोग अव्यक्त अनुपरति का ही व्यक्त परिणाम है। अनुपरति जागरण और निद्रा दोनों दशाओं में समान रूप होती है। इसे समझे बिना आत्म-साधना का लक्ष्य दूरवर्ती रहता है। इसी को लक्ष्य कर भगवान् महावीर ने कहा है—'अविरत जागता हुआ भी सोता है। विरत सोता हुआ भी जागता है [५२]।

मनुष्य शारीरिक और मानसिक व्यथा से सार्वदिक मुक्ति पाने चला, तब उसे पहले पहल दुष्प्रवृत्ति छोड़ने की बात सूझी। आगे जाने की बात संभवतः उसने नहीं सोची। किन्तु अन्वेषण की गति अबाध होती है। शोध करते-करते उसने जाना कि व्यथा का मूल दुष्प्रवृत्ति नहीं किन्तु उसकी अनु-

परति (अनिवृत्ति या अविरति) है। ज्ञान का क्रम आगे बढ़ा। व्यथा का मूल कारण क्रिया समूह जान लिया गया।

(२) आधिकरणिकी—यह अधिकरण-शस्त्र के योग से होने वाली प्रवृत्ति है। इसके दो रूप हैं—(१) शस्त्र-निर्माण (२) शस्त्र-संयोग। शस्त्र का अर्थ केवल आयुध ही नहीं है। जीव-बध का जो साधन है, वही शस्त्र है।

(३) प्राद्वेषकी :—प्रद्वेष जीव और अजीव दोनों पर हो सकता है। इस लिए इसके दो रूप बनते हैं—(१) जीव-प्राद्वेषिकी (२) अजीव-प्राद्वेषिकी।

(४) परिताप (असुख की उदीरणा) स्वयं देना और दूसरों से दिलाना-'पारितापनिकी' है।

(५) प्राण का अतिपात (वियोग) स्वयं करना और दूसरों से करवाना 'प्राणातिपातिकी' है।

इस प्रकरण में एक महत्त्वपूर्ण गवेषणा हुई—वह है प्राणातिपात से हिंसा के पार्थक्य का ज्ञान। परितापन और प्राणातिपात—ये दोनों जीव से संबंधित हैं। हिंसा का संबंध जीव और अजीव दोनों से है। यही कारण है कि जैसे प्राद्वेषिकी का जीव और अजीव दोनों के साथ संबंध दरसाया है, वैसे इनका नहीं। द्वेष अजीव के प्रति भी हो सकता है किन्तु अजीव के परिताप और प्राणातिपात ये नहीं किये जा सकते। प्राणातिपात का विषय छह जीव-निकाय है[५३]।

प्राणातिपात हिंसा है किन्तु हिंसा उसके अतिरिक्त भी है। असत्य वचन, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह भी हिंसा है। इन सब में प्राणातिपात का नियम नहीं है। विषय मीमांसा के अनुसार-मृषावाद का विषय सब द्रव्य है[५४]। अदत्तादान का विषय ग्रहण और धारण करने योग्य द्रव्य है[५५]। आदान ग्रहण (धारण) योग्य वस्तु का ही हो सकता है, शेष का नहीं। ब्रह्मचर्य का विषय-रूप और रूप के सहकारी द्रव्य है[५६]। परिग्रह का विषय-'सब द्रव्य' है[५७]। परिग्रह का अर्थ है मूर्छा या ममत्व। वह अति लोभ के कारण सर्व-वस्तु विषयक हो सकता है।

ये पांच आस्रव हैं। इनके परित्याग का अर्थ है 'अहिंसा'। वह महाव्रत है। (१) प्राणातिपात-विरमण (२) मृषावाद-विरमण (३) अदत्तादान-विरमण

(४) अब्रह्मचर्य-विरमण (५) परिग्रह-विरमण—ये पाँच संवर हैं। आस्रव क्रिया है। वह 'संसार' (जन्म-मरण-परम्परा) का कारण है। संवर अक्रिया है। वह मोक्ष का कारण है [५८]।

सारांश यह है—क्रिया से निवृत्त होना, अक्रिया की ओर बढ़ना ही मोक्षाभिमुखता है। इसलिए भगवान् महावीर ने कहा है—'वीर पुरुष अहिंसा के राजपथ पर चल पड़े हैं [५९]। यह प्राणातिपात-विरमण से अधिक व्यापक है।

(१) आरम्भिकी की क्रिया-जीव और अजीव दोनों के प्रति होने वाली हिंसक प्रवृत्ति [६०]।

(२) प्रातीत्यिकी क्रिया-जीव और अजीव दोनों के हेतु से उत्पन्न होने वाली रागात्मक और द्वेषात्मक प्रवृत्ति [६१]।

यह हिंसा का स्वरूप है, जो अजीव से भी संबंधित है। अजीव के प्राण नहीं होते, इसलिए प्राणातिपात क्रिया जीव-निमितक होती है। हिंसा अजीव निमित्तक भी हो सकती है। हिंसा का अभाव 'अहिंसा' है। इस प्रकार अहिंसा जीव और अजीव दोनों से संबंधित है। अतएव वह समता है। वह वस्तु-स्वभाव को मिटा साम्य नहीं लाती, उससे सहज वैषम्य का अन्त भी नहीं होता किन्तु जीव और अजीव के प्रति वैषम्य वृत्ति न रहे, वह साम्य-योग है। जो कोई व्यक्ति स्वार्थ या परार्थ (अपने लिए या दूसरों के लिए) सार्थक या अनर्थक (किसी अर्थ-सिद्धि के लिए या निरर्थक) जानबूझकर या अनजान में, जागता हुआ या सोता हुआ, क्रिया-परिणत होता है या क्रिया से निवृत्त नहीं होता, वह कर्म से लिप्त होता है। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए—(१) सामन्तोपनिपातिकी (२) अर्थ दण्ड-अनर्थ दण्ड (३) अनाभोग-प्रत्यया आदि अनेक क्रियाओं का निरूपण हुआ [६२]।

जैन दर्शन में क्रियावाद आस्तिक्यवाद के अर्थ में और अक्रियावाद नास्तिक्यवाद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है [६३]। वह इससे भिन्न है। यह सारी चर्चा प्रवृत्ति और निवृत्ति को लिए हुए है। 'प्रवृत्ति से प्रत्यावर्तन और निवृत्ति से निर्वर्तन होता है' यह तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में प्रायः सभी मोक्षवादी

दर्शनों द्वारा स्वीकृत हुआ है। परन्तु जैन दर्शन में इनका जितना विस्तार है, उतना अन्यत्र प्राप्य नहीं है।

क्रिया का परित्याग (या अक्रिया का विकास) क्रमिक होता है। पहले क्रिया निवृत्त होती है फिर अप्रत्याख्यान, पारिग्रहिकी, आरम्भिकी और माया-प्रत्यया—ये निवृत होती हैं[१४]। ईर्यापथिकी निवृत होती है, तब अक्रिया पूर्ण विकसित होती जाती है। जो कोई सिद्ध या मुक्त होता है, वह अक्रिय ही होता है[१५]। इसलिए सिद्धिक्रम में 'अक्रिया का फल सिद्धि' ऐसा कहा गया है[१६]। संसार का क्रम इसके विपरीत है। पहले क्रिया, क्रिया से कर्म और कर्म से वेदना[१७]।

कर्म-रज से विमुक्त आत्मा ही मुक्त होता है[१८]। सूक्ष्म कर्मांश के रहते हुए मोक्ष नहीं होता[१९]। इसीलिए अध्यात्मवाद के क्षेत्र में क्रमशः व्रत (असत् कर्म की निवृति), सत्कर्म फलाशात्याग, सत्कर्म त्याग, सत्कर्म निदान शोधन और सर्व कर्म परित्याग का विकास हुआ। यह 'सर्वकर्म परित्याग' ही अक्रिया है। यही मोक्ष या विजातीय द्रव्य-प्रेरणा-मुक्त आत्मा का पूर्ण विकास है। इस दशा का निरूपक सिद्धान्त ही 'अक्रियावाद' है।

निर्वाण—मोक्ष

गौतम···मुक्त जीव कहाँ रुकते हैं ? वे कहाँ प्रतिष्ठित हैं ? वे शरीर कहाँ छोड़ते हैं ? और सिद्ध कहाँ होते हैं ?

भगवान्···मुक्त-जीव अलोक से प्रतिहत हैं, लोकांत में प्रतिष्ठित हैं, मनुष्य-लोक में शरीरमुक्त होते हैं और सिद्धि-क्षेत्र में वे सिद्ध हुए हैं[२०]।

निर्वाण कोई क्षेत्र का नाम नहीं, मुक्त आत्माएं ही निर्वाण हैं। वे लोकाग्र में रहती हैं, इसलिए उपचार-दृष्टि से उसे भी निर्वाण कहा जाता है।

कर्म-परमाणुओं से प्रभावित आत्मा संसार में भ्रमण करती हैं। भ्रमण-काल में ऊर्ध्वगति से अधोगति और अधोगति से ऊर्ध्वगति होती है। उसका नियमन कोई दूसरा व्यक्ति नहीं करता। यह सब स्व-नियमन से होता है। अधोगति का हेतु कर्म की गुरुता और ऊर्ध्वगति का हेतु कर्म की लघुता है[२१]।

कर्म का बन्धन मिटते ही आत्मा सहज गति से ऊर्ध्व लोकान्त तक चली

जाती है। जब तक कर्म का घनत्व होता है, तब तक लोक का घनत्व उस पर दबाव डालता है। ज्योंही कर्म का घनत्व मिटता है, आत्मा हलकी होती है, फिर लोक का घनत्व उसकी ऊर्ध्व-गति में बाधक नहीं बनता। गुब्बारे में हाइड्रोजन (Hydrogen) भरने पर वायु मण्डल के घनत्व से उसका घनत्व कम हो जाता है, इसलिए वह ऊँचा चला जाता है। यही बात यहाँ समझिए। गति का नियमन धर्मास्तिकाय—सापेक्ष है [७२]। उसकी समाप्ति के साथ ही गति समाप्त हो जाती है। वे मुक्तजीव लोक के अन्तिम छोर तक चले जाते हैं।

मुक्तजीव अशरीर होते हैं। गति शरीर-सापेक्ष है, इसलिए वे गतिशील नहीं होने चाहिए। बात सही है। उनमें कम्पन नहीं होता। अकम्पित-दशा में जीव की मुक्ति होती है [७३]। और वे सदा उसी स्थिति में रहते हैं। सही अर्थ में वह उनकी स्वयं-प्रयुक्त गति नहीं, बन्धन-मुक्ति का वेग है। जिसका एक ही धक्का एक क्षण में उन्हें लोकान्त तक ले जाता है [७४]। मुक्ति-दशा में आत्मा का किसी दूसरी शक्ति में विलय नहीं होता। वह किसी दूसरी सत्ता का अवयव या विभिन्न अवयवों का संघात नहीं, वह स्वयं स्वतन्त्र सत्ता है। उसके प्रत्येक अवयव परस्पर अनुविद्ध हैं। इसलिए वह स्वयं अखण्ड है। उसका सहज रूप प्रगट होता है—यही मुक्ति है। मुक्त जीवों की विकास की स्थिति में भेद नहीं होता। किन्तु उनकी सत्ता स्वतन्त्र होती है। सत्ता का स्वातन्त्र्य मोक्ष की स्थिति का बाधक नहीं है। अविकास या स्वरूपावरण उपाधि-जन्य होता है, इसलिए कर्म-उपाधि मिटते ही वह मिट जाता है—सब मुक्त आत्माओं का विकास और स्वरूप सम-कोटिक हो जाता है। आत्मा की जो पृथक-पृथक स्वतन्त्र सत्ता है वह उपाधिकृत नहीं है, वह सहज है, इसलिए किसी भी स्थिति में उनकी स्वतन्त्रता पर कोई आंच नहीं आती। आत्मा अपने आप में पूर्ण अवयवी है, इसलिए उसे दूसरों पर आश्रित रहने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

मुक्त-दशा में आत्मा समस्त वैभाविक-आधेयों, औपाधिक विशेषताओं से विरहित हो जाती है। मुक्त होने पर पुनरावर्तन नहीं होता। उस (पुनरावर्तन) का हेतु कर्म-चक्र है। उसके रहते हुए मुक्ति नहीं होती। कर्म का निर्मूल

नाश होने पर फिर उसका बन्ध नहीं होता। कर्म का लेप सकर्म के होता है। अकर्म कर्म से लिप्त नहीं होता।

ईश्वर

जैन ईश्वर वादी नहीं—बहुतों की ऐसी धारणा है। बात ऐसी नहीं है। जैन दर्शन ईश्वरवादी अवश्य है, ईश्वरकर्तृत्ववादी नहीं। ईश्वर का अस्वीकार अपने पूर्ण-विकास-चरम लक्ष्य (मोक्ष) का अस्वीकार है। मोक्ष का अस्वीकार अपनी पवित्रता (धर्म) का अस्वीकार है। अपनी पवित्रता का अस्वीकार अपने आप (आत्मा) का अस्वीकार है। आत्मा साधक है। धर्म साधन है। ईश्वर साध्य है। प्रत्येक मुक्त आत्मा ईश्वर है। मुक्त आत्माएँ अनन्त हैं, इसलिए ईश्वर अनन्त हैं।

एक ईश्वर कर्त्ता और महान्, दूसरी मुक्तात्माएँ अकर्त्ता और इसलिए अमहान् की वे उस महान् ईश्वर में लीन हो जाती हैं—यह स्वरूप और कार्य की भिन्नता निरुपाधिक दशा में हो नहीं सकती। मुक्त आत्माओं की स्वतन्त्र सत्ता को इसलिए अस्वीकार करने वाले कि स्वतन्त्र सत्ता मानने पर मोक्ष में भी भेद रह जाता है, एक निरुपाधिक सत्ता को अपने में विलीन करने वाली और दूसरी निरुपाधिक सत्ता को उसमें विलीन होने वाली मानते हैं—क्या यह निर्-हेतुक भेद नहीं? मुक्त दशा में समान विकास-शील प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का स्वीकार वस्तु-स्थिति का स्वीकार है।

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त आनन्द—यह मुक्त आत्मा का स्वरूप या ऐश्वर्य है। यह सबमें समान होता है।

आत्मा सोपाधिक (शरीर और कर्म की उपाधि सहित) होती है, तब उसमें पर भाव का कर्तृत्व होता है। मुक्त-दशा निरुपाधिक है। उसमें केवल स्वभाव-रमण होता है, पर-भाव-कर्तृत्व नहीं। इसलिए ईश्वर में कर्तृत्व का आरोप करना उचित नहीं।

व्यक्तिवाद और समष्टिवाद

प्रत्येक व्यक्ति जीवन के आरम्भ में अवादी होता है। किन्तु आलोचना के क्षेत्र में वह आता है त्योंही वाद उसके पीछे लग जाते हैं। वास्तव में वह वही है, जो शक्तियां उसका अस्तित्व बनाए हुए हैं। किन्तु देश, काल और

परिस्थिति की मर्यादाएँ, वह जो है उससे भी उसे और अधिक बना देती हैं। इसीलिए पारमार्थिक जगत् में जो व्यक्तिवादी होता है, वह व्यावहारिक जगत् में समष्टिवादी बन जाता है।

निश्चय-दृष्टि के अनुसार समूह आरोपवाद या कल्पनावाद है। ज्ञान वैयक्तिक होता है। अनुभूति वैयक्तिक होती है। संज्ञा और प्रज्ञा वैयक्तिक होती है। जन्म-मृत्यु वैयक्तिक है। एक का किया हुआ कर्म दूसरा नहीं भोगता। सुख-दुःख का संवेदन भी वैयक्तिक है [७५]।

सामूहिक अनुभूतियाँ कल्पित होती हैं। वे सहजतया जीवन में उतर नहीं आती। जिस समूह-परिवार, समाज या राष्ट्र से सम्बन्धों की कल्पना जुड़ जाती हैं, उसी की स्थिति का मन पर प्रभाव होता है। यह मान्यता मात्र है। उनकी स्थिति ज्ञात होती है, तब मन उससे प्रभावित होता है। अज्ञात दशा में उनपर कुछ भी बीते मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शत्रु जैसे मान्यता की वस्तु है, वैसे मित्र भी। शत्रु की हानि से प्रमोद और मित्र की हानि से दुःख, शत्रु के लाभ से दुःख और मित्र के लाभ से प्रमोद जो होता है, वह मान्यता से आगे कुछ भी नहीं है। व्यक्ति स्वयं अपना शत्रु है और स्वयं अपना मित्र [७६]।

निश्चय-दृष्टि उपादान प्रधान है। उसमें पदार्थ के शुद्ध रूप का ही प्ररूपण होता है। व्यवहार की दृष्टि स्थूल है। इसलिए वह पदार्थ के सभी पहलुओं को छूता है। निमित्त को भी पदार्थ से अभिन्न मान लेता है। समूह गत एकता का यही बीज है। इसके अनुसार क्रिया-प्रतिक्रिया सामाजिक होती है। समाज से अलग रहकर कोई व्यक्ति जी नहीं सकता। समाज के प्रति जो व्यक्ति अनुत्तरदायी होता है, वह अपने कर्त्तव्यों को नहीं निभा सकता। इसमें परिवार, समाज और राष्ट्र के साथ जुड़ने की, संवेदनशीलता की बात होती है।

जैन-दर्शन का मर्म नहीं जानने वाले इसे नितान्त व्यक्तिवादी बताते हैं। पर यह सर्वथा सच नहीं है। वह अध्यात्म के क्षेत्र में व्यक्ति के व्यक्तिवादी होने का समर्थन करता है किन्तु व्यवहारिक क्षेत्र में समष्टिवाद की मर्यादाओं का निषेध नहीं करता। निश्चय-दृष्टि से वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व को आत्म-

निष्ठ ही स्वीकार करता है, इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने बाह्य साधना-शील आत्मा को पर-समयरत कहा है [७७]।

औपचारिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व को परनिष्ठ मानने के लिए वह अनुदार भी नहीं है। इसीलिए—'सिद्ध मुझे सिद्धि दें'—ऐसी प्रार्थनाएँ की जाती हैं [७८]।

प्राणीमात्र के प्रति, केवल मानव के प्रति ही नहीं, आत्म-तुल्य दृष्टि और किसी को भी कष्ट न देने की वृत्ति आध्यात्मिक संवेदनशीलता और सौभ्रात्र है। इसी में से प्राणी की असीमता का विकास होता है।

अट्ठाईस

२९३-३०६

सम्यक् चारित्र

उत्क्रान्ति क्रम

आरोह क्रम

साधना का विघ्न

गुणस्थान

देश विरति

सर्व विरति

व्रत विकास

अप्रमाद

श्रेणी-आरोह और अकषाय या वीतराग भाव

केवली या सर्वज्ञ

अयोग-दशा और मोक्ष

अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे उत्तम धम्मसुई हु दुल्लहा ।
कुतित्थिनिसेवए जणे समयं गोयम मापमायए ॥

—उत्त० १०-१८

सुइं च लद्धुं सद्धं च वीरियंपुण दुल्लहं ।
बहवे रोयमाणावि नो 'य णं पडिवज्जए ॥
माणु सत्तंमि आयाओ जो धम्मं सोच्च सद्द हे ।
तवस्सी वीरयं लद्धुं संवुडे निद्धुणे रयं ॥

—उत्त० ३।१०-११

(१) उत्क्रान्ति-क्रम :—

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति आत्म-ज्ञान से शुरू होकर आत्म-मुक्ति (निर्वाण) में परिसमाप्त होती है । उसका क्रम इस प्रकार है[1]—

(१) श्रवण
(२) जीव-अजीव का ज्ञान
(३) गति-ज्ञान (संसार-भ्रमण का ज्ञान)
(४) बन्ध और बन्ध मुक्ति का ज्ञान
(५) भोग-निर्वेद
(६) संयोग-त्याग
(७) अनगारित्व (साधुपन)
(८) उत्कृष्ट संवर-धर्म स्पर्श (लगने वाले कर्मों का निरोध)
(९) कर्म-रज-धूनन (अबोधिवश पहले किये हुए कर्मों का निर्जरण)
(१०) केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन (सर्वज्ञता)
(११) लोक-अलोक-ज्ञान
(१२) शैलेशी-प्रतिपत्ति (अयोग-दशा, पूर्ण निरोधात्मक समाधि)
(१३) सम्पूर्ण-कर्म-क्षय
(१४) सिद्धि

(१५) लोकान्तगमन

(१६) शाश्वत-स्थिति

धर्म का यथार्थ श्रवण पाए बिना कल्याणकारी और पापकारी कर्म का ज्ञान नहीं होता। इसलिए सबसे पहले 'श्रुति' है। उससे आत्म और अनात्म तत्त्व की प्रतीति होती है। इनकी प्रतीति होने पर अहिंसा या संयम का विवेक आता है। आत्म-अनात्म की प्रतीति का दूसरा फल है—गति-विज्ञान। इसका फल होता है—गति के कारक और उसके निवर्तक तत्त्वों का ज्ञान—मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्वों का ज्ञान (मोक्ष के साधक तत्त्व गति के निवर्तक हैं, उसके बाधक तत्त्व गति के प्रवर्तक) पाप का विपाक कटु होता है। पुण्य का फल क्षणिक तृप्ति देने वाला और परिमाणतः दुःख का कारण होता है। मोक्ष-सुख शाश्वत और सहज है। यह सब जान लेने पर भोग-विरक्ति होती है। यह (आन्तरिक कषायादि और बाहरी पारिवारिक जन के) संयोग-त्याग की निमित्त बनती है। संयोगों की आसक्ति छूटने पर अनगारित्व आता है। संवर-धर्म का अनुशीलन गृहस्थी भी करते हैं। पर अनगार के उत्कृष्ट संवर-धर्म का स्पर्श होता है। यहाँ से आध्यात्मिक उत्कर्ष का द्वार खुल जाता है। सिद्धि सुलभ हो जाती है। उत्क्रान्ति का यह विस्तृत क्रम है। इसमें साधना और सिद्धि—दोनों का प्रतिपादन है। इनका संक्षेपीकरण करने पर साधना की भूमिकाएं पांच बनती हैं।

साधना की पांच भूमिकाएं :—

(१) सम्यग्-दर्शन

(२) विरति

(३) अप्रमाद

(४) अकषाय

(५) अयोग

आरोह क्रम

इनका आरोह-क्रम यही है। सम्यग् दर्शन के बिना विरति नहीं, विरति के बिना अप्रमाद नहीं, अप्रमाद के बिना अकषाय नहीं, अकषाय के बिना अयोग नहीं।

अयोग-दशा अक्रिया की स्थिति है। इसके बाद साधना शेष नहीं रहती। फिर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त और निर्वाण-दशा हो जाती है।

साधना का विघ्न

साधना में बाधा डालने वाला मोह-कर्म है। उसके दो रूप हैं (१) दर्शन-मोह (२) चारित्र-मोह। पहला रूप सम्यग् दर्शन में बाधक बनता है, दूसरा चारित्र में।

दर्शन-मोह के तीन प्रकार हैं—

(१) सम्यक्त्व-मोह, (२) मिथ्यात्व-मोह, (३) मिश्र (सम्यक्-मिथ्यात्व) मोह।

चारित्र-मोह के पचीस प्रकार हैं—

सोलह कषाय :—

अनन्तानुबन्धी—क्रोध, मान, माया, लोभ।

प्रत्याख्यानी—क्रोध, मान, माया, लोभ।

अप्रत्याख्यानी—क्रोध, मान, माया, लोभ।

संज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ।

नौ नो-कषाय—

(१७) हास्य (१८) रति (१९) अरति (२०) भय (२१) शोक (२२) जुगुप्सा (२३) स्त्री-वेद (२४) पुरुष-वेद (२५) नपुंसक-वेद।

जब तक दर्शन-मोह के तीन प्रकार और चारित्र-मोह के प्रथम चतुष्क (अनन्तानुबन्ध) का अत्यन्त विलय (क्षायिक भाव) नहीं होता, तब तक सम्यग् दर्शन (क्षायिक-सम्यक्त्व) का प्रकाश नहीं मिलता। सत्य के प्रति सतत् जागरूकता नहीं आती। इन सात प्रकृतियों (दर्शन-सप्तक) का विलय होने पर साधना की पहली मंजिल तय होती है।

सम्यग् दर्शन साधना का मूल है। "अदर्शनी (सम्यग् दर्शन रहित) ज्ञान नहीं पाता [१]। ज्ञान के बिना चरित्र, चरित्र के बिना मोक्ष, मोक्ष के बिना निर्वाण—शाश्वत शान्ति का लाभ नहीं होता।"

गुणस्थान

विशुद्धि के तरतम भाव की अपेक्षा जीवों के चौदह स्थान (भूमिकाएं) बतलाए हैं। उनमें सम्यग् दर्शन चौथी भूमिका है। उत्क्रान्ति का आदि बिन्दु होने के कारण इसे साधना की पहली भूमिका भी माना जा सकता है।

पहली तीन भूमिकाओं में प्रथम भूमिका (पहले गुणस्थान) के तीन रूप बनते हैं—(१) अनादि-अनन्त (२) अनादि-सान्त (३) सादि सान्त। प्रथम रूप के अधिकारी अभव्य या जाति-भव्य (कभी भी मुक्त न होने वाले) जीव होते हैं। दूसरा रूप उनकी अपेक्षा से बनता है जो अनादिकालीन मिथ्या-दर्शन की गांठ को तोड़कर सम्यग् दर्शनी बन जाते हैं। सम्यक्त्वी बन फिर से मिथ्यात्वी हो जाते हैं और फिर सम्यक्त्वी—ऐसे जीवों की अपेक्षा से तीसरा रूप बनता है। पहला गुणस्थान उत्क्रान्ति का नहीं है। इस दशा में शील की देश आराधना हो सकती है[३]। शील और श्रुत दोनों की आराधना नहीं, इसलिए सर्वाराधना की दृष्टि से यह अपक्रान्ति-स्थान है। मिथ्या दर्शनी व्यक्ति में भी विशुद्धि होती है। ऐसा कोई जीव नहीं जिसमें कर्म-विलयजन्य (न्यूनाधिक रूप में) विशुद्धि का अंश न मिले। उस (मिथ्या दृष्टि) का जो विशुद्धि-स्थान है, उसका नाम मिथ्या, 'दृष्टि-गुणस्थान' है[४]।

मिथ्या दृष्टि के (१) ज्ञानावरण कर्म का विलय (क्षयोपशम) होता है, अतः वह यथार्थ जानता भी है, (२) दर्शनावरण का विलय होता है अतः वह इन्द्रिय-विषयों का यथार्थ ग्रहण भी करता है; (३) मोह का विलय होता है अतः वह सत्यांश का श्रद्धान और चारित्रांश—तपस्या भी करता है। मोक्ष या आत्म-शोधन के लिए प्रयत्न भी करता है[५]। (४) अन्तराय कर्म का विलय होता है, अतः वह यथार्थ-ग्रहण (इन्द्रिय मन के विषय का साक्षात्), यथार्थ गृहीत का यथार्थ ज्ञान (अवग्रह आदि के द्वारा निर्णय तक पहुँचना) उसके (यथार्थ ज्ञान) प्रति श्रद्धा और श्रद्धेय का आचरण—इन सब के लिए प्रयत्न करता है—आत्मा को लगाता है। यह सब उसका विशुद्धि-स्थान है। इसलिए मिथ्यात्वी को 'सुव्रती'[६] और 'कर्म-सत्य' कहा गया है[७]। इनकी

मार्गानुसारी क्रिया का अनुमोदन करते हुए उपाध्याय विनय विजयजी ने लिखा है—

"मिथ्यादृशामप्युपकारसारं, संतोषसत्यादि गुणप्रसारम्।
वदान्यता वैनयिकप्रकारं, मार्गानुसारीत्यनुमोदयामः [८]॥"

श्रुत की न्यूनता के कारण इनके प्रत्याख्यान (विरति) को दुष्प्रत्याख्यान भी बताया है।

गौतम ने भगवान् से पूछा—भगवन्! सर्व प्राण, सर्वभूत, सर्वजीव और सर्व सत्व को मारने का कोई प्रत्याख्यान करता है, वह सुप्रत्याख्यात है या दुष्प्रत्याख्यात ?

भगवान् ने कहा—गौतम ? सुप्रत्याख्यात भी होता है और दुष्प्रत्याख्यात भी ?

गौतम—यह कैसे भगवन् ?

भगवान्—गौतम ! सर्वजीव यावत् सर्वसत्व को मारने का प्रत्याख्यान करने वाला नहीं जानता कि ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये त्रस हैं, ये स्थावर हैं। उसका प्रत्याख्यात दुष्प्रत्याख्यात होता है और सब जीवों को जाने बिना "सब को मारने का प्रत्याख्यान है" यूं बोला जाता है; वह असत्य भाषा है................।

"..................जो व्यक्ति जीव अजीव, त्रस-स्थावर को जानता है और वह सर्वजीव यावत् सर्व सत्व को मारने का प्रत्याख्यान करता है—उसका प्रत्याख्यात सुप्रत्याख्यात होता है और उसका वैसा बोलना सत्य भाषा है।" इस प्रकार प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यात भी होता है और सुप्रत्याख्यात भी [९]।

इसका तात्पर्य यह है कि सब जीवों को जाने बिना जो व्यक्ति सब जीवों की हिंसा का त्याग करता है, वह त्याग पूरा अर्थ नहीं रखता। किन्तु वह जितनी दूर तक जानकारी रखता है, हेय को छोड़ता है, वह चारित्र की देश-आराधना है। इसीलिए पहले गुणस्थान के अधिकारी को मोक्ष-मार्ग का देश-आराधक कहा गया है [१०]।

दूसरा गुण स्थान (सास्वादन-सम्यग् दृष्टि) अपक्रमण-दशा है। सम्यग्-दर्शनी (औपशमिक-सम्यक्त्वी) दर्शन-मोह के उदय से मिथ्या-दर्शनी

बनता है। उस संक्रमण-काल में यह स्थिति बनती है। पेड़ से फल गिर गया और जमीन को न छू पाया—ठीक यही स्थिति इसकी है। इसीलिए इसका कालमान बहुत थोड़ा है (छह आवलिका मात्र है)।

तीसरा स्थान मिश्र है। इसका अधिकारी न सम्यग् दर्शनी होता है और न मिथ्या-दर्शनी। यह संशयशील व्यक्ति की दशा है। पहली भूमिका का अधिकारी दृष्टि-विपर्यय वाला होता है, इसका अधिकारी संशयालु—यह दोनों में अन्तर है। दोलायमान दशा अन्तर्-मुहूर्त्त से अधिक नहीं टिकती। फिर वह या तो विपर्यय में परिणत हो जाती है या सम्यग् दर्शन में। इन आध्यात्मिक अनुत्क्रमण की तीनों भूमिकाओं में दीर्घकालीन भूमिका पहली ही है। शेष दो अल्पकालीन हैं। सम्यग् दर्शन उत्क्रान्ति का द्वार है, इसीलिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। आचार की दृष्टि से उसका उतना महत्त्व नहीं, जितना है कि इससे अगली कक्षाओं का है। कर्म-मुक्त होने की प्रक्रिया है—आने वाले कर्मोंका निरोध (संवरण) और पिछले कर्मों का विनाश (निर्जरण)। सम्यग्-दर्शनी के विरति नहीं होती, इसलिए उसके तपस्या द्वारा केवल कर्म-निर्जरण होता है, कर्म-निरोध नहीं होता। इसे हस्ति-स्नान के समान बताया गया है। हाथी नहाता है और तालाब से बाहर आ धूल या मिट्टी उछाल फिर उससे गन्दला बन जाता है। वैसे ही अविरत-व्यक्ति इधर तपस्या द्वारा कर्म-निर्जरण कर शोधन करते हैं और उधर अविरति तथा सावद्य आचरण से फिर कर्म का उपचय कर लेते हैं [११]। इस प्रकार यह साधना की समग्र भूमिका नहीं है। वह (समग्र भूमिका) विद्या और आचरण दोनों की सह-स्थिति में बनती है [१२]।

चरण-करण या संवर धर्म के बिना सम्यग् दृष्टि सिद्ध नहीं होता। इसीलिए साधना की समग्रता को रथ-चक्र और अन्ध-पंगु के निदर्शन के द्वारा समझाया है। जैसे एक पहिए से रथ नहीं चलता, वैसे ही केवल विद्या (श्रुत या सम्यग् दर्शन) से साध्य नहीं मिलता। विद्या पंगु है, क्रिया अन्धी। साध्य तक पहुँचने के लिए पैर और आंख दोनों चाहिए।

ऐसा विश्वास पाया जाता है कि "तत्त्वों को सही रूप में जानने वाला सब दुःखों से छूट जाता है। ऐसा सोच कई व्यक्ति धर्म का आचरण नहीं

करते। वे एकान्त अक्रियावादी बन जाते हैं। भगवान् महावीर ने इसे वाणी का वीर्य या वाचनिक आश्वासन कहा है [13]।"

सम्यग् दृष्टि के पाप का बन्ध नहीं होता या उसके लिए कुछ करना शेष नहीं रहता—ऐसी मिथ्या धारणा न बने, इसीलिए चतुर्थ भूमिका के अधिकारी को अधर्मी,[14] बाल[15] और सुप्त कहा है [16]।

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जनाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः"

"धर्म को जानता हूँ, पर उसमें प्रवृत्ति नहीं है, अधर्म को भी जानता हूँ पर उससे निवृत्ति नहीं है।"—यह एक बहुत बड़ा तथ्य है। इसका पुनरावर्तन प्रत्येक जीव में होता है। यह प्रश्न अनेक मुखों से मुखरित होता रहता है कि "क्या कारण है, हम बुराई को बुराई जानते हुए भी—समझते हुए भी छोड़ नहीं पाते ?" जैन कर्मवाद इसका कारण के साथ समाधान प्रस्तुत करता है। वह यूं है – जानना ज्ञान का कार्य है। ज्ञान 'ज्ञानावरण' के पुद्गलों का विलय होने पर प्रकाशमान होता है। सही विश्वास होना श्रद्धा है। वह दर्शन को मोहने वाले पुद्गलों के अलग होने पर प्रगट होती है बुरी वृत्ति को छोड़ना, अच्छा आचरण करना—यह चारित्र को मोहने वाले पुद्गलों के दूर होने पर सम्भव होता है।

ज्ञान के आवारक पुद्गलों के हट जाने पर भी दर्शन-मोह के पुद्गल आत्मा पर छाए हुए हों तो वस्तु जान ली जाती है, पर विश्वास नहीं होता। दर्शन को मोहने वाले पुद्गल बिखर जाएं, तब उस पर श्रद्धा बन जाती है। पर चारित्र को मोहने वाले पुद्गलों के होते हुए उसका स्वीकार (या आचरण) नहीं होता। इस दृष्टि से इनका क्रम यह बनता है—(१) ज्ञान, (२) श्रद्धा (३) चारित्र। ज्ञान श्रद्धा के बिना भी हो सकता है पर श्रद्धा उसके बिना नहीं होती। श्रद्धा चारित्र के बिना भी हो सकती है, पर चारित्र उसके बिना नहीं होता। अतः वाणी और कर्म का द्वैध (कथनी और करनी का अन्तर) जो होता है, वह निष्कारण नहीं है। ज्यों साधना आगे बढ़ती है, चारित्र का भाव प्रगट होता है, त्यों द्वैध की खाई पटती जाती है पर वह छद्मस्थ-दशा (प्रमत्त-दशा) में पूरी नहीं पटती।

छद्मस्थ की मनोदशा का विश्लेषण करते हुए भगवान् ने कहा—"छद्मस्थ सात कारणों से पहचाना जाता है—(१) वह प्राणातिपात करता है (२) मृषावादी होता है (३) अदत्त लेता है (४) शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध का आस्वाद लेता है (५) पूजा, सत्कार की वृद्धि चाहता है (६) पापकारी कार्य को पापकारी कहता हुआ भी उसका आचरण करता है (७) जैसा कहता है, वैसा नहीं करता"[१७]।

यह प्रमाद युक्त व्यक्ति की मनः स्थिति का प्ररूपण है। मोह प्रबल होता है, तब कथनी करनी की एकता नहीं आती। उसके बिना ज्ञान और क्रिया का सामञ्जस्य नहीं होता। इनके असामञ्जस्य में पूजा-प्रतिष्ठा की भूख होती है। जहाँ यह होती है, वहाँ विषय का आकर्षण होता है। विषय की पूर्ति के लिए चोरी होती है। चोरी झूठ लाती है और झूठ से प्राणातिपात आता है। साधना की कमी या मोह की प्रबलता में ये विकार एक ही शृंखला से जुड़े रहते हैं। अप्रमत्त या वीतराग में ये सातों विकार नहीं होते।

देश विरति

भगवान् ने कहा—गौतम ! सत्य (धर्म) की श्रुति दुर्लभ है। बहुत सारे लोग मिथ्यावादियों के संग में ही लीन रहते हैं। उन्हें सत्य-श्रुति का अवसर नहीं मिलता। श्रद्धा सत्य-श्रुति से भी दुर्लभ है। बहुत सारे व्यक्ति सत्यांश सुनते हुए भी (जानते हुए भी) उस पर श्रद्धा नहीं करते। वे मिथ्यावाद में ही रचे-पचे रहते हैं। काय-स्पर्श (सत्य का आचरण) श्रद्धा से भी दुर्लभ है। सत्य की जानकारी और श्रद्धा के उपरान्त भी काम-भोग की मूर्छा छूटे बिना सत्य का आचरण नहीं होता। तीव्रतम-कषाय (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ) के विलय से सम्यक् दर्शन (सत्य श्रद्धा) की योग्यता आजाती है। किन्तु तीव्रतर कषाय (अप्रत्याख्यान क्रोधादि चतुष्क) के रहते हुए चारित्रिक योग्यता नहीं आती। इसीलिए श्रद्धा से चारित्र का स्थान आगे है। चरित्रवान् श्रद्धा सम्पन्न अवश्य होता है किन्तु श्रद्धावान् चरित्र-सम्पन्न होता भी है और नहीं भी। यही इस भूमिका-भेद का आधार है। पांचवी भूमिका चारित्र की है। इसमें चरित्रांश का उदय होता है। कर्म-निरोध या संवर का यही प्रवेश-द्वार है।

चारित्रिक योग्यता एक रूप नहीं होती। उसमें असीम तारतम्य होता है। विस्तार-दृष्टि से चारित्र-विकास के अनन्त स्थान हैं। संक्षेप में उसके वर्गीकृत स्थान दो हैं—(१) देश (अपूर्ण)-चारित्र (२) सर्व-(पूर्ण) चारित्र। पाँचवी भूमिका देश-चारित्र (अपूर्ण-विरति) की है। यह गृहस्थ का साधना-क्षेत्र है।

जैनागम गृहस्थ के लिए बारह व्रतों का विधान करते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार-सन्तोष और इच्छा-परिमाण—ये पाँच अणुव्रत हैं। दिग्-विरति, भोगोपभोग-विरति और अनर्थ-दण्ड-विरति—ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथि-संविभाग—ये चार शिक्षाव्रत हैं।

बहुत लोग दूसरों के अधिकार या स्वत्व को छीनने के लिए, अपनी भोग-सामग्री को समृद्ध करने के लिए एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाया करते हैं। इसके साथ शोषण या असंयम की कड़ी जुड़ी हुई है। असंयम को खुला रखकर चलने वाला स्वस्थ अणुव्रती नहीं हो सकता। दिग्-व्रत में सार्वभौम (आर्थिक राजनीतिक या और और सभी प्रकार के) अनाक्रमण की भावना है। भोग-उपभोग की खुलावट और प्रमाद जन्य भूलों से बचने के लिए सातवां और आठवां व्रत किया गया है।

ये तीनों व्रत अणुव्रतों के पोषक है, इसलिए इन्हें गुण व्रत कहा गया है।

धर्म समतामय है। राग-द्वेष विषमता है। समता का अर्थ है—राग द्वेष का अभाव। विषमता है राग-द्वेष का भाव। सम भाव की आराधना के लिए सामायिक व्रत है। एक मुहूर्त्त तक सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना सामायिक व्रत है।

सम भाव की प्राप्ति का साधन जागरूकता है। जो व्यक्ति पल-पल जागरूक रहता है, वही सम भाव की ओर अग्रसर हो सकता है। पहले आठ व्रतों की सामान्य मर्यादा के अतिरिक्त थोड़े समय के लिए विशेष मर्यादा करना, अहिंसा आदि की विशेष साधना करना देशावकाशिक व्रत है।

पौषधोपवास-व्रत साधु-जीवन का पूर्वाभ्यास है। उपवासपूर्वक सावद्य प्रवृत्ति को त्याग समभाव की उपासना करना पौषधोपवास व्रत है।

महाव्रती मुनि को अपने लिए बने हुए आहार का संविभाग देना अतिथि-संविभाग-व्रत है।

चारों व्रत अभ्यासात्मक या बार-बार करने योग्य हैं। इसलिए इन्हें शिक्षा व्रत कहा गया।

ये बारह व्रत हैं। इनके अधिकारी को देशव्रती श्रावक कहा जाता है।

छठी भूमिका से लेकर अगली सारी भूमिकाएँ मुनि-जीवन की हैं।

सर्व-विरति

यह छठी भूमिका है। इसका अधिकारी महाव्रती होता है। महाव्रत पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। रात्रि-भोजन-विरति छठा व्रत है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार भगवान् ऋषभ देव और भगवान् महावीर के समय में रात्रि-भोजन को मूल गुण माना जाता था। इसलिए इसे महाव्रत के साथ व्रत रूप में रखा गया है। शेष बाईस तीर्थंकरों के समय यह उत्तर-गुण के रूप में रहता आया है। इसलिए इसे अलग व्रत का रूप नहीं मिलता [१८]।

जैन परिभाषा के अनुसार व्रत या महाव्रत मूल गुणों को कहा जाता है। उनके पोषक गुण उत्तर गुण कहलाते हैं। उन्हें व्रत की संज्ञा नहीं दी जाती। मूलगुण की मान्यता में परिवर्तन होता रहा है—धर्म का निरूपण विभिन्न रूपों में मिलता है।

व्रत-विकास

'अहिंसा शाश्वत धर्म है—यह एक व्रतात्मक धर्म का निरूपण है [१९]।'

सत्य और अहिंसा यह दो धर्मों का निरूपण है [२०]।'

'अहिंसा, सत्य और बहिर्धादान—यह तीन यामों का निरूपण है।'

'अहिंसा सत्य, अचौर्य, और बहिर्धादान-यह चतुर्याम-धर्म का निरूपण है।'

'अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह'—यह पंच महाव्रतों का निरूपण है।

जैन सूत्रों के अनुसार बाईस तीर्थंकरों के समय में चतुर्याम-धर्म रहा और पहले और चौबीसवें तीर्थंकरों के समय में पंचयाम धर्म [२१]। तीन याम का निरूपण आचारांग में मिलता है [२२]। किन्तु उसकी परम्परा कब रही, इसकी कोई जानकारी नहीं मिलती। यही बात दो और एक महाव्रत के

लिए है। अहिंसा ही धर्म है। शेष महाव्रत उसकी सुरक्षा के लिए हैं। यह विचार उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य में बहुत दृढ़ता से निरूपित हुआ है।

धर्म का मौलिक रूप सामायिक—चारित्र या समता का आचरण है। अहिंसा, सत्य आदि उसी की साधना के प्रकार हैं। समता का अखंड रूप एक अहिंसा महाव्रत में भी समा जाता है और भेद-दृष्टि से चलें तो उसके पाँच और अधिक भेद किये जा सकते हैं।

अप्रमाद

यह सातवीं भूमिका है। छठी भूमिका का अधिकारी प्रमत्त होता है—उसके प्रमाद की सत्ता भी होती है और वह कहीं-कहीं हिंसा भी कर लेता है। सातवीं का अधिकारी प्रमादी नहीं होता, सावद्य प्रवृत्ति नहीं करता। इसलिए अप्रमत्त-संयती को अनारम्भ—अहिंसक और प्रमत्त-संयती को शुभ-योग की अपेक्षा अनारम्भ और अशुभ-योग की अपेक्षा आत्मारम्भ (आत्म-हिंसक) परारम्भ (पर-हिंसक) और उभयारम्भ (उभय-हिंसक) कहा है।

श्रेणी-आरोह और अकषाय या वीतराग-भाव

आठवीं भूमिका का आरम्भ अपूर्व-करण से होता है। पहले कभी न आया हो, वैसा विशुद्ध भाव आता है, आत्मा 'गुण-श्रेणी' का आरोह करने लगता है। आरोह की श्रेणियां दो हैं—उपशम और क्षपक। मोह को उपशान्त कर आगे बढ़ने वाला ग्यारहवीं भूमिका में पहुंच मोह को सर्वथा उपशान्त कर वीतराग बन जाता है। उपशम स्वल्पकालीन होता है, इसलिए मोह के उभरने पर वह वापस नीचे की भूमिकाओं में आ जाता है। मोह को खपाकर आगे बढ़ने वाला बारहवीं भूमिका में पहुंच वीतराग बन जाता है। क्षीण मोह का अवरोह नहीं होता।

केवली या सर्वज्ञ

तेरहवीं भूमिका सर्व-ज्ञान और सर्व-दर्शन की है। भगवान् ने कहा—कर्म का मूल मोह है। सेनानी के भाग जाने पर सेना भाग जाती है, वैसे ही मोह के नष्ट होने पर शेष कर्म नष्ट हो जाते हैं। मोह के नष्ट होते ही ज्ञान और दर्शन के आवरण तथा अन्तराय—ये तीनों कर्म-बन्धन टूट जाते हैं। आत्मा

निरावरण और निरन्तराय बन जाता है। निरावरण आत्मा को ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा जाता है।

अयोग-दशा और मोक्ष

केवली के भवोपग्राही कर्म शेष रहते हैं। उन्हीं के द्वारा शेष जीवन का धारण होता है। जीवन के अन्तिम क्षणों में मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्तियों का निरोध होता है। यह निरोध दशा ही अन्तिम भूमिका है। इस काल में वे शेष कर्म टूट जाते हैं। आत्मा मुक्त हो जाता है—आचार स्वभाव में परिणत हो जाता है। साधन स्वयं साध्य बन जाता है। ज्ञान की परिणति आचार और आचार की परिणति मोक्ष है और मोक्ष ही आत्मा का स्वभाव है।

जागरण

जो असंयम है, वही असत्य है और जो असत्य है, वही असंयम है। जो संयम है, वही सत्य है और जो सत्य है, वही संयम है[1]। जो संयम की उपासना करता है, वह स्वयं शिव और सुन्दर बन जाता है—विजातीय तत्त्व को खपा स्वस्थ या आत्मस्थ बन जाता है[2]।

चार प्रकार के पुरुष होते हैं :—

(१) कोई व्यक्ति द्रव्य-नींद से जागता है, भाव-नींद से सोता है, वह असयंमी है।

(२) कोई व्यक्ति द्रव्य-नींद से भी सोता है और भाव-नींद से भी सोता है, वह प्रमादी और असंयमी दोनों है।

(३) कोई व्यक्ति द्रव्य-नींद से सोता है किन्तु भाव-नींद से दूर है, वह संयमी है।

(४) कोई व्यक्ति द्रव्य और भाव नींद—दोनों से दूर है, वह अति जागरूक संयमी है।

दैहिक नींद वास्तव में नींद नहीं है, यह द्रव्य-नींद है। वास्तविक नींद श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की शून्यता है।

जो अमुनि (असंयमी) हैं, वे सदा सोये हुए हैं। जो मुनि (संयमी) हैं, वे सदा जागते है[3]। यह सतत-शयन और सतत-जागरण की भाषा अलौकिक है। असंयम नींद है और संयम जागरण। असंयमी अपनी हिंसा करता है, दूसरों का बध करता है, इसलिए वह सोया हुआ है। संयमी किसी की भी हिंसा नहीं करता, इसलिए वह अप्रमत्त है—सदा जागरूक है।

आत्मा से परमात्मा

जो व्यक्ति दिन में, परिषद् में, जाग्रत-दशा में या दूसरों के संकोचवश पाप से बचते हैं, वे बहिर्दृष्टि हैं—अन्-अध्यात्मिक हैं। उनमें अभी अध्यात्म-चेतना का जागरण नहीं हुआ है।

जो व्यक्ति दिन और रात, विजन और परिषद्, सुप्ति और जागरण में अपने

आत्म-पतन के भय से, किसी बाहरी संकोच या भय से नहीं, परम-आत्मा के सान्निध्य में रहते हैं—वे आध्यात्मिक हैं।

उन्हीं में परम-आत्मा से सम्बन्ध बनाये रखने के सामर्थ्य का विकास होता है। इसके चरम शिखर पर पहुँच, वे स्वयं परम-आत्मा बन जाते हैं।

साधना के सूत्र (अप्रमाद)

आर्यों! आओ! भगवान् ने गौतम आदि श्रमणों को आमंत्रित किया।

भगवान् ने पूछा—आयुष्मन् श्रमणों! जीव किससे डरते हैं?

गौतम आदि श्रमण निकट आये, वन्दना की, नमस्कार किया, विनम्र भाव से बोले—भगवन्! हम नहीं जानते, इस प्रश्न का क्या तात्पर्य है? देवानुप्रिय को कष्ट न हो तो भगवान् कहें। हम भगवान् के पास से यह जानने को उत्सुक हैं।

भगवान् बोले—आर्यों! जीव दुःख से डरते हैं।

गौतम ने पूछा—भगवन्! दुःख का कर्त्ता कौन है और उसका कारण क्या है?

भगवान्—गौतम! दुःख का कर्त्ता जीव और उसका कारण प्रमाद है[४]।

गौतम—भगवन्! दुःख का अन्त-कर्ता कौन है और उसका कारण क्या है?

भगवान्—गौतम! दुःख का अन्त-कर्त्ता जीव और उसका कारण अप्रमाद है[५]।

उपशम

मानसिक सन्तुलन के बिना कष्ट सहन की क्षमता नहीं आती। उसका उपाय उपशम है। व्याधियों की अपेक्षा मनुष्य को आधियां अधिक सताती हैं। हीन-भावना और उत्कर्ष-भावना की प्रतिक्रिया दैहिक कष्टों से अधिक भयंकर होती है, इसलिए भगवान् ने कहा—जो निर्मम और निरहंकार है, निःसंग है, ऋद्धि, रस और सुख के गौरव से रहित है, सब जीवों के प्रति सम है, लाभ-अलाभ सुख-दुःख, जीवन, मौत, निन्दा, प्रशंसा, मान-अपमान में सम है, अकषाय, अदण्ड, निःशल्य और अभय है, हास्य, शोक और पौद्गलिक सुख की आशा से मुक्त है, ऐहिक और पारलौकिक बन्धन से

मुक्त है, पूजा और प्रहार में सम है, आहार और अनशन में सम है, अप्रशस्त वृत्तियों का संवारक है, अध्यात्म-ध्यान और योग में लीन है, प्रशस्त आत्मानुशासन में रत है, श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र और तप में निष्ठावान् है—वही भावितात्मा श्रमण है।

भगवान् ने कहा—कोई श्रमण कभी कलह में फँस जाए तो वह तत्काल सम्हल कर उसे शान्त कर दे। वह क्षमा याचना करले। सम्भव है, दूसरा श्रमण वैसा करे या न करे, उसे आदर दे या न दे, उठे या न, उठे, वन्दना करे, या न करे, साथ में खाये या न खाये, साथ में रहे या न रहे कलह को उपशान्त करे या न करे, किन्तु जो कलह का उपशमन करता है वह धर्म की आराधना करता है, जो उसे शांत नहीं करता उसके धर्म की आराधना नहीं होती। इसलिए आत्म-गवेषक श्रमण को उसका उपशमन करना चाहिए।

गौतम ने पूछा—भगवन्! उसे अकेले को ही ऐसा क्यों करना चाहिए?

भगवान् ने कहा—गौतम! श्रामण्य उपशम-प्रधान है। जो उपशम करेगा, वही श्रमण, साधक या महान् है।

उपशमन विजय का मार्ग है। जो उपशम-प्रधान होता है, वही मध्यस्थ-भाव और तटस्थ-नीति को बरत सकता है।

साम्य-योग

जाति और रंग का गर्व कौन कर सकता है? यह जीव अनेक बार ऊंची और अनेक बार नीची जाति में जन्म ले चुका है।

यह जीव अनेक बार गोरा और अनेक बार काला बन चुका है। जाति और रंग, ये बाहरी आवरण हैं। ये जीव को हीन और उच्च नहीं बनाते।

बाहरी आवरणों को देख जो हृष्ट व रुष्ट होते हैं, वे मूढ़ हैं।

प्रत्येक व्यक्ति में स्वाभिमान की वृत्ति होती है। इसलिए किसी के प्रति भी तिरस्कार, घृणा और निम्नता का व्यवहार करना हिंसा है, व्यामोह है[१]।

तितिक्षा

भगवान् ने कहा—गौतम! अहिंसा का आधार तितिक्षा है[२]। जो कष्टों से घबड़ाता है, वह अहिंसक नहीं हो सकता।

इस शरीर को खपा[८]। साध्य (आत्म-हित) खपने से सधता है[९]।

इस शरीर को तपा[१०]। साध्य तपने से ही सधता है[११]।

अभय

लोक-विजय का मार्ग अभय है। कोई भी व्यक्ति सर्वदा शस्त्र-प्रयोग नहीं करता, किन्तु शस्त्रीकरण से दूर नहीं होता, उससे सब डरते हैं[१२]।

अणुबम की प्रयोग-भूमि केवल जापान है। उसकी भय-व्याप्ति सभी राष्ट्रों में है।

जो स्वयं अभय होता है, वह दूसरों को अभय दे सकता है। स्वयं भीत दूसरों को अभीत नहीं कर सकता।

आत्मानुशासन

संसार में जो भी दुःख है, वह शस्त्र से जन्मा हुआ है[१३]। संसार में जो भी दुःख है, वह संग और भोग से जन्मा हुआ है[१४]। नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जो जानता है, वही अशस्त्र का मूल्य जानता है, वही नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जान सकता है[१५]।

भगवान् ने कहा—गौतम! तू आत्मानुशासन में आ। अपने आपको जीत। यही दुःख-मुक्ति का मार्ग है[१६]। कामों, इच्छाओं और वासनाओं को जीत। यही दुःख-मुक्ति का मार्ग है[१७]।

लोक का सिद्धान्त देख—कोई जीव दुःख नहीं चाहता। तू भेद में अभेद देख, सब जीवों में समता देख। शस्त्र-प्रयोग मत कर। दुःख-मुक्ति का मार्ग यही है[१८]।

कषाय-विजय, काम विजय या इन्द्रिय-विजय, मनोविजय, शस्त्र-विजय और साम्य-दर्शन—ये दुःख मुक्ति के उपाय हैं। जो साम्यदर्शी होता है, वह शस्त्र का प्रयोग नहीं करता। शस्त्र-विजेता का मन स्थिर हो जाता है। स्थिर-चित्त व्यक्ति को इन्द्रियां नहीं सतातीं। इन्द्रिय-विजेता के कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) स्वयं स्फूर्त नहीं होते।

संवर और निर्जरा

यह जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (मन, वाणी

और शरीर की प्रवृत्ति) इन पांच आस्रवों के द्वारा विजातीय-तत्त्व का आकर्षण करता है। यह जीव अपने हाथों ही अपने बन्धन का जाल बुनता है। जब तक आस्रव का संवरण नहीं होता, तब तक विजातीय तत्त्व का प्रवेश-द्वार खुला ही रहता है।

भगवान् ने दो प्रकार का धर्म कहा है—संवर और तपस्या—निर्जरा। संवर के द्वारा नये विजातीय द्रव्य के संग्रह का निरोध होता है और तपस्या के द्वारा पूर्व-संचित-संग्रह का विलय होता है। जो व्यक्ति विजातीय द्रव्य का नये सिरे से संग्रह नहीं करता और पुराने संग्रह को नष्ट कर डालता है, वह उससे मुक्त हो जाता है[१९]।

साधना का मान-दण्ड

भगवान् ने कहा—गौतम! साधना के क्षेत्र में व्यक्ति के अपकर्ष-उत्कर्ष या अवरोह-आरोह का मान-दण्ड संवर (विजातीय तत्त्व का निरोध) है।

संयम और आत्म-स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति का चरम बिन्दु एक है। पूर्ण संयम यानी असंयम का पूर्ण अन्त, असंयम का पूर्ण अन्त यानी आत्मा का पूर्ण विकास।

जो व्यक्ति भोग-तृष्णा का अन्तकर है, वही इस अनादि दुःख का अन्तकर है[२०]।

दुःख के आवर्त्त में दुःखी ही फंसता है, अदुःखी नहीं[२१]।

उस्तरा और चक्र अन्त-भाग से चलते हैं। जो अन्त भाग से चलते हैं, वे ही साध्य को पा सकते हैं।

विषय, कषाय और तृष्णा की अन्तरेखा के उस पार जिनका पहला चरण टिकता है, वे ही अन्तकर—मुक्त बनते हैं[२२]।

महाव्रत और अणुव्रत

'अहिंसा ही धर्म है, यह कहना न तो अत्युक्ति है और न अर्थवाद। आचार्यों ने बताया है कि "सत्य आदि जितने व्रत हैं, वे सब अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं[२३]।" काव्य की भाषा में "अहिंसा धान है, सत्य आदि उसकी रक्षा करने वाली बाड़ें हैं[२४]।" "अहिंसा जल है, सत्य आदि उसकी रक्षा के लिए सेतु हैं[२५]।" सार यही है कि दूसरे सभी व्रत अहिंसा के ही पहलू हैं।

अहिंसा का यह व्यापक रूप है। इसकी परिभाषा है जो संवर और सत्प्रवृत्ति है वह अहिंसा है।

अहिंसा का दूसरा रूप है—प्राणातिपात-विरति।

भगवान् ने कहा जीवमात्र को मत मारो, मत सताओ, आधि-व्याधि मत पैदा करो, कष्ट मत दो, अधीन मत बनाओ, दास मत बनाओ यही ध्रुव-धर्म है, यही शाश्वत सत्य है। इसकी परिभाषा है—मनसा, वाचा, कर्मणा और कृत, कारित अनुमति से आक्रोश, बन्ध और वध का त्याग। दूसरे महाव्रतों की रचना का मूल यही परिभाषा है। इसमें मृषावाद, चौर्य, मैथुन और परिग्रह का समावेश नहीं होता। अहिंसा सत्य और ब्रह्मचर्य जितने व्यापक शब्द हैं, उतने व्यापक प्राणातिपात-विरति, मृषावाद-विरति और मैथुन-विरति नहीं है।

प्राणातिपात-विरति भी अहिंसा है। स्वरूप की दृष्टि से अहिंसा एक है। हिंसा भी एक है। कारण की दृष्टि से हिंसा के दो प्रकार बनते हैं—(१) अर्थ हिंसा—आवश्यकतावश की जाने वाली हिंसा और (२) अनर्थ हिंसा—अन्-आवश्यक हिंसा। मुनि सर्व हिंसा का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है। वह अहिंसा महाव्रत को इन शब्दों में स्वीकार करता है—"भंते! मैं उपस्थित हुआ हूँ पहले महाव्रत प्राणातिपात से विरत होने के लिए। भंते! मैं सब प्रकार के प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूक्ष्म और बादर, त्रस और स्थावर जीवों का अतिपात मनसा, वाचा, कर्मणा, मैं स्वयं न करूँगा—दूसरों से न कराऊँगा और न करने वाले का अनुमोदन करूँगा। मैं यावज्जीवन के लिए इस प्राणातिपात-विरति महाव्रत को स्वीकार करता हूँ।"

गृहस्थ अर्थ-हिंसा छोड़ने में सक्षम नहीं होता, वह अनर्थ-हिंसा का त्याग और अर्थ-हिंसा का परिमाण करता है। इसलिए उसका अहिंसा-व्रत स्थूल-प्राणातिपात-विरति कहलाता है। जैन आचार्यों ने गृहस्थ के उत्तरदायित्वों और विवशताओं को जानते हुए कहा—"आरम्भी—कृषि, व्यापार सम्बन्धी और विरोधी प्रत्याक्रमण कालीन हिंसा से न बच सको तो संकल्पी-आक्रमणात्मक और अप्रायोजनिक हिंसा से अवश्य बचो।" इस मध्यम-मार्ग पर अनेक लोग

चाहे। यह सबके लिए आवश्यक मार्ग है। अविरति मनुष्य को मूढ़ बनाती है, यह केवल अवरति नहीं है। विरति केवल मनुष्य मात्र के लिए सरल नहीं होती, यह केवल विरति नहीं है। यह अविरति और विरति का योग है। इसमें न तो वस्तु-स्थिति का अपलाप है और न मनुष्य की वृत्तियों का पूर्ण अनियंत्रण। इसमें अपनी विवशता की स्वीकृति और स्ववशता की ओर गति दोनों हैं।

निश्चय-दृष्टि यह है—हिंसा से आत्मा का पतन होता है, इसलिए वह अकरणीय है।

व्यवहार-दृष्टि यह है—सभी प्राणियों को अपनी-अपनी आयु प्रिय है। सुख अनुकूल है। दुःख प्रतिकूल है। वध सब को अप्रिय है। जीना सब को प्रिय है। सब जीव लम्बे जीवन की कामना करते हैं। सभी को जीवन प्रिय लगता है।

यह सब समझ कर किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

किसी जीव को त्रास नहीं पहुँचाना चाहिए[२६]।

किसी के प्रति वैर और विरोध भाव नहीं रखना चाहिए[२७]।

सब जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखना चाहिए[२८]।

हे पुरुष! जिसे तू मारने की इच्छा करता है,[२९] विचार कर वह तेरे जैसा ही सुख-दुःख का अनुभव करने वाला प्राणी है; जिसपर हुकूमत करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसे दुःख देने का विचार करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसे अपने वश करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसके प्राण लेने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है।

मृषावाद-विरति-दूसरा महाव्रत है। इसका अर्थ है असत्य-भाषण से विरत होना।

अदत्तादान विरति तीसरा महाव्रत है इसका अर्थ है बिना दी हुई वस्तु लेने से विरत होना। मैथुन-विरति चौथा महाव्रत है—इसका अर्थ है भोग-विरति। पाँचवाँ महाव्रत अपरिग्रह है। इसका अर्थ है परिग्रह का त्याग। मुनि मृषावाद आदि का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है, इसलिए स्वीकृति निम्न शब्दों में करता है।

भंते ! मैं उपस्थित हुआ हूँ—दूसरे महाव्रत में मृषावाद-विरति के लिए। भंते ! मैं सब प्रकार के मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ। क्रोध, लोभ, भय और हास्यवश—मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वयं मृषा न बोलूँगा, न दूसरों से बुलवाऊँगा और न बोलने वाले का अनुमोदन करूँगा। जीवन पर्यन्त मैं मृषावाद से विरत होता हूँ।

भंते ! मैं उपस्थित हुआ हूँ—तीसरे महाव्रत में अदत्तादान-विरति के लिए। भंते ! मैं सब प्रकार के अदत्तादान का त्याग करता हूँ। गाँव, नगर या अरण्य में अल्प या बहुत, अणु या स्थूल, सचित्त या अचित्त अदत्तादान मनसा, वाचा, कर्मणा मै स्वयं न लूँगा न दूसरों से लिवाउँगा और न लेने वाले का अनुमोदन करूँगा। जीवन पर्यन्त मैं अदत्तादान से विरत होता हूँ।

भंते ! मैं उपस्थित हुआ हूँ—चौथे महाव्रत में मैथुन-विरति के लिए।

भंते ! मैं सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ। दिव्य, मनुष्य और तिर्यञ्च मैथुन का मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वयं न सेवन करूँगा न दूसरों से सेवन करवाउँगा न सेवन करने वाले का अनुमोदन करूँगा। जीवन पर्यन्त मैं मैथुन से विरत होता हूँ।

भंते ! मैं उपस्थित हुआ हूँ पाँचवे महाव्रत परिग्रह-विरति के लिए। भंते ! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। गांव, नगर या अरण्य में अल्प या बहुत, अणु या स्थूल, सचित्त या अचित्त, परिग्रह मनसा, वाचा, कर्मण मैं स्वयं न ग्रहण करूँगा न दूसरों से ग्रहण करवाऊँगा न ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करूँगा। जीवन पर्यन्त मैं परिग्रह से विरत होता हूँ।

भंते ! मैं उपस्थित हुआ हूँ छठे व्रत रात्रि-भोजन-विरति के लिए। भंते ! मैं सब प्रकार के असन, पान, खाद्य और स्वाद्य को रात्रि में खाने का प्रत्याख्यान करता हूँ। मनसा, वाचा कर्मणा मैं स्वयं रात के समय न खाऊँगा, न दूसरों को खिलाऊँगा, न खाने वाले का अनुमोदन करूँगा। जीवन पर्यन्त मैं रात्रि-भोजन से विरत होता हूँ।

गृहस्थ के मृषावाद आदि की स्थूल-विरति होती है, इसलिए वे अणुव्रत होते हैं। स्थूल-मृषावाद-विरति, स्थूल अदत्तादान-विरति, स्वदार-सन्तोष और

इच्छा परिमाण—ये उनके नाम हैं। महाव्रतों की स्थिरता के लिए २५ भावनाएं हैं। प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएं हैं[३०]।

इनके द्वारा मन को भावित कर ही महाव्रतों की सम्यक् आराधना की जा सकती है।

पाँच महाव्रतों में मैथुन देह से अधिक सम्बन्धित है। इसलिए मैथुन-विरति की साधना के लिए विशिष्ट-नियमों की रचना की गई है।

ब्रह्मचर्य का साधना-मार्ग

ब्रह्मचर्य भगवान् है[३१]।

ब्रह्मचर्य सब तपस्याओं में प्रधान है[३२]। जिसने ब्रह्मचर्य की आराधना कर ली उसने सब व्रतों को आराध लिया[३३]। जो अब्रह्मचर्य से दूर हैं—वे आदि मोक्ष हैं। मुमुक्षु मुक्ति के अग्रगामी हैं[३४]। ब्रह्मचर्य के भग्न होने पर सारे व्रत टूट जाते हैं[३५]।

ब्रह्मचर्य जितना श्रेष्ठ है, उतना ही दुष्कर है[३६]। इस आसक्ति को तरने वाला महासागर को तर जाता है[३७]।

कहीं पहले दण्ड, पीछे भोग है, और कहीं पहले भोग, पीछे दण्ड है—ये भोग संगकारक हैं[३८]। इन्द्रिय के विषय विकार के हेतु हैं किन्तु वे राग-द्वेष को उत्पन्न या नष्ट नहीं करते। जो रक्त और द्विष्ट होता है, वह उनका संयोग पा विकारी बन जाता है[३९]। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए विकार के हेतु वर्जनीय हैं। ब्रह्मचारी की चर्या यूँ होनी चाहिए :—

(१) एकान्त वास—विकार-वर्धक सामग्री से दूर रहना।

(२) कथा-संयम—कामोत्तेजक वार्तालाप से दूर रहना।

(३) परिचय-संयम—कामोत्तेजक सम्पर्कों से बचना।

(४) दृष्टि-संयम—दृष्टि के विकार से बचना।

(५) श्रुति-संयम—कर्ण-विकार पैदा करनेवाले शब्दों से बचना।

(६) स्मृति-संयम—पहले भोगे हुए भोगों की याद न करना।

(७) रस-संयम—पुष्ट-हेतु के बिना सरस पदार्थ न खाना।

(८) अति-भोजन-संयम (मिताहार)—मात्रा और संख्या में कम खाना, बार-बार न खाना, जीवन-निर्वाह मात्र खाना।

(९) विभूषा-संयम—शृङ्गार न करना।

(१०) विषय-संयम—मनोज्ञ शब्दादि इन्द्रिय विषयों तथा मानसिक संकल्पों से बचना[४०]।

(११) भेद-चिन्तन—विकार हेतुक प्राणी या वस्तु से अपने को पृथक् मानना।

(१२) शीत और ताप सहना—ठंडक में खुले बदन रहना, गर्मी में सूर्य का आतप लेना।

(१३) सौकुमार्य-त्याग।

(१४) राग-द्वेष के विलय का संकल्प करना[४१]।

(१५) गुरु और स्थविर से मार्ग-दर्शन लेना।

(१६) अज्ञानी या आसक्त का संग-त्याग करना।

(१७) स्वाध्याय में लीन रहना।

(१८) ध्यान में लीन रहना।

(१९) सूत्रार्थ का चिन्तन करना।

(२०) धैर्य रखना, मानसिक चंचलता होने पर निराश न होना[४२]।

(२१) शुद्धाहार—निर्दोष और मादक वस्तु-वर्जित आहार।

(२२) कुशल साथी का सम्पर्क[४३]।

(२३) विकार-पूर्ण-सामग्री का अदर्शन, अप्रार्थन, अचिन्तन, अकीर्तन[४४]।

(२४) काय क्लेश—आसन करना, साज-सज्जा न करना।

(२५) ग्रामानुग्राम-विहार—एक जगह अधिक न रहना।

(२६) रूखा भोजन—रूखा आहार करना।

(२७) अनशन—यावज्जीवन आहार का परित्याग कर देना[४५]।

(२८) विषय की नश्वरता का चिन्तन करना[४६]।

(२९) इन्द्रिय का बहिर्मुखी व्यापार न करना[४७]।

(३०) भविष्य-दर्शन—भविष्य में होनेवाले विपरिणाम को देखना[४८]।

(३१) भोग में रोग का संकल्प करना[४९]।

(३२) अप्रमाद—सदा जागरूक रहना—जो व्यक्ति विकार-हेतुक सामग्री को उच्च मान उसका सेवन करने लगता है, उसे पहले ब्रह्मचर्य में

शंका उत्पन्न होती है फिर क्रमशः आकांक्षा (कामना), विचिकित्सा (फल के प्रति सन्देह), द्विविधा, उन्माद और ब्रह्मचर्य-नाश हो जाता है[५०] ।

इसलिए ब्रह्मचारी को पल-पल सावधान रहना चाहिए। वायु जैसे अग्नि-ज्वाला को पार कर जाता है—वैसे ही जागरूक ब्रह्मचारी काम-भोग की आसक्ति को पार कर जाता है[५१] ।

साधना के स्तर

धर्म की आराधना का लक्ष्य है—मोक्ष-प्राप्ति। मोक्ष पूर्ण है। पूर्ण की प्राप्ति के लिए साधना की पूर्णता चाहिए। वह एक प्रयत्न में ही प्राप्त नहीं होती। ज्यों-ज्यों मोह का बन्धन टूटता है, त्यों-त्यों उसका विकास होता है। मोहात्मक बन्धन की तरतमता के आधार पर साधना के अनेक स्तर निश्चित किये गए हैं।

(१) सुलभ-बोधि—यह पहला स्तर है। इसमें न तो साधना का ज्ञान होता है और न अभ्यास। केवल उसके प्रति एक अज्ञात अनुराग या आकर्षण होता है। सुलभ बोधि व्यक्ति निकट भविष्य में साधना का मार्ग पा सकता है।

(२) सम्यग् दृष्टि—यह दूसरा स्तर है। इसमें साधना का अभ्यास नहीं होता किन्तु उसका ज्ञान सम्यग् होता है।

(३) अणुव्रती—यह तीसरा स्तर है। इसमें साधना का ज्ञान और स्पर्श दोनों होते हैं। अणुव्रती के लिए चार विश्राम-स्थल बताए गए हैं :—

रूपक की भाषा में :—

क—एक भारवाहक बोझ से दबा जा रहा था। उसे जहाँ पहुँचना था, वह स्थान वहाँ से बहुत दूर था। उसने कुछ दूर पहुँच अपनी गठड़ी बाएं से दाहिने कन्धे पर रख ली।

ख—थोड़ा आगे बढ़ा और देह-चिन्ता से निवृत्त होने के लिए गठड़ी नीचे रख दी।

ग—उसे उठा फिर आगे चला। मार्ग लम्बा था। वजन भी बहुत था। इसलिए उसे एक सार्वजनिक स्थान में विश्राम लेने को रुकना पड़ा।

घ—चौथी बार उसने अधिक हिम्मत के साथ उस भार को उठाया और वह ठीक वहीं जा ठहरा, जहाँ उसे जाना था।

गृहस्थ के लिए—(क) पांच शीलव्रतों का और तीन गुणव्रतों का पालन एवं उपवास करना पहला विश्राम है (ख) समायिक तथा देशावकाशिक व्रत लेना दूसरा विश्राम है, (ग) अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पौषध करना तीसरा विश्राम है (घ) अन्तिम मारणांतिक-संलेखना करना चौथा विश्राम है।

(४) प्रतिमा-धर—यह चौथा स्तर है[५१]। प्रतिमा का अर्थ अभिग्रह या प्रतिज्ञा है। इसमें दर्शन और चारित्र दोनों की विशेष शुद्धि का प्रयत्न किया जाता है। इनके नाम, कालमान और विधि इस प्रकार है :—

नाम	कालमान
(१) दर्शन-प्रतिमा	एक मास
(२) व्रत-प्रतिमा	दो मास
(३) सामायिक-प्रतिमा	तीन मास
(४) पौषध-प्रतिमा	चार मास
(५) कायोत्सर्ग-प्रतिमा	पाँच मास
(६) ब्रह्मचर्य-प्रतिमा	छह मास
(७) सचित्ताहार वर्जन-प्रतिमा	सात मास
(८) स्वयं आरम्भ वर्जन-प्रतिमा	आठ मास
(९) प्रेष्यारम्भ वर्जन-प्रतिमा	नव मास
(१०) उद्दिष्ट भक्त वर्जन-प्रतिमा	दस मास
(११) श्रमणभूत-प्रतिमा	ग्यारह मास

विधि :—

पहली प्रतिमा में सर्व-धर्म (पूर्ण-धर्म)—रुचि होना, सम्यक्त्व-विशुद्धि रखना सम्यक्त्व के दोषों को वर्जना।

दूसरी प्रतिमा में पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत धारण करना तथा पौषध-उपवास करना।

तीसरी प्रतिमा में सामायिक और देशावकाशिक व्रत धारण करना।

चौथी प्रतिमा में अष्टमी, चतुर्दशी अमावस्या और पूर्णमासी को प्रतिपूर्ण पौषध-व्रत का पालन करना।

पाँचवीं प्रतिमा में (१) स्नान नहीं करना (२) रात्रि-भोजन नहीं करना (३) धोती की लांग नहीं देना (४) दिन में ब्रह्मचारी रहना (५) रात्रि में मैथुन का परिमाण करना।

छठी प्रतिमा में सर्वथा शील पालना।

सातवीं प्रतिमा में सचित्त-आहार का परित्याग करना।

आठवीं प्रतिमा में स्वयं आरम्भ-समारम्भ न करना।

नौवीं प्रतिमा में नौकर-चाकर आदि से आरम्भ-समारम्भ न कराना।

दशवीं प्रतिमा में उद्दिष्ट भोजन का परित्याग करना, बालों का क्षुर से मुण्डन करना अथवा शिखा धारण करना, घर सम्बन्धी प्रश्न करने पर मैं जानता हूँ या नहीं', इन दो वाक्यों से ज्यादा नहीं बोलना।

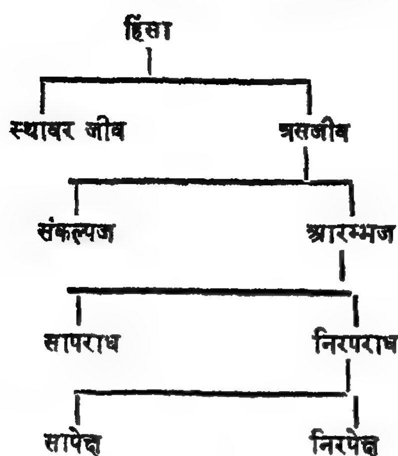
ग्यारहवीं प्रतिमा में क्षुर से मुण्डन करना अथवा लुञ्चन करना और साधु का आचार, भण्डोपकरण एवं वेश धारण करना। केवल ज्ञाति-वर्ग से ही उसका प्रेम-बन्धन नहीं टूटता, इसलिए भिक्षा के लिए केवल ज्ञातिजनों में ही जाना।

(५) प्रमत्त मुनि—यह पाँचवा स्तर है। यह सामाजिक जीवन से पृथक् केवल साधना का जीवन है।

(६) अप्रमत्त-मुनि—यह छठा स्तर है। प्रमत्त-मुनि साधना में स्खलित भी हो जाता है किन्तु अप्रमत्त मुनि कभी स्खलित नहीं होता। अप्रमाद-दशा में वीतराग भाव आता है, केवल-ज्ञान होता है।

(७) अयोगी-यह सातवाँ स्तर है। इससे आत्मा मुक्त होता है।

इस प्रकार साधना के विभिन्न स्तर हैं। इनके अधिकारियों की योग्यता भी विभिन्न होती है। योग्यता की कसौटी वैराग्य भावना या निर्मोह मनोदशा है। उसकी तरतमता के अनुसार ही साधना का आलम्बन लिया जाता है। हिंसा हेय है—यह जानते हुए भी उसे सब नहीं छोड़ सकते। साधना के तीसरे स्तर में हिंसा का आंशिक त्याग होता है। हिंसा के निम्न प्रकार हैं :—



गृहस्थ के लिए आरम्भज कृषि, वाणिज्य आदि में होने वाली हिंसा से बचना कठिन होता है।

गृहस्थ पर कुटुम्ब, समाज और राज्य का दायित्व होता है, इसलिए सापराध या विरोधी हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है।

गृहस्थ को घर आदि को चलाने के लिए बध, बन्ध आदि का सहारा लेना पड़ता है, इसलिए सापेक्ष हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है। वह सामाजिक जीवन के मोह का भार वहन करते हुए केवल संकल्प-पूर्वक निरपराध त्रसजीवों की निरपेक्ष हिंसा से बचता है, यही उसका अहिंसा-अणुव्रत है।

वैराग्य का उत्कर्ष होता है, वह प्रतिमा का पालन करता है। वैराग्य और बढ़ता है तब वह मुनि बनता है।

भूमिका-भेद को समझ कर चलने पर न तो सामाजिक संतुलन बिगड़ता है और न वैराग्य का क्रमिक आरोह भी लुप्त होता है।

समिति

जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए आवश्यक प्रवृत्तियां भी संयममय और संयमपूर्वक होनी चाहिए। वैसी प्रवृत्तियों को समिति कहा जाता है, वे पाँच हैं :—

(१) ईर्या—देखकर चलना।

(२) भाषा—निरवद्य वचन बोलना।

(३) एषणा—निर्दोष और विधिपूर्वक भिक्षा लेना।

(४) आदान-निक्षेप—सावधानी पूर्वक वस्तु को लेना व रखना।

(५) परिष्ठापना—मल-मूत्र का विसर्जन विधिपूर्वक करना। तात्पर्य की भाषा में इनका उद्देश्य है—हिंसा के स्पर्श से बचना।

गुप्ति

असत्-प्रवृत्ति तथा यथासमय सत् प्रवृत्ति का भी संवरण करना गुप्ति है। वे तीन हैं :—

(१) मनो-गुप्ति—मन की स्थिरता—मानसिक प्रवृत्ति का संयमन।

(२) वचन-गुप्ति—मौन।

(३) काय-गुप्ति—कायोत्सर्ग, शरीर का स्थिरीकरण।

मानसिक एकाग्रता के लिए मौन और कायोत्सर्ग अत्यन्त आवश्यक हैं। इसीलिए आत्म-लीन होने से पहले यह संकल्प किया जाता है—"मैं कायोत्सर्ग, मौन और ध्यान के द्वारा आत्म-व्युत्सर्ग करता हूँ—आत्मलीन होता हूँ[५२]।"

आहार

आहार जीवन का साध्य तो नहीं है किन्तु उसकी उपेक्षा की जा सके, वैसा साधन भी नहीं है। यह मान्यता की जरूरत नहीं किन्तु जरूरत की मांग है।

शरीर-शास्त्र की दृष्टि से इस पर सोचा गया है पर इसके दूसरे पहलू बहुत कम छुए गए हैं। यह केवल शरीर पर ही प्रभाव नहीं डालता। उसका प्रभाव मन पर भी होता है। मन अपवित्र रहे तो शरीर की स्थूलता कुछ नहीं करती, केवल पाशविक शक्ति का प्रयोग कर सकती है। उससे सब घबड़ाते हैं।

मन शान्त और पवित्र रहे, उत्तेजनाएँ कम हों—यह अनिवार्य अपेक्षा है। इसके लिए आहार का विवेक होना बहुत जरूरी है। अपने स्वार्थ के लिए बिलखते मूक प्राणियों की निर्मम हत्या करना बहुत ही क्रूर-कर्म है मांसाहार इसका बहुत बड़ा-निमित्त है।

जैनाचार्यों ने आहार के समय, मात्रा और योग्य वस्तुओं के विषय में बहुत गहरा विचार किया है। रात्रि-भोजन का निषेध जैन-परम्परा से चला है। ऊनोदरी को तप का एक प्रकार माना गया। मिताशन पर बहुत बल दिया गया। मद्य, मांस, मादक पदार्थ और विकृति का वर्जन भी साधना के लिए आवश्यक माना गया।

तपयोग

भगवान् ने कहा—गौतम! विजातीय-तत्त्व से वियुक्त कर अपने आप में युक्त करने वाला योग मैंने बारह प्रकार का बतलाया है। उनमें (१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) वृत्ति-संक्षेप, (४) रस-परित्याग, (५) काय-क्लेश, (६) प्रतिसंलीनता—ये छह बहिरङ्ग योग हैं।

(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय (३) वैयावृत्त्य, (४) स्वाध्याय (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग—ये छह अन्तरंग योग हैं।

गौतम ने पूछा—भगवन्! अनशन क्या है?

भगवान्—गौतम! आहार-त्याग का नाम अनशन है। वह (१) इत्वरिक (कुछ समय के लिए) भी होता है, तथा (२) यावत्-कथित (जीवन भर के लिए) भी होता है।

गौतम—भगवन्! ऊनोदरी क्या है?

भगवान्—गौतम! ऊनोदरी का अर्थ है कमी करना।

(१) द्रव्य-ऊनोदरी—खान-पान और उपकरणों की कमी करना।

(२) भाव-ऊनोदरी—क्रोध, मान, माया, लोभ और कलह की कमी करना।

इसी प्रकार जीविका-निर्वाह के साधनों का संकोच करना वृत्ति-संक्षेप है,

सरस आहार का त्याग रस परित्याग है।

प्रतिसंलीनता का अर्थ है—बाहर से हट कर अन्तर् में लीन होना।

उसके चार प्रकार हैं—

(१) इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता।

(२) कषाय-प्रतिसंलीनता—अनुदित क्रोध, मान, माया और लोभ का

निरोध; उदित क्रोध, मान माया और लोभ का विफलीकरण।

(३) योग-प्रतिसंलीनता—अकुशल मन, वाणी और शरीर का निरोध; कुशल मन, वाणी और शरीर का प्रयोग।

(४) विविक्त-शयन-आसन का सेवन[५४]। इसकी तुलना पतञ्जलि के 'प्रत्याहार' से होती है। जैन-प्रक्रिया में प्राणायाम को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। उसके अनुसार विजातीय-द्रव्य या बाह्यभाव का रेचन और अन्तर भाव में स्थिर-भाव—कुम्भक ही वास्तविक प्राणायाम है।

भगवान् ने कहा—गौतम! साधक को चाहिए कि वह इस देह को केवल पूर्व-सञ्चित मल पखालने के लिए धारण करे। पहले के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए ही इसे निबाहे। आसक्ति पूर्वक देह का लालन-पालन करना जीवन का लक्ष्य नहीं है। आसक्ति बन्धन लाती है। जीवन का लक्ष्य है—बन्धन-मुक्ति। वह ऊर्ध्वगामी और सुदूर है[५५]।

भगवान् ने कहा—गौतम! सुख-सुविधा की चाह आसक्ति लाती है। आसक्ति से चैतन्य मूर्च्छित हो जाता है। मूर्च्छा धृष्टता लाती है। धृष्ट व्यक्ति विजय का पथ नहीं पा सकता। इसलिए मैंने यथाशक्ति काय-क्लेश का विधान किया है[५६]।

गौतम ने पूछा भगवन्! काय-क्लेश क्या है?

भगवान्—गौतम! काय-क्लेश के अनेक प्रकार हैं। जैसे—स्थान-स्थिति स्थिर शान्त खड़ा रहना—कायोत्सर्ग। स्थान-स्थिर—शान्त बैठे रहना—आसन। उत्कुटुक-आसन, पद्मासन, वीरासन, निषद्या, लकुट-शयन, दण्डायत—ये आसन हैं। बार-बार इन्हें करना।

आतापना—शीत-ताप सहना, निर्वस्त्र रहना, शरीर की विभूषा न करना, परिकर्म न करना—यह काय-क्लेश है[५७]।

यह अहिंसा—स्थैर्य का साधन है।

भगवान् ने कहा—गौतम! आलोचना (अपने अधर्माचरण का प्रकाशन) पूर्वकृत पाप की विशुद्धि का हेतु है। प्रतिक्रमण—(मेरा दुष्कृत विफल हो—इस भावनापूर्वक अशुभ कर्म से हटना) पूर्वकृत पाप की विशुद्धि का हेतु है।

अशुद्ध वस्तु का परिहार, कायोत्सर्ग, तपस्या—ये सब पूर्वकृत पाप की विशुद्धि के हेतु हैं[५८]।

भगवान् ने कहा—गौतम ! विनय के सात प्रकार हैं—(१) ज्ञान का विनय, (२) श्रद्धा का विनय, (३) चारित्र का विनय और (४) मन-विनय।

अप्रशस्त मन-विनय के बारह प्रकार हैं :—

(१) सावद्य, (२) सक्रिय, (३) कर्कश, (४) कटुक, (५) निष्ठुर, (६) परुष, (७) आस्रवकर, (८) छेदकर, (९) भेदकर, (१०) परिताप कर, (११) उपद्रव कर और (१२) जीव-घातक। इन्हें रोकना चाहिए।

प्रशस्त मन के बारह प्रकार इनके विपरीत हैं। इनका प्रयोग करना चाहिए।

(५) वचन-विनय—मन की भांति अप्रशस्त और प्रशस्त वचन के भी बारह-बारह प्रकार हैं।

(६) काय-विनय—अप्रशस्त-काय-विनय—अनायुक्त (असावधान) वृत्ति से चलना, खड़ा रहना, बैठना, सोना, लांघना प्रलांघना, सब इन्द्रिय और शरीर का प्रयोग करना। यह साधक के लिए वर्जित है। प्रशस्त-काय विनय—आयुक्त (सावधान) वृत्ति से चलना, यावत् शरीर प्रयोग करना—यह साधक के लिए प्रयुज्यमान है।

(७) लोकोपचार-विनय के सात प्रकार हैं :—

(१) बड़ों की इच्छा का सम्मान करना, (२) बड़ों का अनुगमन करना, (३) कार्य करना, (४) कृतज्ञ बने रहना, (५) गुरु के चिन्तन की गवेषणा करना, (६) देश-काल का ज्ञान करना और (७) सर्वथा अनुकूल रहना।

गौतम—भगवन् ! वैयावृत्य क्या है ?

भगवान्—गौतम ! वैयावृत्य का अर्थ है—सेवा करना, संयम को अवलम्बन देना।

साधक के लिए वैयावृत्य के योग्य दश श्रेणी के व्यक्ति हैं :—

(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) शैक्ष-नवासाधक, (४) रोगी,

(५) तपस्वी, (६) स्थविर, (७) साधर्मिक—समान धर्म आचार वाला, (८) कुल, (९) गण, (१०) संघ ।

गौतम—भगवन् ! स्वाध्याय क्या है ?

भगवान्—गौतम ! स्वाध्याय का अर्थ है—आत्म-विकासकारी अध्ययन। इसके पांच प्रकार हैं ।

(१) वाचन, (२) प्रश्न, (३) परिवर्तन-स्मरण, (४) अनुप्रेक्षा-चिन्तन (५) धर्म-कथा ।

गौतम—भगवन्—ध्यान क्या है ?

भगवान्—गौतम ! ध्यान (एकाग्रता और निरोध) के चार प्रकार हैं— (१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म, (४) शुक्ल ।

आर्त्त-ध्यान के चार प्रकार हैं—(१) अमनोज्ञ वस्तु का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए, (२) मनोज्ञ वस्तु का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए, (३) रोग-निवृत्ति के लिए, (४) प्राप्त सुख-सुविधा का वियोग न हो इसके लिए, जो आतुर-भावपूर्वक एकाग्रता होती है, वह आर्त्त-ध्यान है ।

(१) आक्रन्द, (२) शोक, (३) रुदन और (४) विलाप—ये चार उसके लक्षण हैं ।

(१) हिंसानुबन्धी (२) असत्यानुबन्धी (३) चोर्यानुबन्धी प्राप्त भोग के संरक्षण सम्बन्धी जो चिन्तन है, वह रौद्र (क्रूर) ध्यान है ।

(१) स्वल्प हिंसा आदि कर्म का आचरण (२) अधिक हिंसा आदि कर्म का आचरण (३) अनर्थ कारक शस्त्रों का अभ्यास (४) मौत आने तक दोष का प्रायश्चित्त न करना—ये चार उसके लक्षण हैं। ये दो ध्यान वर्जित हैं ।

(१) आज्ञा-निर्णय (आगम या वीतराग वाणी), (२) अपाय, (दोष—हेय)-निर्णय, (३) विपाक (हेय-परिणाम)-निर्णय, (४) संस्थान-निर्णय—यह धर्म-ध्यान है ।

(१) आज्ञारुचि, (२) निसर्गरुचि, (३) उपदेश-रुचि, (४) सूत्र-रुचि—यह चतुर्विध श्रद्धा उसका लक्षण है ।

(१) वाचन, (२) प्रश्न, (३) परिवर्तन, (४) धर्म-कथा—ये चार उसकी अनुप्रेक्षाएं हैं—चिन्त्य विषय हैं। शुक्ल ध्यान के चार प्रकार हैं :—

(१) भेद-चिन्तन (पृथक्त्व-वितर्क-सविचार)

(२) अभेद-चिन्तन (एकत्व-वितर्क-अविचार)

(३) मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति का निरोध (सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति)

(४) श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म प्रवृति का निरोधपूर्ण अकम्पन-दशा (समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति)

(१) विवेक—आत्मा और देह के भेद-ज्ञान का प्रकर्ष।

(२) व्युत्सर्ग—सर्व-संग-परित्याग, (३) अचल उपसर्ग-सहिष्णु।

(४) असम्मोह—ये चार उसके लक्षण हैं।

(१) क्षमा, (२) मुक्ति, (३) आर्जव, (४) मृदुता—ये चार उसके आलम्बन हैं।

(१) अपाय, (२) अशुभ, (३) अनन्त-पुद्गल-परावर्त, (४) वस्तु-परिणमन—ये चार उसकी अनुपेक्षाएं हैं। ये दो ध्यान धर्म और शुक्ल आचरणीय हैं।

वितर्क का अर्थ श्रुत है। विचार का अर्थ है—वस्तु, शब्द और योग का संक्रमण।

ध्येय दृष्टि से वितर्क या श्रुतालम्बन के दो रूप हैं—(१) पृथक्त्व का चिन्तन—एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का चिन्तन। (२) एकत्व का चिन्तन—एक द्रव्य के एक पर्याय का चिन्तन।

ध्येय संक्रान्ति की दृष्टि से शुक्ल-ध्यान के दो रूप बनते हैं—सविचार और अविचार।

(१) सविचार (सकम्प) में ध्येय वस्तु, उसके वाचक शब्द और योग-(मन, वचन और शरीर) का परिवर्तन होता रहता है।

(२) अविचार (अकम्प) में ध्येय वस्तु, उसके वाचक शब्द और योग का परिवर्तन नहीं होता।

भेद चिन्तन की अपेक्षा अभेद-चिन्तन में और संक्रमण की अपेक्षा, संक्रमण-निरोध में ध्यान अधिक परिपक्व होता है।

धर्म-ध्यान के अधिकारी असंयत, देश-संयत, प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयत होते हैं[५९]।

शुक्ल-ध्यान—व्यक्ति की दृष्टि से :—

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार और (२) एकत्व-वितर्क-अविचार के अधिकारी निवृत्ति बादर, अनिवृत्ति बादर, सूक्ष्म-सम्पराय, उपशान्त-मोह और क्षीण-मोह मुनि होते हैं[६०]।

(३) सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाति के अधिकारी सयोगी केवली होते हैं[६१]।

(४) समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति के अधिकारी अयोगी केवली होते हैं[६२]।

योग की दृष्टि से :—

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार—तीन योग (मन, वाणी और काय) वाले व्यक्ति के होता है।

(२) एकत्व-वितर्क-अविचार—तीनों में से किसी एक योग वाले व्यक्ति के होता है।

(३) सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाति—काय-योग वाले व्यक्ति के होता है।

(४) समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति—अयोगी केवली के होता है[६३]।

गौतम—भगवन् ! व्युत्सर्ग क्या है ?

भगवान्—गौतम ! शरीर, सहयोग, उपकरण और खान-पान का त्याग तथा कषाय, संसार और कर्म का त्याग व्युत्सर्ग है[६४]।

श्रमण संस्कृति और श्रामण्य

कर्म को छोड़कर मोक्ष पाना और कर्म का शोधन करते-करते मोक्ष पाना—ये दोनों विचारधाराएं यहाँ रही हैं। दोनों का साध्य एक ही है—"निष्कर्म बन जाना"। भेद सिर्फ प्रक्रिया में है। पहली कर्म के सन्यास की है, दूसरी उसके शोधन की। कर्म-संन्यास साध्य की ओर द्रुत-गति से जाने का क्रम है और कर्म-योग उसकी ओर धीमी गति से आगे बढ़ता है। शोधन का मतलब संन्यास ही है। कर्म के जितने असत् अंशका संन्यास होता है, उतने ही अंश में वह शुद्ध बनता है। इस दृष्टि से यह कर्म-संन्यास का

अनुगामी मन्द-क्रम है। साध्य का स्वरूप निष्कर्म या सर्व-कर्म-निवृत्ति है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति का संन्यास प्रवृत्ति के शोधन की अपेक्षा साध्य के अधिकनिकट है। जैन दर्शन के अनुसार जीवन प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय है, यह सिद्धान्त-पक्ष है। क्रियात्मक पक्ष यह है—प्रवृत्ति के असत् अंश को छोड़ना, सत्-अंश का साधन के रूप में अवलम्बन लेना तथा क्षमता और वैराग्य के अनुरूप निवृत्ति करते जाना। श्रामण्य या संन्यास का मतलब है—असत्-प्रवृत्ति के पूर्ण त्यागात्मक व्रत का ग्रहण और उसकी साधन सामग्री के अनुकूल स्थिति का स्वीकार। यह मोह-नाश का सहज परिणाम है। इसे सामाजिक दृष्टि से नहीं आंका जा सकता। कोरा ममत्व-त्याग हो—पदार्थ-त्याग न हो,—यह मार्ग पहले क्षण में सरस भले लगे पर अन्ततः सरस नहीं है। पदार्थ-संग्रह अपने आप में सदोष या निर्दोष कुछ भी नहीं है। वह व्यक्ति के ममत्व से जुड़कर सदोष बनता है। ममत्व टूटते ही संग्रह का संक्षेप होने लगता है और वह संन्यास की दशा में जीवन-निर्वाह का अनिवार्य साधन मात्र बन रह जाता है। इसीलिए उसे अपरिग्रही या अनिचय कहा जाता है। संस्कारों का शोधन करते-करते कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है, जो पदार्थ-संग्रहके प्रति अल्प-मोह हो, किन्तु यह सामान्य-विधि नहीं है। पदार्थ-संग्रहसे दूर रह कर ही निर्मोह-संस्कार को विकसित किया जा सकता है, असंस्कारी-दशा का लाभ किया जा सकता है—यह सामान्य विधि है।

पदार्थवाद या जड़वाद का युग है। जड़वादी दृष्टिकोण संन्यास को पसन्द ही नहीं करता। उसका लक्ष्य कर्म या प्रवृत्ति से आगे जाता ही नहीं। किन्तु जो आत्मवादी और निर्वाण-वादी हैं, उन्हें कोरी प्रवृत्ति की भूलभुलैया में नहीं भटक जाना चाहिए। संन्यास—जो त्याग का आदर्श और साध्य की साधना का विकसित रूप है, उसके निर्मूलन का भाव नहीं होना चाहिए। यह सारे अध्यात्म-मनीषियों के लिए चिन्तनीय है।

चिन्तन के आलोक में आत्मा का दर्शन नहीं हुआ, तबतक शरीर-सुख ही सब कुछ रहा। जब मनुष्य में विवेक जागा— आत्मा और शरीर दो हैं—यह भेद-ज्ञान हुआ, तब आत्मा साध्य बन गया और शरीर साधन मात्र। आत्म-ज्ञान के बाद आत्मोपलब्धि का क्षेत्र खुला। श्रमणों ने कहा—दृष्टि-मोह

आत्म-दर्शन में बाधा डालता है और चारित्र-मोह आत्म-उपलब्धि में। आत्म-साक्षात्कार के लिये संयम किया जाए, तप तपा जाए। संयम से मोह का प्रवेश रोका जा सकता है, और तपसे संचित मोह का व्यूह तोड़ा जा सकता है।

अकुव्वओ नवं नत्थि, कम्मं नाम वियाणइ।

सूत्र १।१५।७

भव कोडि संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जई।

उत्त० । ३०।६

ऋषियों ने कहा—आत्मा तप और ब्रह्मचर्य द्वारा लभ्य है :—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

ऋग्वेद का एक ऋषि आत्म-ज्ञान की तीव्र जिज्ञासा से कहता है—"मैं नहीं जानता—मैं कौन हूँ अथवा कैसा हूँ[१५]!

वैदिक संस्कृति का जबतक श्रमण-संस्कृति से सम्पर्क नहीं हुआ, तबतक उसमें आश्रम दो ही थे—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ। सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन की सुख-समृद्धि के लिए इतना ही पर्याप्त माना जाता था।

जब क्षत्रिय राजाओं से ब्राह्मण ऋषियों को आत्मा और पुनर्जन्म का बोध-बीज मिला, तबसे आश्रम-परम्परा का विकास हुआ, वे क्रमशः तीन और चार बने।

वेद-संहिता और ब्राह्मणों में संन्यास-आश्रम आवश्यक कहीं नहीं कहा गया है, उल्टा जैमिनि ने वेदों का यही स्पष्ट मत बतलाया है कि गृहस्थाश्रम में रहने से ही मोक्ष मिलता है[१६]। उनका यह कथन कुछ निराधार भी नहीं है। क्योंकि कर्मकाण्ड के इस प्राचीन मार्ग को गौण मानने का आरम्भ उपनिषदों में ही पहले-पहल देखा जाता है[१७]।

श्रमण-परम्परा में क्षत्रियों का प्राधान्य रहा है, और वैदिक-परम्परा में ब्राह्मणों का। उपनिषदों में अनेक ऐसे उल्लेख हैं, जिससे पता चलता है कि ब्राह्मण ऋषि-मुनियों ने क्षत्रिय राजाओं से आत्म-विद्या सीखी।

(१) नचिकेता ने सूर्यवंशी शाखा के राजा वैवस्वत यमके पास आत्मा का रहस्य जाना[६८]।

(२) सनत्कुमार ने नारद से पूछा— बतलाओ तुमने क्या पढ़ा है ? नारद बोले—भगवन् ! मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद याद है, (इनके सिवा) इतिहास पुराण रूप पाँचवाँ वेद……आदि—हे भगवन् ! यह सब मैं जानता हूँ। भगवन् ! मैं केवल मन्त्र-वेत्ता ही हूँ, आत्म-वेत्ता नहीं हूँ। सनत्कुमार आत्मा की एक-एक भूमिका को स्पष्ट करते हुए नारद को परमात्मा की भूमिका तक ले गए,—यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'। जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता वह भूमा है। किन्तु जहाँ और कुछ देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है, वही मर्त्य है—'यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्[६९]।

(३) प्राचीनशाल आदि महा गृहस्थ और महा श्रोत्रिय मिले और परस्पर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है ?— 'को न आत्मा किं ब्रह्मेति' ? वे वैश्वानर आत्मा को जानने के लिए अरुण पुत्र उद्दालक के पास गए। उसे अपनी अक्षमता का अनुभव था। वह उन सबको कैकेय अश्वपति के पास ले गया। राजा ने उन्हें धन देना चाहा। उन मुनियों ने कहा—हम धन लेने नहीं आये हैं। आप वैश्वानर-आत्मा को जानते हैं, इसीलिए वही हमें बतलाइए। फिर राजाने उन्हें वैश्वानर-आत्मा का उपदेश दिया[७०]। काशी नरेश अजातशत्रु ने गार्ग्य को विज्ञानमय पुरुष का तत्त्व समझाया[७१]।

(४) पांचाल के राजा प्रवाहण जैवलि ने गौतम ऋषि से कहा—गौतम ! तू जिस विद्या को लेना चाहता है, वह विद्या तुझसे पहले ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं होती थी। इसलिए सम्पूर्ण लोकों में क्षत्रियों का ही अनुशासन होता रहा है[७२]। प्रवाहण ने आत्मा की गति और आगति के बारे में पूछा। वह विषय बहुत ही अज्ञात रहा है, इसीलिए आचारांग के आरम्भ में कहा गया है—"कुछ लोग नहीं जानते थे कि मेरी आत्मा का पुनर्जन्म होगा

या नहीं होगा? मैं कौन हूँ, पहले कौन था? यहाँ से मरकर कहाँ होऊँगा"[७३]।

श्रमण-परम्परा इन शाश्वत प्रश्नों के समाधान पर ही अवस्थित हुई। यही कारण है कि वह सदा से आत्मदर्शी रही है। देह के पालन की उपेक्षा सम्भव नहीं, किन्तु उसका दृष्टिकोण देह-लक्षी नहीं रहा है। कहा जाता है—श्रमण-परम्परा ने समाज-रचना के बारे में कुछ सोचा ही नहीं। इसमें कुछ तथ्य भी है। भगवान् ऋषभदेव ने पहले समाज-रचना की और फिर वे आत्म-साधना में लगे। भारतीय-जीवन के विकास-क्रम में उनकी देन बहुत ही महत्त्वपूर्ण और बहुत ही प्रारम्भिक है। जिसका उल्लेख वैदिक और जैन—दोनों परम्पराओं में प्रचुरता से मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र, सोमदेव सूरि आदि के अर्हन्नीति, नीतिवाक्यामृत आदि ग्रन्थ समाज-व्यवस्था के सुन्दर ग्रन्थ हैं। यह सच भी है—जैन-बौद्ध मनीषियों ने जितना अध्यात्म पर लिखा, उसका शतांश भी समाज-व्यवस्था के बारे में नहीं लिखा। इसके कारण भी हैं—श्रमण-परम्परा का विकास आत्म-लक्षी दृष्टिकोण के आधार पर हुआ है। निर्वाण-प्राप्ति के लिए शाश्वत-सत्यों की व्याख्या में ही उन्होंने अपने आपको खपाया। समाज-व्यवस्था को वे धर्म से जोड़ना नहीं चाहते थे। धर्म जो आत्म-गुण है, को परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था से जकड़ देने पर तो उसका ध्रुव रूप विकृत हो जाता है।

समाज-व्यवस्था का कार्य समाज-शास्त्रियों के लिए ही है। धार्मिकों को उनके क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मनुस्मृति आदि समाज-व्यवस्था के शास्त्र हैं। वे विधि-ग्रन्थ हैं, मोक्ष-ग्रन्थ नहीं? इन विधि-ग्रन्थों को शाश्वत रूप मिला, वह आज स्वयं प्रश्न-चिह्न बन रहा है। हिन्दू कोड़बिल का विरोध इसीलिए हुआ कि उन परिवर्तनशील विधियों को शाश्वत सत्य का सा रूप मिल गया था श्रमण-परम्परा ने न तो विवाह आदि संस्कारों के अपरिवर्तित रूप का आग्रह रखा और न उन्हें शेष समाज से अलग बनाये रखने का आग्रह ही किया।

सोमदेव सूरि के अनुसार जैनों की वह सारी लौकिक विधि प्रमाण है, जिससे सम्यक् दर्शन में बाधा न आये, व्रतों में दोष न लगे :—

"सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्व हानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम्।"

श्रमण-परम्परा ने धर्म को लौकिक-पक्ष से अलग रखना ही श्रेय समझा। धर्म लोकोत्तर वस्तु है। वह शाश्वत सत्य है। वह द्विरूप नहीं हो सकता। लौकिक विधियाँ भौगोलिक और सामयिक विविधताओं के कारण अनेक रूप होती हैं और उनके रूप बदलते ही रहते हैं। श्री रवीन्द्रनाथ ने 'धर्म और समाज' में लिखा है कि हिन्दू धर्म ने समाज और धर्म को एक-मेक कर दिया, इससे रूढ़िवाद को बहुत प्रश्रय मिला है धर्म शब्द के बहु-अर्थक प्रयोग से भी बहुत व्यामोह फैला है। धर्म-शब्द के प्रयोग पर ही लोग उलझ बैठे। शाश्वत-सत्य और तत्कालीन अपेक्षाओं का विवेक न कर सके। इसीलिए समय-समय पर होने वाले मनीषियों को उनका भेद समझाने का प्रयत्न करना पड़ा। लोकमान्य तिलक के शब्दों में—"महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है और जिस स्थान में कहा गया है कि 'किसी को कोई काम करना धर्म संगत है' उस स्थान में धर्म-शब्द से कर्त्तव्य-शास्त्र अथवा तत्कालीन सामाज-व्यवस्था शास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है, उस स्थान पर अर्थात् शान्ति पूर्वक उत्तरार्ध में 'मोक्ष-धर्म' इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है[७४]।

श्रमण-परम्परा इस विषय में अधिक सतर्क रही है। उसने लोकोत्तर-धर्म के साथ लौकिक विधियों को जोड़ा नहीं। इसीलिए वह बराबर लोकोत्तर पक्ष की सुरक्षा करने में सफल रही है और इसी आधार पर वह व्यापक बन सकी है। यदि श्रमण-परम्परा में भी वैदिकों की भाँति जाति और संस्कारों का आग्रह होता तो करोड़ों चीनी और जापानी कभी भी श्रमण-परम्परा का अनुगमन नहीं करते।

आज जो करोड़ों चीनी और जापानी श्रमण-परम्परा के अनुयायी हैं, वे इसीलिए हैं कि वे अपने संस्कारों और सामाजिक विचारों में स्वतंत्र रहते हुए भी श्रमण-परम्परा के लोकोत्तर पक्ष का अनुसरण कर सकते हैं।

समन्वयकी भाषा में वैदिक परम्परा जीवन का व्यवहार-पक्ष है और श्रमण-परम्परा जीवन का लोकोत्तर पक्ष।

वैदिको व्यवहर्त्तव्यः, कर्त्तव्यः पुनरार्हतः।

लक्ष्य की उपलब्धि उसी के अनुरूप साधना से हो सकती है। आत्मा शरीर, वाणी और मन से परे है और न उन द्वारा प्राप्य है[७५]।

मुक्त आत्मा और ब्रह्म के शुद्ध रूप की मान्यता में दोनों परम्पराएँ लगभग एक मत हैं। कर्म या प्रवृत्ति शरीर, वाणी और मन का कार्य है। इनसे परे जो है, वह निष्कर्म है। श्रामण्य या संन्यास का मतलब है—निष्कर्म-भाव की साधना। इसीका नाम है संयम। पहले चरण में कर्म-मुक्ति नहीं होती। किन्तु संयम का अर्थ है कर्म-मुक्ति के संकल्प से चल कर्म-मुक्ति तक पहुँच जाना, निर्वाण पा लेना।

प्रवर्तक-धर्म के अनुसार वर्ग तीन ही थे—धर्म, काम और अर्थ। चतुर्वर्ग की मान्यता निवर्तक धर्म की देन है। निवर्तक-धर्म के प्रभाव से मोक्ष की मान्यता व्यापक बनी। आश्रम की व्यवस्था में भी विकल्प आ गया, जिसके स्पष्ट निर्देश हमें जाबालोपनिषद्, गौतम धर्म-सूत्र आदि में मिलते हैं—ब्रह्मचर्य पूरा करके गृही बनना, गृह में से बनी (वानप्रस्थ) होकर प्रव्रज्या—संन्यास लेना, अथवा ब्रह्मचर्याश्रम से ही गृहस्थाश्रम या वानप्रस्थाश्रम से ही प्रव्रज्या लेना। जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो जाए, उसी दिन प्रव्रज्या लेना[७६]।

पं० सुखलाल जी ने आश्रम-विकास की मान्यता के बारे में लिखा है—'जान पड़ता है, इस देश में जब प्रवर्तक धर्मानुयायी वैदिक आर्य पहले पहल आये, तब भी कहीं न कहीं इस देश में निवर्त्तक धर्म एक या दूसरे रूप में प्रचलित था। शुरू में इन दो धर्म-संस्थाओं के विचारों में पर्याप्त संघर्ष रहा, पर निवर्तक-धर्म के इने-गिने सच्चे अनुगामियों की तपस्या, ध्यान-प्रणाली और असंगचर्या का साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे-धीरे पड़ रहा था, उसने प्रवर्तक धर्म के कुछ अनुगामियों को भी अपनी ओर खींचा और निवर्त्तक-धर्म की संस्थाओं का अनेक रूप में विकास होना शुरू हुआ। इसका प्रभावशाली फल अन्त में यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म के आधारभूत जो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रम माने जाते थे, उनके स्थान में प्रवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ताओंने पहले तो

वानप्रस्थ सहित तीन और पीछे संन्यास सहित चार आश्रमों को जीवन में स्थान में दिया। निवर्त्तक-धर्म की अनेक संस्थाओं के बढ़ते हुए जन-व्यापी प्रभाव के कारण अन्त में तो यहाँ तक प्रवर्तक धर्मानुयायी ब्राह्मणों ने विधान मान लिया कि गृहस्थाश्रम के बाद जैसे संन्यास न्याय प्राप्त है, वैसे ही अगर तीव्र वैराग्य हो तो गृहस्थाश्रम बिना किए भी सीधे ब्रह्मचर्याश्रम से प्रव्रज्या-मार्ग न्याय-प्राप्त है। इस तरह जो निवर्त्तक धर्म का जीवन में समन्वय स्थिर हुआ, उसका फल हम दार्शनिक साहित्य और प्रजा-जीवन में आज भी देखते हैं[७७]।

मोक्ष की मान्यता के बाद गृह-त्याग का सिद्धान्त स्थिर हो गया। वैदिक ऋषियों ने आश्रम-पद्धति से जो संन्यास की व्यवस्था की, वह भी यान्त्रिक होने के कारण निर्विकल्प न रह सकी। संन्यास का मूल अन्तःकरण का वैराग्य है। वह सब को आये, या अमुक अवस्था के ही बाद आये, पहले न आये, ऐसा विधान नहीं किया जा सकता। संन्यास आत्मिक-विधान है, यान्त्रिक स्थिति उसे जकड़ नहीं सकती। श्रमण-परम्परा ने दो ही विकल्प माने—अगार धर्म और अणगार धर्म—"अगार-धम्मं अणगार धम्मं च"[७८]।

श्रमण-परम्परा गृहस्थ को नीच और श्रमण को उच्च मानती है, यह निरपेक्ष नहीं है। साधना के क्षेत्र में नीच-ऊंच का विकल्प नहीं है। वहाँ संयम ही सब कुछ है। महावीर के शब्दों में—'कई गृह त्यागी भिक्षुओं की अपेक्षा कुछ गृहस्थों का संयम प्रधान है और उनकी अपेक्षा साधनाशील संयमी मुनियों का संयम प्रधान है[७९]।

श्रेष्ठता व्यक्ति नहीं, संयम है। संयम और तप का अनुशीलन करने वाले, शान्त रहने वाले भिक्षु और गृहस्थ—दोनों का अगला जीवन भी तेजोमय बनता है[८०]।

समता-धर्म को पालने वाला, श्रद्धाशील और शिक्षा-सम्पन्न गृहस्थ घर में रहता हुआ भी मौत के बाद स्वर्ग में जाता है[८१]।

किन्तु संयम का चरम-विकास मुनि-जीवन में ही हो सकता है। निर्वाण-लाभ मुनि को ही हो सकता है—यह श्रमण-परम्परा का ध्रुव अभिमत है।

मुनि-जीवन की योग्यता उन्हीं में आती है, जिनमें तीव्र वैराग्य का उदय हो जाए।

ब्राह्मण-वेषधारी इन्द्र ने राजर्षि नमि से कहा—"राजर्षि! गृहवास घोर आश्रम है। तुम इसे छोड़ दूसरे आश्रम में जाना चाहते हो, यह उचित नहीं। तुम यहीं रहो और यहीं धर्म-पोषक कार्य करो।

नमि राजर्षि बोले—ब्राह्मण! मास-मास का उपवास करनेवाला और पारणा में कुश की नोक टिके उतना स्वल्प आहार खाने वाला गृहस्थ मुनि-धर्म की सोलहवीं कला की तुलना में भी नहीं आता[८२]।

जिसे शाश्वत घर में विश्वास नहीं, वही नश्वर घर का निर्माण करता है[८३]।

यही है तीव्र वैराग्य। मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से विचार न हो, तब गृहवास ही सब कुछ है। उस दृष्टि से विचार किया जाए, तब आत्म-साक्षात्कार ही सब कुछ है। गृहवास और गृहत्याग का आधार है—आत्म-विकास का तारतम्य। गौतम ने पूछा—भगवन्! गृहवास असार है और गृह-त्याग सार—यह जानकर भला घर में कौन रहे? भगवान् ने कहा—गौतम! जो प्रमत्त हो वही रहे और कौन रहे[८४]।

किन्तु यह ध्यान रहे, श्रमण-परम्परा वेष को महत्त्व देती भी है और नहीं भी। साधना के अनुकूल वातावरण भी चाहिए—इस दृष्टि से वेष-परिवर्तन गृहवास का त्याग आदि-आदि बाहरी वातावरण की विशुद्धि का भी महत्त्व है। आन्तरिक विशुद्धि का उत्कृष्ट उदय होने पर गृहस्थ या किसी के भी वेष में आत्मा मुक्त हो सकता है[८५]।

मुक्ति—वेष या बाहरी वातावरण के कृत्रिम परिवर्तन से नहीं होती, किन्तु आत्मिक उदय से होती है। आत्मा का सहज उदय किसी विरल व्यक्ति में ही होता है। उसे सामान्य मार्ग नहीं माना जा सकता। सामान्य मार्ग यह है कि मुमुक्षु व्यक्ति अभ्यास करते-करते मुक्ति-लाभ करते हैं। अभ्यास के क्रमिक विकास के लिए बाहरी वातावरण को उसके अनुकूल बनाना आवश्यक है। साधना आखिर मार्ग है, प्राप्ति नहीं। मार्ग में चलने वाला भटक भी सकता है। जैन-आगमों और बौद्ध-पिटकों में ऐसा यत्न किया गया है, जिससे

साधक न भटके। ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य में विचिकित्सा न हो—इसलिए एकान्तवास, दृष्टि-संयम, स्वाद-विजय, मिताहार, स्पर्श-त्याग आदि-आदि का विधान किया है। स्थूलिभद्र या जनक जैसे अपवादों को ध्यान में रख कर इस सामान्य विधि का तिरस्कार नहीं किया जा सकता।

आत्मिक-उदय और अनुदय की परम्परा में पलने वाला पुरुष भटक भी सकता है, किन्तु वह ब्रह्मचर्य के आचार और विनय का परिणाम नहीं है। ब्रह्मचारी संसर्ग से बचे, यह मान्यता भय नहीं किन्तु सुरक्षा है। संसर्ग से बचने वाले भिक्षु कामुक बने और संसर्ग करने वाले—साथ-साथ रहने वाले स्त्री-पुरुष-कामुक नहीं बने—यह क्वचित् उदाहरण मात्र हो सकता है, सिद्धान्त नहीं। सिद्धान्ततः ब्रह्मचर्य के अनुकूल सामग्री पाने वाला ब्रह्मचारी हो सकता है। उसके प्रतिकूल सामग्री में नहीं। भुक्ति और मुक्ति दोनों साथ चलते हैं, यह तथ्य श्रमण-परम्परा में मान्य रहा है। पर उन दोनों की दिशाएं दो हैं और स्वरूपतः वे दो हैं, यह तथ्य कभी भी नहीं भुलाया गया। भुक्ति सामान्य जीवन का लक्ष्य हो सकता है, किन्तु वह आत्मोदयी जीवन का लक्ष्य नहीं है। मुक्ति आत्मोदय का लक्ष्य है। आत्म-लक्षी व्यक्ति भुक्ति को जीवन की दुर्बलता मान सकता है, सम्पूर्णता नहीं। समाज में भोग प्रधान माने जाते हैं—यह चिरकालीन अनुभूति है, किन्तु श्रमण-धर्म का अनुगामी वह है जो भोग से विरक्त हो जाए, आत्म-साक्षात्कार के लिए उद्यत हो जाए[८१]।

इस विचारधारा ने विलासी समाज पर अंकुश का कार्य किया। "नहीं वेरेण वेराइं, सम्मंतीध कदाचन"—इस तथ्य ने भारतीय मानस को उस उत्कर्ष तक पहुँचाया, जिस तक—"जिते च लभ्यते लक्ष्मी-र्मृते चापि सुरांगना" का विचार पहुँच ही नहीं सका।

जैन और बौद्ध शासकों ने भारतीय समृद्धि को बहुत सफलता से बढ़ाया है। भारत का पतन विलास, आपसी फूट और स्वार्थपरता से हुआ है, त्याग परक संस्कृति से नहीं। कइयों ने यह दिखलाने का यत्न किया है कि श्रमण-परम्परा कर्म-विमुख होकर भारतीय संस्कृति के विकास में बाधक रही है। इसका कारण दृष्टिकोण का भेद ही हो सकता है। कर्म की व्याख्या में भेद होना एक बात है और कर्म का निरसन दूसरी बात। श्रमण-परम्परा के

अनुसार कोरे ज्ञानवादी जो कहते हैं, किन्तु करते नहीं, वे अपने आपको केवल वाणी के द्वारा आश्वासन देते हैं[८७]।

"सम्यग्-ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः"—"यह जैनों का सर्व विदित वाक्य है। कर्म का नाश मोक्ष में होता है या मुक्त होने के आसपास। इससे पहले कर्म को रोका ही नहीं जा सकता। कर्म प्रत्येक व्यक्ति में होता है। भेद यह रहता है कि कौन किस दशा में उसे लगता है और कौन किस कर्म को हेय और किसे उपादेय मानता है।

श्रमण-परम्परा के दो पक्ष हैं—गृहस्थ और श्रमण। गृहस्थ-जीवन के पक्ष दो होते हैं—लौकिक और लोकोत्तर। श्रमण-जीवन का पक्ष केवल लोकोत्तर होता है। श्रमण-परम्परा के आचार्य लौकिक कर्म को लोकोत्तर कर्म की भांति एक रूप और अपरिवर्तनशील नहीं मानते। इसलिए उन्होंने गृहस्थ के लिए भी केवल लोकोत्तर कर्मों का विधान किया है, श्रमणों के लिए तो ऐसा है ही।

गृहस्थ अपने लौकिक पक्ष की उपेक्षा कर ही कैसे सकते हैं और वे ऐसा कर नहीं सकते, इसी दृष्टि से उनके लिए व्रतों का विधान किया गया, जबकि श्रमणों के लिए महाव्रतों की व्यवस्था हुई।

श्रमण कुछ एक ही हो सकते हैं। समाज का बड़ा भाग गृहस्थ जीवन बिताता है। गृहस्थ के लौकिक पक्ष में—"कौन सा कर्म उचित है और कौन सा अनुचित"—इसका निर्णय देने का अधिकार समाज-शास्त्र को है, मोक्ष शास्त्र को नहीं। मोक्ष-साधना की दृष्टि से कर्म और अकर्म की परिभाषा यह है—'कोई कर्म को वीर्य कहते हैं और कोई अकर्म को। सभी मनुष्य इन्हीं दोनों से घिरे हुए हैं[८८]। प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म—"पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं[८९]।

प्रमाद को बाल वीर्य और अप्रमाद को पंडित-वीर्य कहा जाता है। जितना असंयम है, वह सब बाल-वीर्य या सकर्म-वीर्य है और जितना संयम है, सब पंडित-वीर्य या अकर्म-वीर्य है[९०]। जो अबुद्ध है, असम्यक्-दर्शी है, और असंयमी है, उसका पराक्रम—प्रमाद-वीर्य बन्धन कारक होता है[९१]। और जो बुद्ध है, सम्यक्-दर्शी है और संयमी है उनका पराक्रम—अप्रमाद-वीर्य मुक्ति-कारक होता है[९२]। मोक्ष-साधना की दृष्टि से गृहस्थ और श्रमण—दोनों के

लिए अप्रमाद-वीर्य या अकर्म-वीर्य का विधान है। यह अकर्मण्यता नहीं किन्तु कर्म का शोधन है। कर्म का शोधन करते-करते कर्म-मुक्त हो जाना, यही है श्रमण-परम्परा के अनुसार मुक्ति का क्रम। वैदिक परम्परा को भी यह अमान्य नहीं है। यदि उसे यह अमान्य होता तो वे वैदिक ऋषि वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम को क्यों अपनाते। इन दोनों में गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी कर्मों की विमुखता बढ़ती है। गृहस्थाश्रम से साध्य की साधना पूर्ण होती प्रतीत नहीं हुई, इसीलिए अगले दो आश्रमों की उपादेयता लगी और उन्हें अपनाया गया। जिसे बाहरी चिह्न बदल कर अपने चारों ओर अस्वाभाविक वातावरण उत्पन्न करना कहा जाता है, वह सबके लिए समान है। श्रमण और संन्यासी दोनों ने ऐसा किया है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के नियमों को कृत्रिमता का बाना पहनाया जाए तो इस कृत्रिमता से कोई भी परम्परा नहीं बची है। जिस किसी भी परम्परा में संसार-त्याग को आदर्श माना है, उसमें संसार से दूर रहने की भी शिक्षा दी है। मुक्ति का अर्थ ही संसार से विरक्ति है। संसार का मतलब गाँव या अरण्य नहीं, गृहस्थ और संन्यासी का वेष नहीं, स्त्री और पुरुष नहीं। संसार का मतलब है—जन्म-मरण की परम्परा और उसका कारण। वह है—मोह। मोह का स्रोत ऊपर भी है, नीचे भी है और सामने भी है—"उड्ढं सोया, अहे सोया, तिरयं सोय" (आचारांग)।

मोह-रहित व्यक्ति गांव में भी साधना कर सकता है और अरण्य में भी। श्रमण-परम्परा कोरे वेष-परिवर्तन को कब महत्त्व देती है। भगवान् ने कहा—"वह पास भी नहीं है, दूर भी नहीं है भोगी भी नहीं है, त्यागी भी नहीं है[१३]। भोग छोड़ा आसक्ति नहीं छोड़ी—वह न भोगी है न त्यागी। भोगी इसलिए नहीं कि वह भोग नहीं भोगता। त्यागी इसलिए नहीं कि वह भोग की वासना त्याग नहीं सका। पराधीन होकर भोग का त्याग करने वाला त्यागी या श्रमण नहीं है। त्यागी या श्रमण वह है जो स्वाधीन भावना पूर्वक स्वाधीन भोग से दूर रहता है[१४]। यही है श्रमण का श्रामण्य।

आश्रम-व्यवस्था श्रौत नहीं है, किन्तु स्मार्त्त है। लोकमान्य तिलक के अनुसार—'कर्म कर' और 'कर्म छोड़' वेद की ऐसी जो दो प्रकार की आज्ञाएं

हैं, उनकी एक वाक्यता दिखलाने के लिए आयु के भेद के अनुसार आश्रमों की व्यवस्था स्मृतिकारों ने की है[१५]।

समाज व्यवस्था के विचार से "कर्म करो" यह आवश्यक है। मोक्ष-साधना के विचार से "कर्म छोड़ो"—यह आवश्यक है। पहली दृष्टि से गृहस्थाश्रम की महिमा गाई गई[१६]। दूसरी दृष्टि से संन्यास को सर्व-श्रेष्ठ कहा गया—

प्रव्रजेच्च परं स्थातुं पारिव्राज्यमनुत्तमम्[१७]—

दोनों स्थितियों को एक ही दृष्टि से देखने पर विरोध आता है। दोनों को भिन्न दृष्टिकोण से देखा जाए तो दोनों का अपना-अपना क्षेत्र है, टक्कर की कोई बात ही नहीं। संन्यास-आश्रम के विरोध में जो वाक्य हैं, वे सम्भवतः उसकी ओर अधिक झुकाव होने के कारण लिखे गए। संन्यास की ओर अधिक झुकाव होना समाज-व्यवस्था की दृष्टि से स्मृतिकारों को नहीं रुचा। इसलिए उन्होंने ऋण चुकाने के बाद ही संसार-त्याग का, संन्यास लेने का विधान किया। गृहस्थाश्रम का कर्त्तव्य पूरा किये बिना जो श्रमण बनता है, उसका जीवन थोथा और दुःखमय है—यह महाभारत की घोषणा भी उसी कोटि का प्रतिकारात्मक भाव है। किन्तु यह समाज-व्यवस्था का विरोध अन्तःकरण की भावना को रोक नहीं सका।

श्रमण-परम्परा में श्रमण बनने का मानदण्ड यही—'संवेग' रहा है। जिन में वैराग्य का पूर्णोदय न हो, उनके लिए गृहवास है ही। वे घर में रहकर भी अपनी क्षमता के अनुसार मोक्ष की ओर आगे बढ़ सकते हैं। इस समग्र दृष्टिकोण से विचार किया जाए तथा आयु की दृष्टि से विचार किया जाए तो आश्रम-व्यवस्था का यांत्रिक स्वरूप हृदयंगम नहीं होता। आज के लिए तो ७५ वर्ष की आयु के बाद संन्यासी होना प्रायिक अपवाद ही हो सकता है, सामान्य विधि नहीं। अब रही कर्म की बात। खान-पान से लेकर कायिक, वाचिक और मानसिक सारी प्रवृत्तियाँ कर्म हैं। लोकमान्य के अनुसार जीना मरना भी कर्म है[१८]।

गृहस्थ के लिए भी कुछ कर्म निषिध माने गए हैं। गृहस्थ के लिए विहित कर्म भी संन्यासी के लिए निषिद्ध माने गए हैं[१९]। संक्षेप में "सर्वारम्भ

सर्वत्याग" का आदर्श सभी आत्मवादी परम्पराओं में रहा है और उसकी आधार भूमि है—संन्यास। गृहवास की अपूर्णता से संन्यास का, भुक्ति की अपूर्णता से मुक्ति का, कर्म की अपूर्णता से ज्ञान का, स्वर्ग की अपूर्णता से अपवर्ग का और प्रवृत्ति की अपूर्णता से निवृत्ति का महत्त्व बढ़ा। ये भुक्ति आदि जीवन के अवश्यम्भावी अंग हैं और मुक्ति आदि लक्ष्य—इसी विवेक के सहारे भारतीथ आदर्शों की समानान्तर रेखाएं निर्मित हुई हैं।

तीस

श्रमण-परम्परा

विश्वभर के दर्शन सम और असम रेखाओं से भरे पड़े हैं। चिन्तन और अनुभूति की धारा सरल और वक्र-दोनों प्रकार बहती रही है। साम्य और असाम्य का अन्वेषण मात्रा-भेद के आधार पर होता है। केवल साम्य या असाम्य ढूँढ़ने की वृत्ति सफल नहीं होती।

श्रमण-परम्परा की सारी शाखाएं दो विशाल शाखाओं में सिमट गईं। जैन और बौद्ध-दर्शन के आश्चर्यकारी साम्य को देख—"एक ही सरिता की दो धाराएँ बही हों"—ऐसा प्रतीत होने लगता है।

भगवान् पार्श्व की परम्परा अनुस्यूत हुई हो—यह मानना कल्पना-गौरव नहीं होगा।

शब्दों गाथाओं और भावनाओं की समता इन्हें किसी एक उत्स के दो प्रवाह मानने को विवश किए देती है।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध—दोनों श्रमण, तीर्थ व धर्म-चक्र के प्रवर्तक, लोक-भाषा के प्रयोक्ता और दुख-मुक्ति की साधना के संगम-स्थल थे।

भगवान् महावीर कठोर तपश्चर्या और ध्यान के द्वारा केवली बने। महात्मा बुद्ध छह वर्ष की कठोर-चर्या से सन्तुष्ट नहीं हुए, तब ध्यान में लगे। उससे सम्बोधि-लाभ हुआ।

कैवल्य-लाभ के बाद भगवान् महावीर ने जो कहा, वह द्वादशांग—गणिपिटक में गुंथा हुआ है।

बोधि-लाभ के बाद महात्मा बुद्ध ने जो कहा, वह त्रिपिटक में गुंथा हुआ है।

तत्त्व—तथ्य या आर्य सत्य

भगवान् महावीर ने—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा, मोक्ष—

इन नव तत्त्वों का निरूपण किया[1]।

महात्मा बुद्ध ने—दुःख, दुःख-समुदय, निरोध, मार्ग—

इन चार आर्य-सत्यों का निरूपण किया[२]।

दुःख

भगवान् महावीर ने कहा—पुण्य-पाप का बन्ध ही संसार है। संसार दुःखमय है। जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है, मरण दुःख है[३]।

पाप-कर्म किया हुआ है तथा किया जा रहा है, वह सब दुःख है[४]।

महात्मा बुद्ध ने कहा—पैदा होना दुःख है, बूढ़ा होना दुःख है, व्याधि दुःख है, मरना दुःख है[५]।

विज्ञान

भगवान् महावीर ने कहा—

(१) जितने स्थूल अवयवी हैं, वे सब पाँच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श वाले हैं—मूर्त्त या रूपी हैं[६]।

(२) चक्षु रूप का ग्राहक है और रूप उसका ग्राह्य है।
कान शब्द का ग्राहक है और शब्द उसका ग्राह्य है।
नाक गन्ध का ग्राहक है और गन्ध उसका ग्राह्य है।
जीभ रस की ग्राहक है और रस उसका ग्राह्य है।
काय (त्वक्) स्पर्श का ग्राहक है और स्पर्श उसका ग्राह्य है।
मन-भाव (अभिप्राय) का ग्राहक है और भाव उसका ग्राह्य है।
चक्षु और रूप के उचित सामीप्य से चक्षु-विज्ञान होता है।
कान और शब्द के स्पर्श से श्रोत्र-विज्ञान होता है।
नाक और गन्ध के सम्बन्ध से घ्राण-विज्ञान होता है।
जीभ और रस के सम्बन्ध से रसना-विज्ञान होता है।
काय और स्पर्श के सम्बन्ध से स्पर्शन-विज्ञान होता है।
चिन्तन के द्वारा मनोविज्ञान होता है।

इन्द्रिय-विज्ञान रूपी का ही होता है। मनो-विज्ञान रूपी और अरूपी दोनों का होता है[७]।

वेदना

(१) अनुकूल वेदना के छह प्रकार हैं :—

(१) चक्षु-सुख (२) श्रोत्र-सुख (३) घ्राण-सुख (४) जिह्वा-सुख (५) स्पर्शन-सुख (६) मन-सुख[८]।

प्रतिकूल वेदना के छह प्रकार हैं—

(१) चक्षु-दुःख (२) श्रोत्र-दुःख (३) घ्राण-दुःख (४) जिह्वा-दुःख (५) स्पर्शन दुःख (६) मन-दुःख[९]।

संज्ञा

(४) चार संज्ञाएं (पूर्वानुभूत विषय की स्मृति और अनागत की चिन्ता या विषय की अभिलाषा) है—

(१) आहार-संज्ञा (२) भय-संज्ञा (३) मैथुन-संज्ञा (४) परिग्रह-संज्ञा[१०]।

संस्कार

(५) वासना—पांच इन्द्रिय और मन की धारणा के बाद की दशा है[११]।

उपादान

महात्मा बुद्ध ने कहा—भिक्षुओ ! जिस प्रकार काठ वल्ली, तृण तथा मिट्टी मिलाकर 'आकाश' (खला) को घेर लेते हैं और उसे घर कहते हैं, इसी प्रकार हड्डी, रगें, मांस तथा चर्म मिलकर आकाश को घेर लेते हैं और उसे 'रूप' कहते हैं।

आँख और रूप से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह चक्षु-विज्ञान कहलाता है। कान और शब्द से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह श्रोत्र-विज्ञान कहलाता है। नाक और गन्ध से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह घ्राण-विज्ञान कहलाता है। काय (स्पर्शेन्द्रिय) और स्पृशतव्य से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह काय-विज्ञान कहलाता है।

मन तथा धर्म (मन-इन्द्रिय के विषय) से जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह मनोविज्ञान कहलाता है।

उस विज्ञान में का जो रूप है, वह रूप-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है[१२]।

उस विज्ञान में की जो वेदना है, वह वेदना उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है, उस विज्ञान में की जो संज्ञा है, वह संज्ञा-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है, जो उस विज्ञान में के जो संस्कार है, वह संस्कार उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत हैं।

जो उस विज्ञान (चित्त) में का विज्ञान (मात्र) है, वह विज्ञान—उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत है।

भिक्षुओ ! यदि कोई कहे कि बिना रूप के, बिना वेदना के, बिना संज्ञा के, बिना संस्कार के, विज्ञान—चित्त-मन की उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, उत्पन्न होना, वृद्धि तथा विपुलता को प्राप्त होना—हो सकता है, तो यह असम्भव है [१३]।

दुःखवाद भारतीय दर्शन का पहला आकर्षण है। जन्म, मृत्यु, रोग और बुढ़ापे को दुःख[१४] और अज, अमर, अजर, अरुज को सुख माना गया है[१५]।

विचार-बिन्दु

जन्म, मृत्यु, रोग और बुढ़ापा—ये परिणाम हैं। महात्मा बुद्ध ने इन्हीं के निर्मूलन पर बल दिया। उसमें से करुणा का स्रोत बहा।

भगवान् महावीर ने दुःख के कारणों को भी दुःख माना और उनके उन्मूलन की दशा में ही जनता का ध्यान खींचा[१६]। उसमें से संयम और अहिंसा का स्रोत बहा।

दुःख का कारण

भगवान् महावीर ने कहा—बलाका अण्डे से और अण्डा बलाका से पैदा होता है, वैसे ही मोह—तृष्णा से और तृष्णा मोह से पैदा होती है[१७]।

प्रिय रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और भाव राग को उभारते हैं।

अप्रिय रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और भाव द्वेष को उभारते हैं।

प्रिय-विषयों में आदमी फंस जाता है। अप्रिय-विषयों से दूर भागता है। प्रिय-विषयों में अतृप्त आदमी परिग्रह में आसक्त बनता है। असन्तोष के दुःख से दुखी बनकर वह चोरी करता है।

तृष्णा से पराजित व्यक्ति के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं, वह दुःख-मुक्ति नहीं पा सकता[१८]।

चोरी करने वाले के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं, वह दुःख-मुक्ति नहीं पा सकता[१९]।

प्रिय विषयों में अतृप्त व्यक्ति के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं, वह दुःख-मुक्ति नहीं पा सकता[२०]।

परिग्रह में आसक्त व्यक्ति के माया-मृषा और लोभ बढ़ते हैं, वह दुःख-मुक्ति नहीं पा सकता[२१]।

दुःख आरम्भ से पैदा होता है[२२]।

दुःख हिंसा से पैदा होता है[२३]।

दुःख कामना से पैदा होता है[२४]।

जहाँ आरम्भ है, हिंसा, है, कामना है, वहाँ राग-द्वेष है। जहाँ राग-द्वेष है—वहाँ क्रोध, मान, माया, लोभ, घृणा, हर्ष, विषाद, हास्य, भय, शोक और वासनाएं हैं[२५]। जहाँ ये सब हैं, वहाँ कर्म (बन्धन) है। जहाँ कर्म है, वहाँ संसार है; जहाँ संसार है, वहाँ जन्म है। जहाँ जन्म है, वहाँ जरा है, रोग है, मौत है। जहाँ ये हैं, वहाँ दुःख है[२६]।

भव-तृष्णा विषैली बेल है। यह भयंकर है और इसके फल बड़े डरावने होते हैं[२७]।

महात्मा बुद्ध ने कहा—मनुष्य अपनी आंख से रूप देखता है। प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियकर हो तो उससे दूर भागता है। कान से शब्द सुनता है, प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। घ्राण से गन्ध सूंघता है, प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। जिह्वा से रस चखता है, प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। काय से स्पर्श करता है, प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है, अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है। मन से मन के विषय (धर्म) का चिन्तन करता है, प्रियकर लगे तो उसमें आसक्त हो जाता है। अप्रियकर लगे तो उससे दूर भागता है।

इस प्रकार आसक्त होनेवाला तथा दूर भागनेवाला जिस दुःख-सुख वा अदुख-असुख, किसी भी प्रकार की वेदना-अनुभूति का अनुभव करता है, वह उस वेदना में आनन्द लेता है, प्रशंसा करता है, उसे अपनाता है। वेदना को जो अपना बनाना है, वही उसमें राग उत्पन्न होना है। वेदना में जो राग है,

वही उपादान है। जहाँ उपादान है, वहाँ भव है, जहाँ भव है, वहाँ पैदा होना है, जहाँ पैदा होना है, वहाँ बूढ़ा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, पीड़ित होना, चिन्तित होना, परेशान होना—सब हैं। इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख का समुदय होता है।

दुःख निरोध

भगवान् महावीर ने कहा—ये अर्थ—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—प्रिय भी नहीं हैं, अप्रिय भी नहीं हैं, हितकर भी नहीं हैं, अहितकर भी नहीं हैं। ये प्रियता और अप्रियता के निमित्तमात्र हैं। उनके उपादान राग और द्वेष हैं, इस प्रकार अपने में छिपे रोग को जो पकड़ लेता है, उसमें समता या मध्यस्थ-वृत्ति पैदा होती है। उसकी तृष्णा क्षीण हो जाती है। विरक्ति आने के बाद ये अर्थ प्रियता भी पैदा नहीं करते, अप्रियता भी पैदा नहीं करते[२८]।

जहाँ विरक्ति है, वहाँ विरति है। जहाँ विरति है, वहाँ शान्ति है, जहाँ शान्ति है वहाँ निर्वाण है[२९]।

सब द्वन्द्व मिट जाते हैं—आधि-व्याधि, जन्म-मौत आदि का अन्त होता है, वह शान्ति है।

द्वन्द्व के कारण भूतकर्म विलीन हो जाते हैं, वह निरोध है। यही दुःख निरोध है[३०]।

महात्मा बुद्ध ने कहा—काम-तृष्णा और भव-तृष्णा से मुक्त होने पर प्राणी फिर जन्म ग्रहण नहीं करता[३१]। क्योंकि तृष्णा के सम्पूर्ण निरोध से उपादान निरूद्ध हो जाता है। उपादान निरूद्ध हुआ तो भव निरूद्ध। भव निरूद्ध हुआ तो पैदाइस निरूद्ध। पैदा होना निरूद्ध हुआ तो बूढ़ा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, पीड़ित होना, चिन्तित होना, परेशान होना—यह सब निरूद्ध हो जाता है। इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख-स्कन्ध का निरोध होता है।

भिक्षुओं! यह जो रूप का निरोध है, उपशमन है, अस्त होना है—यही दुःख का निरोध है, रोगों का उपशमन है, जरामरण का अस्त होना है। यह जो वेदना का निरोध है, संज्ञा का निरोध है, संस्कारों का निरोध है तथा

विज्ञान का निरोध है, उपशमन है, अस्त होना है, यही दुःख का निरोध है, रोगों का उपशमन है, जरा-मरण का अस्त होना है।

यही शान्ति है, यही श्रेष्ठता है, यह जो सभी संस्कारों का शमन, सभी चित्त-मलों का त्याग, तृष्णा का क्षय, विराग-स्वरूप, निरोध स्वरूप निर्वाण है।

दुःख निरोध का मार्ग

भगवान् महावीर ने ऋजु मार्ग को देखा[३२]। वह ऋजु (सीधा) है, इसलिए महाघोर है[३३], दुश्चर है[३४]।

वह अनुत्तर है, विशुद्ध है, सब दुःखों का अन्त करनेवाला है[३५] उसके चार अङ्ग हैं[३६]।

सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चरित्र, सम्यक्-तप।

इसकी अल्प-आराधना करने वाला अल्प-दुःखों से मुक्त होता है।

इसकी मध्यम आराधना करने वाला सब दुःखों से मुक्त होता है।

इसकी पूर्ण आराधना करने वाला सब दुःखों से मुक्त होता है।

यह जो कामोपभोग का हीन, ग्राम्य, अशिष्ट, अनार्य, अनर्थंकर जीवन है और यह जो अपने शरीर को व्यर्थ क्लेश देने का का दुःखमय, अनार्य, अनर्थंकर जीवन है, इन दोनों सिरे की बातों से बचकर तथागत ने मध्यम-मार्ग का ज्ञान प्राप्त किया जो कि आँख खोल देनेवाला है, ज्ञान करा देने वाला है, शमन के लिए, अभिज्ञा के लिए, बोध के लिए, निर्वाण के लिए होता है—

यही आर्य अष्टांगिक मार्ग दुःख-निरोध की ओर ले जाने वाला है; जो कि यूँ है—

१	सम्यक् दृष्टि	प्रज्ञा
२	सम्यक् संकल्प	
३	सम्यक् वाणी	शील
४	सम्यक् कर्मान्त	
५	सम्यक् आजीविका	

६	सम्यक् व्यायाम	समाधि
७	सम्यक् स्मृति	
८	सम्यक् समाधि	

निर्मल ज्ञान की प्राप्ति के लिए यही एक मार्ग है और कोई मार्ग नहीं[३७]। इस मार्ग पर चलने से तुम दुःख का नाश करोगे।

विचार बिन्दु

महात्मा बुद्ध ने केवल मध्यम-मार्ग का आश्रय लिया। उसमें आपद्-धर्मों या अपवादों का प्राचुर्य रहा। भगवान् महावीर आपद्-धर्मों से दूर होकर चले। काय-क्लेश को उन्होंने अहिंसा के विकास के लिए आवश्यक माना। किन्तु साथ-साथ यह भी कहा कि बल, श्रद्धा, आरोग्य, क्षेत्र और काल की मर्यादा को समझकर ही आत्मा को तपश्चर्या में लगाना चाहिए[३८]।

गृहस्थ-श्रावकों के लिए जो मार्ग है, वह मध्यम-मार्ग है।

चार सत्य

महात्मा बुद्ध ने चार सत्यों का निरूपण व्यवहार की भूमिका पर किया जबकि भगवान्-महावीर के नव तत्त्वों का निरूपण अधिक दार्शनिक है।

संसार, संसार-हेतु, मोक्ष और मोक्ष का उपाय—ये चार सत्य पातञ्जल भाष्यकार ने भी माने हैं।

उन्होंने इसकी चिकित्सा-शास्त्र के चार अङ्गों—रोग, रोग-हेतु, आरोग्य और भैषज्य से तुलना की है।

महात्मा बुद्ध ने कहा—भिक्षुओं! "जीव (आत्मा) और शरीर भिन्न-भिन्न हैं—ऐसा मत रहने से श्रेष्ठ-जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता[३९]। और जीव (आत्मा) तथा शरीर दोनों एक हैं"—ऐसा मत रहने से भी श्रेष्ठ जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता।

इसलिए भिक्षुओ! इन दोनों सिरे की बातों को छोड़कर तथागत बीच के धर्म का उपदेश देते हैं—

अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने

से नामरूप, नामरूप के होने से छह आयतन, छह आयतनों के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जन्म, जन्म के होने से बुढ़ापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दुःख, मानसिक चिन्ता तथा परेशानी होती है। इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख-स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। भिक्षुओं! इसे प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं।

अविद्या के ही सम्पूर्ण विराग से, निरोध से संस्कारों का निरोध होता है। संस्कारों के निरोध से विज्ञान-निरोध, विज्ञान के निरोध से नामरूप निरोध, नामरूप के निरोध से छह आयतनों का निरोध, छह आयतनों के निरोध से स्पर्श का निरोध, स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध, उपादान के निरोध से भव-निरोध, भव के निरोध से जन्म का निरोध, जन्म के निरोध से बुढ़ापा, शोक, रोने-पीटने, दुःख मानसिक चिन्ता तथा परेशानी का निरोध होता है। इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख-स्कन्ध का निरोध होता है।

भगवान् महावीर ने जीव और अजीव का स्पष्ट व्याकरण किया। उनने कहा—जीव शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। जीव चेतन है, शरीर जड़ है—इस दृष्टि से दोनों भिन्न भी हैं। संसारी जीव शरीर से बन्धा हुआ है, उसी के द्वारा अभिव्यक्त और प्रवृत्त होते हैं, इसलिए वे अभिन्न भी हैं।

आत्मा नहीं है, वह नित्य नहीं है, कर्त्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है, मोक्ष नहीं हैं, मोक्ष का उपाय नहीं है—ये छह मिथ्या-दृष्टि के स्थान हैं[४०]।

आत्मा है, वह नित्य भी है, कर्त्ता है, भोक्ता है, मोक्ष है, मोक्ष का उपाय है—ये छह सम्यक्-दृष्टि के स्थान हैं[४१]।

जीव और अजीव—ये दो मूल तत्त्व हैं। यह विश्व का निरूपण है[४२]।

पुण्य, पाप और बन्ध—यह दुःख (संसार) है[४३]! आस्रव दुःख (संसार) का हेतु है। मोक्ष दुःख (संसार) का निरोध है। संवर और निर्जरा दुःख निरोध (मोक्ष) के उपाय हैं।

जीव और अजीव—ये दो मूलभूत तत्त्व हैं। अजीव से जीव के विश्लेषण की प्रक्रिया का अर्थ है—साधना। शेष सात तत्त्व साधना के अङ्ग हैं। संक्षिप्त रूप में ये सात तत्त्व और चार आर्य-सत्य सर्वथा भिन्न नहीं हैं।

साम्प्रदायिक-सापेक्षता

सामञ्जस्य का आधार मध्यम-मार्ग

शांति और समन्वय

सह-अस्तित्व की धारा

सह-अस्तित्व का आधार-संयम

स्वत्व की मर्यादा

निष्कर्ष

नयः सापेक्ष दृष्टियां

दुर्नयः निर्पेक्ष दृष्टियां

साम्य-दर्शन

दर्शन के सत्य ध्रुव होते हैं। उनकी अपेक्षा त्रैकालिक होती है। मानव-समाज की कुछ समस्याएं बनती-मिटती रहती हैं। किन्तु कुछ समस्याएं मौलिक होती हैं। वार्तमानिक समस्या का समाधान करने का उत्तरदायित्व वर्तमान के समाज-दर्शन पर होता है। दर्शन उन समस्याओं का समाधान देता है, जो मौलिक होने के साथ-साथ दूसरी समस्याओं को उत्पन्न भी करती है।

वैषम्य, शस्त्रीकरण और युद्ध—ये त्रैकालिक समस्याएं हैं। किन्तु वर्तमान में ये उग्र बन रही हैं। अणु-युग में शस्त्रीकरण और युद्ध के नाम प्रलय की सम्भावना उपस्थित कर देते हैं। आज के मनीषी इस सम्भावना के अन्त का मार्ग ढूंढ रहे हैं। मार्क्स ने साम्य का मार्ग खोज निकाला। समाज-दर्शन में उसका विशिष्ट स्थान है। उसके पीछे शक्ति का सुदृढ़ तन्त्र है। इसलिए उसे साम्य का स्वतन्त्र-विकासात्मक रूप नहीं कहा जा सकता। भगवान् महावीर ने साम्य का जो स्वर-उद्बुद्ध किया, वह आज अधिक मननीय है। भगवान् ने कहा—"प्रत्येक दर्शन को पहले जानकर मैं प्रश्न करता हूं, हे वादियो! तुम्हें सुख अप्रिय है या दुःख अप्रिय?" यदि तुम स्वीकार करते हो कि दुःख अप्रिय है तो तुम्हारी तरह ही सर्व प्राणियों को, सर्व भूतों को, सर्व जीवों को और सर्व सत्वों को दुःख महा भयंकर, अनिष्ट और अशान्तिकर है[1]। "जैसे मुझे कोई बेंत, हड्डी, मुष्टि, कंकर, ठिकरी आदि से मारे, पीटे, तोड़े, तर्जन करे, दुःख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राण-हरण करे तो मुझे दुःख होता है, जैसे मृत्यु से लगाकर रोम उखाड़ने तक से मुझे दुःख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और तत्त्वों को होता है"—यह सोचकर किसी भी प्राणी, भूत, जीव व सत्त्व को नहीं मारना चाहिए, उस पर हुकूमत नहीं करनी चाहिए, उसे परिताप नहीं पहुंचाना चाहिए, उसे उद्विग्न नहीं करना चाहिए[2]।

इस साम्य-दर्शन के पीछे शक्ति का तन्त्र नहीं है, इसलिए यह समाज को अधिक समृद्ध बना सकता है। समूचा विश्व अहिंसा या साम्य की चर्चा कर

रहा है। इस संस्कार की पृष्ठभूमि में जैन दर्शन की महत्त्वपूर्ण देन है। कायिक और मानसिक अहिंसा और उसकी वैयक्तिक और सामाजिक साधना का सुव्यवस्थित रूप जैन तीर्थंकरों ने दिया, यह इतिहास द्वारा भी अभिमत है।

निःशस्त्रीकरण (शस्त्र-परिज्ञा)

जीवन की सारी चर्याओं का प्रधान-स्रोत आत्म-चर्या है। उसके दो पक्ष हैं—आचार और विचार। आचार का फल विचार है। विचार का सार आचार है। आचार से विचार का सम्वादन होता है, पोष मिलता है। विचार से आचार को प्रकाश मिलता है।

आचार का प्रधान अंग निःशस्त्रीकरण है।

पाषाण-युग से अणुयुग तक जितने उत्पीड़क और मारक शस्त्रों का आविष्कार हुआ है, वे निष्क्रिय-शस्त्र (द्रव्य-शस्त्र) हैं। उनमें स्वतः प्रेरित घातक-शक्ति नहीं है।

भगवान् ने कहा—गौतम ! सक्रिय-शस्त्र (भाव-शस्त्र) असंयम है। विध्वंस का मूल वही है। निष्क्रिय-शस्त्रों में प्राण फूंकनेवाला भी वही है। उसे भली-भाँति समझ कर छोड़ने का यत्न करना ही निःशस्त्रीकरण है।

शस्त्रीकरण के हेतु

भगवान् ने कहा—यह मनुष्य (१) चिरकाल तक जीने के लिए, (२ ४) प्रतिष्ठा, सम्मान और प्रशंसा के लिए, (५) जन्म-मृत्यु से मुक्त होने के लिए, (६) दुःख-मुक्ति के लिए—शस्त्रीकरण करता है[३]।

प्रतिष्ठा का व्यामोह

"आज तक नहीं किया गया, वह करूंगा" इस भूल-भुलैया में फंसे हुए लोग भटक जाते हैं। वे दूसरों को डराते हैं, सताते हैं, मारते हैं, लूट खसौट करते हैं[४]।

वे नहीं जानते कि मौत के करोड़ों दरवाजे हैं[५]।

जीवन दौड़ रहा है।

वे नहीं देखते कि मौत के लिए कोई दिन छुट्टी का नहीं है[६]।

जीवन नश्वर है।

वे नहीं सोचते कि मौत के समय कोई शरण नहीं देता[७]।

जीवन अत्राण है।

शस्त्रीकरण का परिणाम

शस्त्रीकरण करने वाला, कराने वाला, उसका अनुमोदन करने वाला एक दिशा से दूसरी दिशा में पर्यटन करता है। उनके स्थान निम्न होते हैं :— कोई अन्धा होता है तो कोई काना, कोई बहरा होता है तो कोई गूंगा, कोई कुबड़ा और कोई बौना, कोई काला और कोई चितकबरा—यूं उनका संसार रंग विरंगा होता है[८]।

नेतृत्व का महत्त्व

जो व्यक्ति शस्त्र-प्रयोग के द्वारा दूसरों को जीतना चाहते हैं—वे दिक्-मूढ़ हैं। लोक-विजय के लिए शस्त्रीकरण को प्रोत्साहन देने वाले जनता को घोर अन्धकार में ले जा रहे हैं। वे कल्याण-कारक नेता नहीं हैं। दिक्-मूढ़ नेता और उसका अनुगामी समाज, ये दोनों अन्त में पछताते हैं[९]। अन्धा अन्धों को सही पथ पर नहीं ले जा सकता[१०]। इसलिए नेतृत्व का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। सफल नेता वही हो सकता है, जो दूसरों के अधिकारों को कुचले बिना निजी स्रोतों को ही विकासशील बनाए।

पाण्डित्य

जो समय को समझता है, उसका मूल्य आंकता है, वह पण्डित है[११]। वह व्यामूढ़ नहीं बनता। वह समय को समझ कर चलता है। मंद व्यक्ति मोह के भार से दब जाता है। वह न आर-गामी होता है और न पारगामी—न इधर का रहता है और न उधर का[१२]। जो व्यक्ति अलोभ से लोभ को जीतते हैं, वे पारगामी हैं; जन-मानस के सम्राट् हैं[१३]।

लोक-विजय के लिए जन-बल और शस्त्र-बल का संग्रह और प्रयोग करने वाले अदूरदर्शी हैं[१४]। दूरदर्शी जो होते हैं, वे शस्त्र-प्रयोग न करते, न करवाते और न करनेवाले का समर्थन ही करते। लोक-विजय का यही मार्ग है। इसे समझने वाला कहीं भी नहीं बंधता। वह अपनी स्वतंत्र बुद्धि और स्वतन्त्र गति से चलता है[१५]।

शस्त्र-प्रयोक्ता

जो प्रमत्त हैं, वे शस्त्र का प्रयोग करते हैं। जो काम-भोग के अर्थी हैं, वे शस्त्र का प्रयोग करते हैं। भगवान् ने कहा—अपने या पर के लिए या बिना प्रयोजन ही जो शस्त्र का प्रयोग करते हैं, वे विपदा के भँवर में फँस जाते हैं[१६]।

अविवेक और विवेक

भगवान् ने कहा—शस्त्रीकरण अविवेक (अपरिज्ञा) है। इसके कटु परिणामों को जान कर जो इसे छोड़ देता है, वह विवेक (परिज्ञा) है[१७]।

निःशस्त्रीकरण का अधिकारी

भगवान् ने कहा—गौतम ! मैं पहले कहाँ था ? कहाँ से आया हूँ ? पहले कौन था आगे क्या होऊँगा ? यह संज्ञान जिसे नहीं होता, वह अनात्मवादी है।

अनात्मवादी निःशस्त्रीकरण नहीं कर सकता[१८]। इन दिशाओं और अनुदिशाओं में सञ्चारी तत्त्व जो है, वह मैं ही हूँ (सोऽहम्), इसे जाननेवाला आत्मा को जानता है, लोक को जानता है, कर्म को जानता है, क्रिया को जानता है।

आत्मा को जानने वाला ही निःशस्त्रीकरण कर सकता है[१९]।

शस्त्र-प्रयोग से दूर

जो अपनी पीर जानता है, वही दूसरों की पीर जान सकता है[२०]। जो दूसरों की पीर जानता है, वही अपनी पीर जान सकता है[२१]।

सुख दुःख की अनुभूति व्यक्ति-व्यक्ति की अपनी होती है। आत्म-तुला की यथार्थ अनुभूति हुए बिना प्रत्येक जीव सभी जीवों के 'शस्त्र' (हिंसक) होते हैं[२२]।

'अशस्त्र' (अहिंसक) वे ही हो सकते हैं, जिन्हें साम्य और अभेद में कोई भेद न जान पड़े। भगवान्‌ने अहिंसा के उच्च-शिखर से पुकारा - पुरुष ! देख—"जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है, जिस पर तू शासन करना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू कष्ट देना चाहता है, वह तू ही है, जिसे तू अधीन करना चाहता है, वह तू ही है जिसे तू सताना चाहता है, वह तू ही

है[२३]।" हंतव्य और घातक, शासितव्य और शासक में समता है किन्तु एकत्व नहीं है। कर्त्ता के साथ क्रिया दौड़ती है और उसका परिणाम पीछे लगा आता है। सरल चक्षु से देखता है, वह दूसरों को मारने में अपनी मौत देखता है, दूसरों को शासित और अधीन करने में अपनी परवशता देखता है, दूसरों को सताने में अपना सन्ताप देखता है। एक शब्द में क्रिया की प्रतिक्रिया (अनु-संवेदन) देखता है, इसलिए वह किसी को भी मारना व अधीन करना नहीं चाहता।

शस्त्रीकरण (पाप) से वे ही बच सकते हैं, जो गम्भीरता (अध्यात्म-दृष्टि) पूर्वक शस्त्र-प्रयोग में अपना अहित देखते है[२४]।

जो खेदज्ञ हैं, वे ही अशस्त्र का मर्म जानते हैं, जो अशस्त्र का मर्म जानते हैं, वे ही खेदज्ञ हैं[२५]।

जो दूसरों की आशंका, भय या लाज से शस्त्रीकरण नहीं करते, वे तत्काल-दृष्टि (अन्-अध्यात्म-दृष्टि—बहिर्-दृष्टि) हैं। वे समय आने पर शस्त्री-करण से बच नहीं सकते[२६]।

अशस्त्र की उपासना

जो सर्वदा और सर्वथा अशस्त्र है, वही परमात्मा है। अशस्त्रीकरण की ओर प्रगति ही उसकी उपासना है। आत्माएं अनन्त हैं। वे किसी एक ही विशाल-वृक्ष के अवयव मात्र नहीं हैं। सबकी स्वतन्त्र सत्ता है[२७]।

जो व्यक्ति दूसरी आत्माओं की प्रभु-सत्ता में हस्तक्षेप करते हैं, वे परमात्मा की उपासना नहीं कर सकते।

भगवान् ने कहा—सर्व-जीव-समता का आचरण ही सत्य है। इसे केन्द्र-बिन्दु मान चलने वाले ही परमात्मा की उपासना कर सकते हैं[२८]।

मित्र और शत्रु

भगवान् ने कहा—पुरुष ! बाहर क्या ढूंढ रहा है ! अन्दर आ और देख तू ही तेरा मित्र है[२९]। ओ पुरुष ! तू ही तेरा मित्र और तू ही तेरा शत्रु है जो किसी का भी अमित्र नहीं, वही अपने आपका मित्र है[३०]। जो किसी एक का भी अमित्र है, वह सबका अमित्र है—आत्मा की सर्व-सम-सत्ता का अमित्र है[३१]।

जो आत्मा के अमित्र हैं, वे परमात्मा की उपासना नहीं कर सकते।

चैतन्य का सूक्ष्म जगत्

जो व्यक्ति सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व नहीं मानते, वे अपना अस्तित्व भी नहीं मानते। जो अपना अस्तित्व नहीं मानते हैं, वे ही सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व नहीं मानते। वे अनात्मवादी हैं। आत्मवादी ऐसा नहीं करते। वे जैसे अपना अस्तित्व मानते हैं, वैसे ही सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व भी मानते हैं[३२]।

मिट्टी का एक ढेला, जल की एक बूंद, अग्नि का एक कण, कोंपल को हिला सके उतनी सी वायु में असंख्य जीव हैं। सुई की नोक टिके, उतनी वनस्पति में असंख्य या अनन्त जीव हैं।

ज्ञान और वेदना (अनुभूति)

जीव के दो विशेष गुण हैं—ज्ञान और वेदना (सुख-दुःख की अनुभूति)।

अमनस्क (जिनके मन नहीं होता, उन) जीवों का ज्ञान अस्पष्ट होता है, वेदना स्पष्ट होती है[३३]।

समनस्क (जिनके मन होता है, उन) जीवों का ज्ञान और वेदना दोनों स्पष्ट होते हैं[३४]।

भगवान् ने विशाल ज्ञान-चक्षु से देखा और कहा—गौतम! इन छोटे जीवों में भी सुख-दुख की संवेदना है[३५]।

अहिंसा का सिद्धान्त

प्राणी मात्र को जीना प्रिय है, मौत अप्रिय; सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय। इसलिए मतिमान् मनुष्य को किसी का प्राण न लूटना चाहिए[३६]।

जीव-वध न करना ही ज्ञानी के ज्ञान का सार है और यही अहिंसा का सिद्धान्त है[३७]।

हिंसा चोरी है

सूक्ष्म जीव अपने प्राण लूटने की स्वीकृति कब देते हैं? जो व्यक्ति बलात् उनके प्राण लूटते हैं, वे उनकी चोरी करते हैं[३८]।

निःशस्त्रीकरण की आधारशिला—सब जीव समान हैं

(क) परिमाण की दृष्टि से :—

जीवों के शरीर भले छोटे हों या बड़े, आत्मा सब में समान है। चींटी और हाथी—दोनों की आत्मा समान है[३९]।

भगवान् ने कहा—गौतम ! चार वस्तुएं समतुल्य हैं—आकाश (लोकाकाश), गति-सहायक-तत्त्व (धर्म), स्थिति-सहायक-तत्त्व (अधर्म) और एक जीव—इन चारों के अवयव बराबर हैं[४०]। तीन व्यापक हैं। जीव कर्म शरीर से बंधा हुआ रहता है, इसलिए वह व्यापक नहीं बन सकता। उसका परिमाण शरीर-व्यापी होता है। शरीर—मनुष्य, पशु, पक्षी—इन जातियों के अनुरूप होता है शरीर-भेद के कारण प्रसरण-भेद होने पर भी जीव के मौलिक परिमाण में कोई न्यूनाधिक्य नहीं होता। इसलिए परिमाण की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(ख) ज्ञान की दृष्टि से :—

मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति का ज्ञान सब से कम विकसित होता है। ये एकेन्द्रिय हैं। इन्हें केवल स्पर्श की अनुभूति होती है। इनकी शारीरिक दशा दयनीय होती है। इन्हें छूने मात्र से अपार कष्ट होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, अमनस्क पंचेन्द्रिय, समनस्क पंचेन्द्रिय—ये जीवों के क्रमिक विकास-शील वर्ग हैं। ज्ञान का विकास सब जीवों में समान नहीं होता किन्तु ज्ञान-शक्ति सब जीवों में समान होती है। प्राणी मात्र में अनन्त ज्ञान का सामर्थ्य है, इसलिए ज्ञान-सामर्थ्य की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(ग) वीर्य की दृष्टि से :—

कई जीव प्रचुर उत्साह और क्रियात्मक वीर्य से सम्पन्न होते हैं तो कई उनके धनी नहीं होते। शारीरिक तथा पारिपार्श्विक साधनों की न्यूनाधिकता व उच्चावचता के कारण ऐसा होता है। आत्म-वीर्य या योग्यतात्मक वीर्य में कोई न्यूनाधिक्य व उच्चावचत्व नहीं होता, इसलिए योग्यतात्मक वीर्य की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(घ) अपौद्गलिकता की दृष्टि से :—

किन्हीं का शरीर सुन्दर, जन्म-स्थान पवित्र व व्यक्तित्व आकर्षक होता हैं और किन्हीं का इसके विपरीत होता हैं।

कई जीव लम्बा जीवन जीते हैं, कई छोटा, कई यश पाते हैं और कई नहीं पाते या कुयश पाते हैं, कई उच्च कहलाते हैं और कई नीच, कई सुख की अनुभूति करते हैं और कई दुःख की। ये सब पौद्‌गलिक उपकरण हैं। जीव अपौद्‌गलिक है, इसलिए अपौद्‌गलिकता की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(ङ) निरुपाधिक स्वभाव की दृष्टि से :—

कई व्यक्ति हिंसा करते हैं—कई नहीं करते, कई झूठ बोलते हैं—कई नहीं बोलते, कई चोरी और संग्रह करते हैं—कई नहीं करते, कई वासना में फँसते हैं—कई नहीं फँसते। इस वैषम्य का कारण मोह (मोहक-पुद्‌गलों) का उदय व अनुदय है। मोह के उदय से व्यक्ति में विकार आता है। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये विकार (विभाव) हैं। मोह के अनुदय से व्यक्ति स्वभाव में रहता है—अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह स्वभाव है। विकार औपाधिक होता है। निरुपाधिक स्वभाव की दृष्टि से सब जीव समान हैं।

(च) स्वभाव-बीज की समता की दृष्टि से :—

आत्मा परमात्मा है। पौद्‌गलिक उपाधियों से बन्धा हुआ जीव संसारी-आत्मा है। उनसे मुक्त जीव परमात्मा है। परमात्मा के आठ लक्षण हैं :—

(१) अनन्त-ज्ञान, (२) अनन्त-दर्शन, (३) अनन्त-आनन्द, (४) अनन्त-पवित्रता, (५) अपुनरावर्तन, (६) अमूर्तता—अपौद्‌गलिकता, (७) अगुरु-लघुता—पूर्ण साम्य, (८) अनन्त-शक्ति।

इन आठों के बीज प्राणीमात्र में सममात्र होते हैं। विकास का तारतम्य होता है। विकास की दृष्टि से भेद होते हुए भी स्वभाव-बीज की साम्य-दृष्टि से सब जीव समान हैं।

यह आत्मौपम्य या सर्व-जीव-समता का सिद्धान्त ही निःशस्त्रीकरण की आधार-शिला है।

आत्मा का सम्मान

आत्मा से आत्मा का सजातीय सम्बन्ध है। पुद्‌गल उसका विजातीय

तत्त्व है। जाति और रंग-रूप—ये पौद्गलिक हैं। सजातीय की उपेक्षा कर विजातीय को महत्त्व देना प्रमाद है।

चक्षुष्मन्! तू देख, जो प्रमादी हैं वे स्वतन्त्रता से कोसों दूर हैं[४१]। प्रमादी को चारों ओर से डर ही डर लगता है। अप्रमादी को कहीं भी डर नहीं दीखता[४२]।

जहाँ जाति, कुल, रंग-रूप, शक्ति, ऐश्वर्य, अधिकार, विद्या और तपस्या का गर्व है वहाँ आत्मा का तिरस्कार है। आत्मा का सम्मान करनेवाला ही नम्र होता है। वह ऊँचा उठता है[४३]।

पुद्गल का सम्मान करनेवाला उद्धत है, वह नीचे जाता है[४४]।

आत्मा का सर्व-सम-सत्ता को सम्मान देनेवाला ही लोक-विजेता बन सकता है।

वस्तु-सत्य

भगवान् महावीर ने कहा—जो है उसे मिटाने की मत सोचो। तुम्हारा अस्तित्व तुम्हें प्यारा है, उनका अस्तित्व उन्हें प्यारा है। जो नहीं है, उसे बनाने की मत सोचो।

डोरी को इस प्रकार खींचो कि गांठ न पड़े। मनुष्य को इस प्रकार चलाओ कि लड़ाई न हो। बालों को इस प्रकार संवारो कि उलझन न बने। विचारों को इस प्रकार ढालो कि भिड़न्त न हो। तात्पर्य की भाषा में—आक्षेप और आक्रमण की नीति मत बरतो। उससे गांठ घुलती है, युद्ध छिड़ते हैं, बाल उलझते हैं और चिनगारियाँ उछलती हैं।

भगवान् ने कहा—आक्षेप-नीति के पीछे यथार्थ-दृष्टिकोण और तटस्थभाव नहीं होता, इसलिए वह आग्रह, दुर्नय और एकान्त की नीति है। आक्षेप को छोड़ो, सत्य उतर आएगा।

भगवान् ने कहा—एक ओर यह अखण्ड विश्व की अविभक्त-सत्ता है और दूसरी ओर यह खण्ड का चरम रूप व्यक्ति है।

व्यक्ति का आक्षेप करनेवाली सत्ता और सत्ता का आक्षेप करनेवाला व्यक्ति—दोनों भटके हुए हैं। सत्ता का स्व व्यक्ति है। व्यक्ति की विशाल शृङ्खला सत्ता है। सापेक्षता में दोनों का रूप निखर उठता है।

यह व्यक्ति और समष्टि की सापेक्ष-नीति जैन-दर्शन का नय है। इसके अनुसार समष्टि-सापेक्ष व्यक्ति और व्यक्ति-सापेक्ष समष्टि—दोनों सत्य हैं। समष्टि-निरपेक्ष-व्यक्ति और व्यक्ति-निरपेक्ष-समष्टि—दोनों मिथ्या हैं।

व्यवहार-सत्य

नय-वाद ध्रुव सत्य की अपरिहार्य व्याख्या है। यह जितना दार्शनिक सत्य है, उतना ही व्यवहार-सत्य है। हमारा जीवन वैयक्तिक भी है और सामुदायिक भी। इन दोनों कक्षाओं में नय की अर्हता है।

सापेक्ष नीति से व्यवहार में सामञ्जस्य आता है। उसका परिणाम है मैत्री, शान्ति और व्यवस्था। निरपेक्ष-नीति अवहेलना, तिरस्कार और घृणा पैदा करती है। परिवार, जाति, गांव, राज्य, राष्ट्र और विश्व—ये क्रमिक विकासशील संगठन है। संगठन का अर्थ है सापेक्षता। सापेक्षता का नियम जो दो के लिए है, वही अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के लिए है।

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की अवहेलना कर अपना प्रभुत्व साधता है, वहाँ असमंजसता खड़ी हो जाती है। उसका परिणाम है—कटुता, संघर्ष और अशान्ति।

निरपेक्षता के पाँच रूप बनते हैं :—

१—वैयक्तिक, २—जातीय, ३—सामाजिक, ४—राष्ट्रीय, ५—अन्तर्-राष्ट्रीय।

इसके परिणाम हैं—वर्ग-भेद, अलगाव, अव्यवस्था, संघर्ष, शक्ति-क्षय, युद्ध और अशान्ति।

सापेक्षता के रूप भी पाँच हैं :—

१—वैयक्तिक, २—जातीय, ३—सामाजिक, ४—राष्ट्रीय ५—अन्तर्-राष्ट्रीय।

इसके परिणाम हैं—समता-प्रधान-जीवन, सामीप्य, व्यवस्था, स्नेह, शक्ति-संवर्धन, मैत्री और शान्ति।

व्यक्ति और समुदाय

व्यक्ति अकेला ही नहीं आता। वह बन्धन के बीज साथ लिए आता है। अपने हाथों उन्हें सींच विशाल वृक्ष बना लेता है। वही निकुञ्ज उसके लिए

बन्धन-गृह बन जाता है। बन्धन लादे जाते हैं, यह दिखाऊ सत्य है। टिकाऊ सत्य यह है कि बन्धन स्वयं विकसित किए जाते हैं।

उन्हीं के द्वारा वैयक्तिकता समुदाय से जुड़कर सीमित हो जाती है। वैयक्तिकता और सामुदायिकता के बीच भेद-रेखा खींचना सरल कार्य नहीं है। व्यक्ति-व्यक्ति ही है। सब स्थितियों में वह व्यक्ति ही रहता है। जन्म, मौत और अनुभूति का क्षेत्र व्यक्ति की वैयक्तिकता है। सामुदायिकता की व्याख्या पारस्परिकता के द्वारा ही की जा सकती है। दो या अनेक की जो पारस्परिकता है, वही समुदाय है।

पारस्परिकता की सीमा से इधर जो कुछ भी है, वह वैयक्तिकता है। व्यक्ति का आन्तरिक क्षेत्र वैयक्तिक है, वह उससे जितना बाहर जाता है उतना ही सामुदायिक बनता चलता है।

व्यक्ति को समाज-निरपेक्ष और समाज को व्यक्ति-निरपेक्ष मानना एकान्त पार्थक्यवादी नीति है। इससे दोनों की स्थिति असमञ्जस बनती है।

समन्वयवादी नीति के अनुसार व्यक्ति और समाज की स्थिति सापेक्ष है। कहीं व्यक्ति गौण बनता है, समाज मुख्य और कहीं समाज गौण बनता है और व्यक्ति मुख्य।

इस स्थिति में स्नेह का प्रादुर्भाव होता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे मथनी के रूपक में चित्रित किया है। मन्थन के समय एक हाथ आगे आता है, दूसरा पीछे चला जाता है। दूसरा आगे आता है, पहला पीछे सरक जाता है। इस सापेक्ष मुख्यामुख्य भाव से स्नेह मिलता है। एकान्त आग्रह से खिंचाव बढ़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीय-निरपेक्षता

बहुता और अल्पता, व्यक्ति और समूह के ऐकान्तिक आग्रह पर असन्तुलन बढ़ता है, सामञ्जस्य की कड़ी टूट जाती है।

अधिकतम मनुष्यों का अधिकतम हित—यह जो सामाजिक उपयोगिता का सिद्धान्त है, वह निरपेक्ष नीति पर आधारित है। इसीके आधार पर हिटलर ने यहूदियों पर मनमाना अत्याचार किया।

बहु संख्यकों के लिए अल्प संख्यकों तथा बड़ों के लिए छोटों के हितों का बलिदान करने के सिद्धान्त का औचित्य एकान्तवाद की देन है।

सामन्तवादी युग में बड़ों के लिए छोटों के हितों का त्याग उचित माना जाता था। बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों तथा बड़े राष्ट्रों के लिए छोटे राष्ट्रों की उपेक्षा आज भी होती है। यह अशान्ति का हेतु बनता है। सापेक्ष-नीति के अनुसार किसी के लिए भी किसी का अनिष्ट नहीं किया जा सकता।

बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों को नगण्य मान उन्हें आगे आने का अवसर नहीं देते। इस निरपेक्ष-नीति की प्रतिक्रिया होती है। फलस्वरूप छोटे राष्ट्रों में बड़ों के प्रति अस्नेह-भाव उत्पन्न हो जाता है। वे संगठित हो उन्हें गिराने की सोचते हैं। घृणा के प्रति घृणा और तिरस्कार के प्रति तिरस्कार तीव्र हो उठता है।

अविकसित एशिया के प्रति विकसित राष्ट्रों की जो निरपेक्ष नीति रही, उसकी प्रतिक्रिया फूट रही है। एशियाई राष्ट्रों में पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति जो दुराव है, यह उसीका परिणाम है। परिवर्तन के सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले राष्ट्र सम्हल गए। उन्होंने अपने लिए कुछ सद्भावना का वातावरण बना लिया।

ब्रिटेन ने शस्त्रहीन भारत, बर्मा और लंका को समय की मांग के साथ-साथ स्वतन्त्र कर निरपेक्ष (नास्ति-सर्वत्र-वीर्यवादी) नीति को छोड़ा तो उसकी सापेक्ष नीति सफल रही।

फ्रान्स ने भी भारत के कुछ प्रदेश और हालैण्ड ने जावा, सुमात्रा आदि को छोड़ा, वह भी इसी कोटि का कार्य है। पुर्तगाल अब भी निरपेक्ष (अस्ति-सर्वत्र-वीर्यवादी) नीति को लिए बैठा है और गोआ के प्रश्न पर अड़ा बैठा है। समय-मर्यादा के अनुसार निरपेक्ष-नीति का निर्वाह हो सकता है किन्तु उसके भावी परिणामों से नहीं बचा जा सकता।

मैत्री की पृष्ठभूमि सत्य है, वह ध्रुवता और परिवर्तन दोनों के साथ जुड़ा हुआ है। अपरिवर्तन जितना सत्य है, उतना ही सत्य है परिवर्तन। अपरिवर्तन को नहीं जानता वह चक्षुष्मान् नहीं है, वैसे ही वह भी अचक्षुष्मान् है जो परिवर्तन को नहीं समझता।

वस्तुएं बदलती हैं, क्षेत्र बदलता है, काल बदलता है, विचार बदलते हैं, इनके साथ स्थितियां बदलती हैं। बदलते सत्य को जो पकड़ लेता है, वह सामञ्जस्य की तुला में चढ़ दूसरों का साथी बन जाता है।

समय-समय पर हुई राज्यक्रान्तियों ने राज्यसत्ताओं को बदल डाला। राज्य की सीमाएं बदलती रही हैं। शासन काल बदलता रहा है। शासन की पद्धतियां भी बदलती रही हैं। इन परिवर्तनों का एक मूल्यांकन करनेवाले ही अशान्ति को टाल सकते हैं। गाँधी, नेहरू और पटेल अखण्ड भारत के सिद्धान्त पर अड़े ही रहते, जिन्ना की माँग को स्वीकार नहीं करते तो सम्भवतः अशान्ति उग्र रूप लेती। किन्तु उनकी सापेक्ष-नीति ने वस्तु, क्षेत्र, काल और परिस्थिति के मूल्यांकन द्वारा अशान्ति को निर्वीर्य बना दिया।

ऐकान्तिक आग्रह

भारत में राज्य पुनर्-रचना को लेकर अभी-अभी जो असन्तुलन आया, वह केवल आग्रही मनोवृत्ति का निदर्शन है। भारत की अखण्डता में निष्ठा रखनेवाले काश्मीर से कन्याकुमारी तक एक झण्डे की सत्ता स्वीकार करनेवाले प्रान्त-रचना जैसे छोटे प्रश्न पर उलझ गए। हिंसा को उभारने लग गए।

भारत संवर्ग व संघात्मक राज्य है। संविधान की तीसरी धारा के द्वारा पार्लियामेंट को यह अधिकार प्राप्त है कि वह विधि द्वारा राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन कर सकेगी, राज्य का क्षेत्र घटा-बढ़ा सकेगी, नया राज्य बना सकेगी।

इस व्यवस्था के विरुद्ध जो आन्दोलन चला, वह परिवर्तन की मर्यादा को न समझने का परिणाम है। भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्निर्माण में जो तथ्य है, तथ्य केवल वही नहीं है।

भाषा की विविधता में जो सांस्कृतिक एकात्मकता है, वह भी तो एक तथ्य है।

भेदात्मक प्रवृत्तियों के ऐकान्तिक आग्रह से अखण्डता का नाश होता है।

अभेदात्मक वृत्ति के एकान्त आग्रह से खण्ड की वास्तविकता और उपयोगिता का लोप होता है।

राज्यों की आन्तरिक स्वतन्त्रता के कारण उन्हें अपनी पृथक् विशेषताओं को विकसित करने का अवसर मिलता है। संघ संबद्ध होने के कारण उन्हें एक साथ मिलकर विकास करने का अवसर भी मिलता है।

इस समन्वयवादी-नीति में पृथकता में पल्लवन पानेवाले स्वातन्त्र्य-बीज का विनाश भी नहीं होता और सामुदायिक शक्ति और सुरक्षा के विकास का लाभ भी मिल जाता है।

स्विस लोगों में जर्मन, फ्रेंच और इटालियन—ये तीन भाषाएँ चलती हैं। इस विभिन्नता के उपरान्त भी वे एक कड़ी से जुड़े हुए हैं।

संवर्ग या संघात्मक राज्य में जो विभिन्नता और समता के समन्वय का अवसर मिलता है, वह प्रत्येक राज्य की पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता में नहीं मिल सकता।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि व्यष्टि और समष्टि तथा अपरिवर्तन और परिवर्तन के समन्वय से व्यवहार का सामञ्जस्य और व्यवस्था का सन्तुलन होता है—वह इनके असमन्वय में नहीं होता।

समन्वय की दिशा में प्रगति

समन्वय का सिद्धान्त जैसे विश्व-व्यवस्था से सम्बद्ध है, वैसे ही व्यवहार व उपयोगिता से भी सम्बद्ध है। विश्व-व्यवस्था में जो सहज सामञ्जस्य है, उसका हेतु उसीमें निहित है। वह है—प्रत्येक पदार्थ में विभिन्नता और समता का सहज समन्वय। यही कारण है कि सभी पदार्थ अपनी स्थिति में क्रियाशील रहते हैं। उपयोगिता के क्षेत्र में सहज समन्वय नहीं है, इसलिए वहाँ सहज सामञ्जस्य भी नहीं है। असामञ्जस्य का कारण एकान्त-बुद्धि और एकान्त-बुद्धि का कारण पक्षपातपूर्ण बुद्धि है।

स्व और पर का भेद तीव्र होता है, तटस्थ वृत्ति क्षीण हो जाती है, हिंसा का मूल यही है।

अहिंसा की जड़ है मध्यस्थ-वृत्ति—लाभ और अलाभ में वृत्तियों का सन्तुलन।

स्व के उत्कर्ष में पर की हीनता का प्रतिबिम्ब होता है। पर के उत्कर्ष में स्व की हीनता की अनुभूति होती है। ये दोनों ही एकान्तवाद हैं।

एक जाति या राष्ट्र दूसरी जाति या राष्ट्र पर हावी हुआ या होता है, वह इसी एकान्तवाद की प्रतिच्छाया है।

पर के आगरण-काल में स्व के उत्कर्ष का पारा ऊँचा चढ़ा नहीं रह सकता। वहाँ दोनों मध्य-रेखा पर आ जाते हैं। इनका दृष्टिकोण सापेक्ष बन जाता है।

आज की राजनीति सापेक्षता की दिशा में गति कर रही है। कहना चाहिए—विश्व का मानस अनेकान्त को समझ रहा है और व्यवहार में उतार रहा है।

स्वेज के प्रश्न पर शान्ति, सद्भावना, मैत्री और समझौतापूर्ण दृष्टि से विचार करने की जो गूंज है, वह वृत्तियों के सन्तुलन की प्रगति का स्पष्ट संकेत है। यही घटना यदि सन् १९४६ या ३६ में घटी होती तो परिणाम भयंकर हुआ होता किन्तु वह सन् ५६ है।

इस दशक का मानस समन्वय की रेखा को और स्पष्ट खींच रहा है।

भगवान् महावीर का दार्शनिक मध्यम मार्ग ज्ञात-अज्ञात रूप में विकसित हो रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पंचशील की गूंज, बांडुंग सम्मेलन में उनमें और पांच सिद्धान्तों का समावेश, २९ राष्ट्रों द्वारा उनकी स्वीकृति—ये सब समन्वय के प्रगति-चिह्न हैं।

पंच शील

१—एक दूसरे की प्रादेशिक या भौगोलिक अखण्डता एवं सार्वभौमिकता का सम्मान।

२—अनाक्रमण।

३—अन्य देशों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करना।

४—समानता एवं परस्पर लाभ।

५—शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

दश सिद्धान्त

बांडुंग सम्मेलन द्वारा स्वीकृत दश सिद्धान्त ये हैं:—

१. मूल मानव-अधिकारों और संयुक्त-राष्ट्र-उद्देश्य-पत्र के उद्देश्यों के प्रयोजनों और सिद्धान्तों के प्रति आदर।

२. सभी राष्ट्रों की प्रभु-सत्ता और प्रादेशिक अखण्डता के लिए सम्मान।

३. छोटे बड़े सभी राष्ट्र और जातियों की समानता को मान्यता।

४. अन्य देशों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करना।

५. संयुक्त-राष्ट्र-उद्देश्य-पत्र के अनुसार अकेले अथवा सामूहिक रूप से आत्म रक्षा के प्रत्येक राष्ट्र के अधिकार के प्रति आदर।

६. किसी भी बड़ी शक्ति के स्वार्थ की पूर्ति के लिए सामूहिक सुरक्षा के आयोजनों के उपयोग से अलग रहना, एक देश का दूसरे देश पर दबाव न डालना।

७. ऐसे कार्यों—आक्रमण अथवा बल-प्रयोग की धमकियों से अलग रहना, जो किसी देश की प्रादेशिक अखण्डता अथवा राजनीतिक स्वाधीनता के विरुद्ध हों।

८. सभी आन्तरिक झगड़ों का शान्तिपूर्ण उपायों से निपटारा करना।

९. पारस्परिक हित एवं उपयोग को प्रोत्साहन देना।

१०. न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के लिए सम्मान।

१३ जून ५५ को नेहरू, बुल्गानिन के संयुक्त वक्तव्य पर हस्ताक्षर हुए। उनमें पंचशील का तीसरा सिद्धान्त अधिक व्यापक रूप में मान्य हुआ है—"किसी भी राजनीतिक, आर्थिक अथवा सैद्धान्तिक कारण से एक दूसरे के मामले में हस्तक्षेप न करना।"

इस राजनीतिक नयवाद की दार्शनिक नयवाद और सापेक्षवाद से तुलना कीजिए।

१—कोई भी वस्तु और वस्तु-व्यवस्था स्याद्वाद या सापेक्षवाद की मर्यादा से बाहर नहीं है[४५]।

२—दो विरोधी गुण एक वस्तु में एक साथ रह सकते हैं। उनमें सहानवस्थान (एक साथ न टिक सके) जैसा विरोध नहीं है[४६]।

३—जितने वचन-प्रकार हैं उतने ही नय हैं[४७]।

४—ये विशाल ज्ञानसागर के अंश हैं[४८]।

५—ये अपनी-अपनी सीमा में सत्य हैं[४९]।

६—दूसरे पक्ष से सापेक्ष हैं तभी नय हैं[५०]।

७—दूसरे पक्ष की सत्ता में हस्तक्षेप, अवहेलना व आक्रमण करते हैं तब वे दुर्नय बन जाते हैं[५१]।

८—सब नय परस्पर में विरोधी हैं—पूर्ण साम्य नहीं है किन्तु सापेक्ष हैं, एकत्व की कड़ी से जुड़े हुए हैं, इसलिए वे अविरोधी सत्य के साधक हैं[५२]। क्या संयुक्त-राष्ट्र संघ के निर्माण का यह आधारभूत सत्य नहीं है, जहाँ विरोधी राष्ट्र भी एकत्रित होकर विरोध का परिहार करने का यत्न करते हैं।

९. एकान्त अविरोध और एकान्त विरोध से पदार्थ-व्यवस्था नहीं होती। व्यवस्था की व्याख्या अविरोध और विरोध की सापेक्षता द्वारा की जा सकती है[५३]।

१०. जितने एकान्तवाद या निरपेक्षवाद हैं, वे सब दोषों से भरे पड़े हैं।

११. ये परस्पर ध्वंसी हैं—एक दूसरे का विनाश करने वाले हैं[५४]।

१२. स्याद्वाद और नयवाद में अनाक्रमण, अहस्तक्षेप, स्वमर्यादा का अनतिक्रमण, सापेक्षता—ये सामञ्जस्यकारक सिद्धान्त हैं।

इनका व्यावहारिक उपयोग भी असन्तुलन को मिटाने वाला है।

साम्प्रदायिक सापेक्षता

धार्मिक क्षेत्र भी सम्प्रदायों की विविधता के कारण असामञ्जस्य की रंग-भूमि बना हुआ है।

समन्वय का पहला प्रयोग वहाँ होना चाहिए। समन्वय का आधार ही अहिंसा है। अहिंसा ही धर्म है। धर्म का ध्वंसक कीटाणु है—साम्प्रदायिक आवेश।

आचार्य श्री तुलसी द्वारा सन् १९५४ में बम्बई में प्रस्तुत साम्प्रदायिक एकता के पांच व्रत इस अभिनिवेश के नियंत्रण का सरल आधार प्रस्तुत करते हैं। वे इस प्रकार हैं :—

१. मण्डनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किये जाएं।

२. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

३. दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा व तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४. कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।

५. धर्म के मौलिक तथ्य—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

सामञ्जस्य का आधार मध्यम मार्ग

भेद और अभेद—ये हमारी स्वतंत्र चेतना, स्वतन्त्र व्यक्तित्व और स्वतंत्र सत्ता के प्रतीक हैं। वे विरोध और अविरोध के साधन नहीं हैं। अविरोध का आधार यदि अभेद होगा तो भेद विरोध का आधार अवश्य बनेगा।

अभेद और भेद—ये वस्तु या व्यक्ति के नैसर्गिक गुण हैं। इनकी सह-स्थिति ही व्यक्ति या वस्तु है। इसलिए इन्हें अविरोध या विरोध का साधन नहीं बनाना चाहिए। भेद भी अविरोध का साधन बने—यही समन्वय से प्रतिफलित साधना का स्वरूप है। यही है अहिंसा, मध्यस्थवृत्ति, तटस्थ नीति या साम्य-योग।

जाति, रंग और वर्ण के भेदों को लेकर जो संघर्ष चल रहे हैं उनका आधार विषम मनोवृत्ति है। उसके बीज की उर्वर भूमि एकान्तवाद है। निरंकुश एकाधिपत्य और अराजकता—ये दोनों ही एकान्तवाद हैं। वाणी, विचार, लेख और मान्यता का नियन्त्रण स्वतन्त्र व्यक्तित्व का अपहरण है।

अराजकता में समूचा जीवन ही खतरे में पड़ जाता है। सामञ्जस्य की रेखा इनके बीच में है।

व्यक्ति अकेलेपन और समुदाय के मध्य-बिन्दु पर जीता है। इसलिए उसके सामञ्जस्य का आधार मध्यम-मार्ग ही हो सकता है।

शान्ति और समन्वय

प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय यथार्थ मूल्यों के द्वारा ही शान्ति का अर्जन व उपभोग कर सकता है। इसलिए दृष्टिकोण को वस्तु-स्पर्शी बनाना उनके लिए वरदान जैसा होता है।

पूर्व मान्यता या रूढ़ि के कारण कुछ व्यक्ति या राष्ट्र स्थिति का यथार्थ मूल्य नहीं आंकते या आंकना नहीं चाहते—वे अतीतदर्शी हैं।

अतीत-दर्शन के आधार पर वर्तमान (ऋजुसूत्र नय) की अवहेलना करना निरपेक्ष-नीति है। इसका परिणाम है असामञ्जस्य। इसके निदर्शन जनवादी चीन और उसे मान्यता न देनेवाले राष्ट्र बन सकते हैं। वस्तु का मूल्यांकन करते समय हमारा दृष्टिकोण एवम्भूत होना चाहिए। जो वर्ग वर्तमान में चीन के भू-भाग का शासक नहीं है, वह उसका सर्व-सत्ता-सम्पन्न प्रभु कैसे होगा? च्यांग का राष्ट्रवादी चीन और माओ का जनवादी चीन एक नहीं हैं। अवस्था-भेद से नाम-भेद जो होता है, वह मूल्यांकन की महत्त्वपूर्ण दिशा (समभिरूढ़-नय) है।

डलेस ने गोआ को पुर्तगाल का उपनिवेश कहा और खलबली मच गई।

इस अधिकार-जागरण के युग में उपनिवेश का स्वर एवम्भूत दृष्टिकोण का परिचायक नहीं है।

अमरीकी मजदूर नेता श्री वाल्टर रूथर के शब्दों में "एशिया में अमरीका की विदेश नीति शक्ति और सैनिक गठ-बन्धनों पर आधारित है, अवास्तविक है। अमेरिका ने एशिया की सद्भावना को बुरी तरह से खो दिया है।

गोआ के बारे में अमरीकी परराष्ट्र मन्त्री श्री डलेस ने जो कुछ कहा, इस से स्पष्ट है कि वे एशियाई भावना को नहीं समझते"[५]।

यह असंदिग्ध सत्य है—शक्ति-प्रयोग निरपेक्षता की मनोवृत्ति का परिणाम है। निरपेक्षता से सद्भावना का अन्त और कटुता का विकास होता है। कटुता की परिसमाप्ति अहिंसा में निहित है। क्रूरता का भाव तीव्र होता है, समन्वय की बात नहीं सूझती। समन्वय और अहिंसा अन्योन्याश्रित हैं। शान्ति से समन्वय और समन्वय से शान्ति होती है।

सह-अस्तित्व की धारा

प्रभु-सत्ता की दृष्टि से सब स्वतन्त्र राष्ट्र समान हैं किन्तु सामर्थ्य की दृष्टि से सब समान नहीं भी हैं। अमेरिका शस्त्र-बल और धन-बल दोनों से समृद्ध है। रूस सैन्य-बल और श्रम-बल से समृद्ध है। चीन और भारत जन-बल से समृद्ध हैं। ब्रिटेन व्यापार-विस्तार की कला से समृद्ध है। कुछ राष्ट्र प्राकृतिक

साधनों से समृद्ध हैं। समृद्धि का कोई न कोई भाग सभी को मिला है। सामर्थ्य की विभिन्न कक्षाएँ बँटी हुई हैं। सब पर किसी एक की प्रभु-सत्ता नहीं है। एक दूसरे में पूर्ण साम्य और वैषम्य भी नहीं है। कुछ साम्य और कुछ वैषम्य से वंचित भी कोई नहीं है। इसलिए कोई किसी को मिटा भी नहीं सकता और मिट भी नहीं सकता। वैषम्य को ही प्रधान मान जो दूसरे को मिटाने की सोचता है, वह वैषम्यवादी नीति के एकान्तीकरण द्वारा असामञ्जस्य की स्थिति पैदा कर डालता है।

साम्य को ही एकमात्र प्रधान मानना भी साम्यवादी नीति का ऐकान्तिक आग्रह है। दोनों के ऐकान्तिक आग्रह के परिणाम-स्वरूप ही आज शीत-युद्ध का बोलबाला है।

वैषम्य और साम्य दोनों विरोधी अवश्य हैं पर निरपेक्ष नहीं हैं। दोनों सापेक्ष हैं और दोनों एक साथ टिक सकते हैं।

विरोधी युगलों के सह-अस्तित्व का प्रतिपादन करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—नित्य-अनित्य, सामान्य-असामान्य, वाच्य-अवाच्य, सत्-असत् जैसे विरोधी युगल एक साथ ही रहते हैं। जिस पदार्थ में कुछ गुणों की आस्तिता है, उसमें कुछ की नास्तिता है। यह आस्तिता और नास्तिता एक ही पदार्थ के दो विरोधी किन्तु सह-अवस्थित धर्म हैं।

सहावस्थान विश्व की विराट् व्यवस्था का अंग है। यह जैसे पदार्थाश्रित है, वैसे ही व्यवहाराश्रित है। इसी की प्रतिध्वनि भारतीय प्रधान-मन्त्री पण्डित नेहरू के पंचशील में है। साम्यवादी और जनतन्त्री राष्ट्र एक साथ जी सकते हैं—राजनीति के रंगमंच पर यह घोष बलशाली बन रहा है। यह समन्वय के दर्शन का जीवन-व्यवहार में पड़नेवाला प्रतिबिम्ब है।

वैयक्तिकता, जातीयता, सामाजिकता, प्रान्तीयता और राष्ट्रीयता—ये निरपेक्ष रूप में बढ़ते हैं, तब असामञ्जस्य को लिए ही बढ़ते हैं।

व्यक्ति और सत्ता दोनों भिन्न ही हैं, यह दोनों के सम्बन्ध की अवहेलना है।

व्यक्ति ही तत्त्व है—यह राज्य की प्रभु-सत्ता का तिरस्कार है। राज्य ही तत्त्व है—यह व्यक्ति की सत्ता का तिरस्कार है। सरकार ही तत्त्व है—यह

स्थायी तत्त्व—अनता का तिरस्कार है। जहाँ तिरस्कार है, वहाँ निरपेक्षता है। जहाँ निरपेक्षता है, वहाँ असत्य है। असत्य की भूमिका पर सह-अस्तित्व का सिद्धान्त पनप नहीं सकता।

सह-अस्तित्व का आधार—संयम

भगवान् ने कहा—सत्य का बल संजोकर सबके साथ मैत्री साधो[५६]। सत्य के बिना मैत्री नहीं। मैत्री के बिना सह-अस्तित्व का विकास नहीं।

सत्य का अर्थ है—संयम। संयम से वैर-विरोध मिटता है, मैत्री विकास पाती है। सह-अस्तित्व चमक उठता है। असंयम से वैर बढ़ता है[५७]। मैत्री का स्वर क्षीण हो जाता है। स्व के अस्तित्व और पर के नास्तित्व से वस्तु की स्वतंत्र-सत्ता बनती है। इसीलिए स्व और पर दोनों एक साथ रह सकते हैं।

अगर सहानवस्थान व परस्पर-परिहार-स्थिति जैसा विरोध व्यापक होता तो न स्व और पर ये दो मिलते और न सह-अस्तित्व का प्रश्न ही खड़ा होता। सह-अस्तित्व का सिद्धान्त राजनयिकों ने भी समझा है। राष्ट्रों के आपसी सम्बन्ध का आधार जो कूटनीति था, वह बदलने लगा है। उसका स्थान सह-अस्तित्व ने लिया है। अब समस्याओं का समाधान इसी को आधार मान खोजा जाने लगा है। किन्तु अभी एक मंजिल और पार करनी है।

दूसरों के स्वत्व को आत्मसात् करने की भावना त्यागे बिना सह-अस्तित्व का सिद्धान्त सफल नहीं होता। स्याद्वाद की भाषा में—स्वयं की सत्ता जैसे पदार्थ का गुण है, वैसे ही दूसरे पदार्थों की असत्ता भी उसका गुण है। स्वापेक्षा से सत्ता और परापेक्षा से असत्ता—ये दोनों गुण पदार्थ की स्वतन्त्र-व्यवस्था के हेतु हैं। स्वापेक्षया सत्ता जैसे पदार्थ या गुण है, वैसे ही परापेक्षया असत्ता उसका गुण नहीं होता तो द्वैत होता ही नहीं। द्वैत का आधार स्व-गुण-सत्ता और पर-गुण-असत्ता का सहावस्थान है।

सह-अस्तित्व में विरोध तभी आता है जब एक व्यक्ति, जाति या राष्ट्र; दूसरे व्यक्ति, जाति या राष्ट्र के स्वत्व को हड़प जाना चाहते हैं। यह आक्रामक नीति ही सह-अस्तित्व की बाधा है। अपने से भिन्न वस्तु के स्वत्व का निर्णय करना सरल कार्य नहीं है। स्व के आरोप में एक विचित्र प्रकार का मानसिक

झुकाव होता है। वह सत्य पर आवरण डाल देता है। सत्ता शक्ति या अधिकार-विस्तार की भावना के पीछे यही तत्त्व सक्रिय होता है।

स्वत्व की मर्यादा

आन्तरिक क्षेत्र में व्यक्ति की अनुभूतियां व अन्तर् का आलोक ही उसका स्व है।

बाहरी सम्बन्धों में स्व की मर्यादा जटिल बनती है। दूसरो के स्वत्व या अधिकारों का हरण स्व नहीं—यह अस्पष्ट नहीं है। संघर्ष या अशान्ति का मूल दूसरों के स्व का अपहरण ही है।

युग-भावना के साथ-साथ 'स्व' की मर्यादा बदलती भी है। उसे समझने वाला मर्यादित हो जाता है। वह संघर्ष की चिनगारी नहीं उछालता। रूढ़ि-परक लोग 'स्व' की शाश्वत-स्थिति से चिपके बैठे रहते हैं। वे अशान्ति पैदा करते हैं।

बाहरी सम्बन्धों में स्व की मर्यादा शाश्वत या स्थिर हो भी नहीं सकती। इसलिए भावना-परिवर्तन के साथ-साथ स्वयं को बदलना भी जरूरी हो जाता है। बाहर से सिमट कर अधिकारों में आना शान्ति का सर्व प्रधान सूत्र है। उसमें खतरा है ही नहीं। इस जन-जागरण के युग में उपनिवेशवाद, सामन्तवाद और एकाधिकारवाद मिटते जा रहे हैं। विचारशील व्यक्ति और राष्ट्र दूसरों के स्वत्व से बने अपने विशाल रूप को छोड़ अपने रूप में सिकुड़ते जा रहे हैं। यह सामञ्जस्य की रेखा है।

वर्ग-विग्रह और अन्तर्राष्ट्रीय विग्रह की समापन-रेखा भी यही है। इसीके आधार पर कहा जा सकता है कि आज का विश्व व्यावहारिक समन्वय की दिशा में प्रगति कर रहा है।

निष्कर्ष

शान्ति का आधार—व्यवस्था है।
व्यवस्था का आधार—सह-अस्तित्व है।
सह-अस्तित्व का आधार—समन्वय है।
समन्वय का आधार-सत्य है।
सत्य का आधार—अभय है।
अभय का आधार—अहिंसा है।

अहिंसा का आधार—अपरिग्रह है।

अपरिग्रह का आधार—संयम है।

असंयम से संग्रह, संग्रह से हिंसा, हिंसा से भय, भय से असत्य, असत्य से संघर्ष, संघर्ष से अधिकार-हरण, अधिकार-हरण से अव्यवस्था, अव्यवस्था से अशान्ति होती है।

विरोध का अर्थ विभिन्नता है किन्तु संघर्ष नहीं।

१—सार्वभौम-दर्शन—अमुक दृष्टिकोण से यह यूं ही है—यह अस्तित्व की नीति है[५८]।

२—एकदेशीय या तटस्थ दृष्टिकोण—यह यूँ है—यह सापेक्ष नीति है[५९]।

३—आग्रही दृष्टिकोण—यह यूँ ही है—यह निरपेक्ष नीति है[६०]।

अपने या अपने प्रिय व्यक्तियों के लिए दूसरों के स्वत्व को हड़पने का यत्न करना पक्षपाती-नीति है।

आक्रामक को सहयोग देना पक्षपाती-नीति है। दूसरों की प्रभुसत्ता में हस्तक्षेप करना पक्षपाती-नीति है। उनमें कुछ भी सामर्थ्य नहीं है (नास्ति—सर्वत्र-वीर्यवाद), यह एकान्तवाद है।

हममें सब सामर्थ्य है—(अस्ति-सर्वत्र-वीर्यवाद) यह एकान्तवाद है। दूसरों के 'स्वत्व' को अपना स्वत्व न बनाना संयम है। यही सहअस्तित्व का आधार है।

दूसरों के 'स्वत्व' पर अपना अधिकार करना असंयम या आक्रमण है—पारस्परिक विरोध और ध्वंस का हेतु यही है।

अपरिवर्तित सत्य की दृष्टि से परिवर्तन अवस्तु है, परिवर्तित-सत्य की दृष्टि से अपरिवर्तन अवस्तु है, यह अपनी-अपनी विषय-मर्यादा है किन्तु अपरिवर्तन और परिवर्तन दोनों निरपेक्ष नहीं हैं।

अपरिवर्तन की दृष्टि से मूल्यांकन करते समय परिवर्तन गौण अवश्य होगा किन्तु उसे सर्वथा भूल ही नहीं जाना चाहिए।

परिवर्तन की दृष्टि से मूल्यांकन करते समय अपरिवर्तन गौण अवश्य होगा किन्तु उसे सर्वथा भूल ही नहीं जाना चाहिए।

नय : सापेक्ष-दृष्टियाँ

१ नैगम-नय—

अभेद और भेद सापेक्ष हैं।

केवल अभेद ही नहीं है, केवल भेद ही नहीं है

अभेद और भेद सर्वथा स्वतन्त्र ही नहीं हैं।

यह विश्व अखण्डता से किसी भी रूप में नहीं जुड़ा हुआ खण्ड और खण्ड से विहीन अखण्ड नहीं है। यह विश्व यदि अखण्ड ही होता, तो व्यवहार नहीं होता, उपयोगिता नहीं होती, प्रयोजन नहीं होता। अगर विश्व खण्डात्मक ही होता तो ऐक्य नहीं होता। अस्तित्व की दृष्टि से यह विश्व अखण्ड भी है, प्रयोजन की दृष्टि से यह विश्व खण्ड भी है।

२ संग्रह-नय—

भेद-सापेक्ष अभेद प्रधान दृष्टिकोण।

वह यह, यह वह, सब एक हैं, विश्व एक है, अभिन्न है।

३ व्यवहार-नय—

वह यह, यह वह, सब भिन्न हैं, विश्व अनेक रूप है, भिन्न है।

४ ऋजु-सूत्र-नय—

भूत-भविष्य-सापेक्ष वर्तमान-दृष्टि।

जो बीत चुका है, वह अकिञ्चितकर है।

जो नहीं आया, वह भी अकिञ्चितकर है।

कार्यकर वह है, जो वर्तमान है।

५ शब्द-नय—

भूत, भविष्य और वर्तमान के शब्द भी भिन्न-भिन्न हैं और उनके अर्थ भी भिन्न-भिन्न हैं।

स्त्री, पुरुष और नपुसंक के वाचक-शब्द भी भिन्न-भिन्न हैं और उनके अर्थ भी भिन्न-भिन्न हैं।

६ समभिरूढ़-नय—

जितने व्युत्पन्न शब्द हैं उतने ही अर्थ हैं—एक शब्द दो वस्तुओं को अभिव्यक्त नहीं कर सकता।

७ एवम्भूत-नय—

एक ही शब्द सदा एक वस्तु की अभिव्यक्ति नहीं करता। क्रिया-कालीन वस्तु का वाचक शब्द क्रिया-काल-शून्य वस्तु को अभिव्यक्त नहीं कर सकता।

दुर्नयः निरपेक्ष-दृष्टियाँ

१. व्यक्ति और समुदाय दोनों सर्वथा भिन्न ही हैं—यह वस्तु-स्थिति का तिरस्कार है। यह ऐकान्तिक पार्थक्यवादी नीति (नैगम-नयाभास) है।

२. समुदाय ही सत्य है—यह व्यक्ति का तिरस्कार है। यह ऐकान्तिक समुदायवादी नीति (संग्रह नयाभास) है।

३. व्यक्ति ही सत्य है—यह समुदाय का तिरस्कार है। यह ऐकान्तिक-व्यक्तिवादी नीति (व्यवहार-नयाभास) है।

४. वर्तमान ही सत्य है—यह अतीत और भविष्य, अपरिवर्तन या एकता का तिरस्कार है। यह ऐकान्तिक परिवर्तनवादी नीति (पर्यायार्थिक-नयाभास) है।

५. लिङ्ग-भेद ही सत्य है—यह भी एकता का तिरस्कार है।

६. उत्पत्ति-भेद ही सत्य है—यह भी एकता का तिरस्कार है।

७. क्रियाकाल ही सत्य है—यह भी एकता का तिरस्कार है

निरपेक्ष दृष्टि का त्याग ही समाज को शान्ति की ओर अग्रसर कर सकता है।

स्याद्वादाय नमस्तस्मै, यं विना सकलाः क्रियाः।
लोकद्वितयभाविन्यो नैव साङ्गत्यमासते ॥

जिसकी शरण लिए बिना लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार की क्रियाएं समञ्जस (संगत) नहीं होतीं, उस स्याद्वाद को नमस्कार है।

जेन विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा ण णिघडइ।
तस्स भुवणेकगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स ॥

जिसके बिना लोक-व्यवहार भी संगत नहीं होता, उस जगद्गुरु अनेकान्त-वाद को नमस्कार है।

उत्पन्नं दधिभावेन, नष्टं दुग्धतया पयः।
गोरसत्वात् स्थिरं जानन्, स्याद्वादद्विड् जनोऽपि कः॥

दही बनता है, दूध मिटता है, गोरस स्थिर रहता है। उत्पाद और विनाश के पौर्वापर्य में भी जो अपूर्वापर है, परिवर्तन में भी जो अपरिवर्तित है, इसे कौन अस्वीकार करेगा।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

एक प्रधान होता है, दूसरा गौण हो जाता है—यह जैनदर्शन का नय है।

इस सापेक्ष नीति से सत्य उपलब्ध होता है। नवनीत तब मिलता है, जब एक हाथ आगे बढ़ता है और दूसरा हाथ पिछे सरक जाता है।

परिशिष्ट : १ :

[टिप्पणियां]

चौथा खण्ड

: अट्ठारह :

१—से आयावाई, लोयावाई, कम्मावाई, किरियावाई —आचा० १-१-१।

२—सू० २।५।१२, १३,१४,१५,१६,१६।

३—आव० ४।५, सू० २।७।

४—सड्ढी आणाए मेहावी —आचा० १।३।४।

५—सहमं पास··· —आचा० १।३।१।

६—सू० २।७, उत्त० २८।२,३

७—अप्पणा सच्चमेसिज्जा —उत्त० ६।२।

८—पुरिसा सच्चमेव समभिजाणाहि —आचा० १।३-३-१११

९—सच्चम्मि धिइं कुव्वहा —आचा० १।३-३-११३

१०—सच्चं लोगम्मि सारभूयं —प्रश्न० २ संवर द्वार।

११—इह हि रागद्वेषमोहाद्यभिभूतेन सर्वेणापि संसारिजन्तुना शारीरमानसाऽनेकातिकटुकदुःखोपनिपातपीडितेन तदपनयनाय हेयोपादेयपरिज्ञाने यत्नो विधेयः। स च न विशिष्टविवेकमृते।

—आचा० वृ० १-१ उपोद्घात।

१२—आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति —बृह० उप० २।४।६

१३—न सर्वस्य कामाय प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति···

—बृह० उप० २।४।५

१४—सेणं भन्ते ! सवणे किं फले ? णाण फले। सेणं भंते णाणे किं फले ? विण्णाणफले। ज्ञानम्—श्रुतज्ञानम्, विज्ञानम्—अर्थादीनां हेयोपादेयत्वविनिश्चयः —स्था० ३।३।१९०।

१५—सा च द्विधा—ज्ञपरिज्ञा, प्रत्याख्यानपरिज्ञा च। तत्र ज्ञपरिज्ञया सावद्यव्यापारेण बन्धो भवति—इत्येवं भगवता परिज्ञा प्रवेदिता। प्रत्याख्यानपरिज्ञया च सावद्ययोगाबन्धहेतवः प्रत्याख्येयाः, इत्येवंरूपा चेति

—आचा० वृ० १-१-१-१।

१६—अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणमतो ज्ञानमेवेदम् ।

—प्र० न० १-३

१७—प्र० र० प्र० ५२

१८—सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडंबियं ।

सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥

—उत्त० १३।१६ ।

१६—दर्शनं निश्चयः पुंसि, बोधस्तद्बोध इष्यते ।

स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः ॥　—पद्मा० १७०

२०—शा० भा० १।१।१

२१—इह मेगेसिं नो सन्ना होइ, कम्हाओ दिसाओ वा आगओ अहमंसि ?
अत्थि मे आया उववाइए वा नत्थि ? के वा अहमंसि ? के वा इओ
चुओ इह पेच्चा भविस्सामि । —आचा० १-१

२२—अन्नाणी किं काहीइ, किंवा नाहीइ सेय पावगं । दशवै० ४—१०

२३—पढमं नाणं तओ दया । दशवै० ४-१०

२४—येनाहं नामृता स्यां किं तेन कुर्याम् ।

यदेव भगवान वेद तदेव मे ब्रूहि ॥

२५—एकोहु धम्मो नरदेवताणं, न विज्जए अन्नमिहेह किंचि ।

—उत्त० १४।४०

२६—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।

—बृह० उप० २-४-५

२७—तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं । —भग०

२८—सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा, सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् । अन्तः
शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो, यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

—मुण्डकोप० ३-५

२६—रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् ।

यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ॥

३०—अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानाति यथाज्ञानञ्चाभिधत्ते स आप्तः ।

—प्र० न० ४-४

३१—से बेमि—अथ ब्रवीमि —आचा० १-१-३

३२—उत्त० २८-२०

३३—उत्त० २८-२६

३४—उत्त० २८-२४

३५—श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः, मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयं, एते दर्शनहेतवः॥

३६—दव्वाणसव्वभावो, सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धो।
सव्वाहि नयविहिहिं, वित्थाररुइत्ति नायव्वो॥ —उत्त० २८-२४

३७—आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णं दृष्टिकारणम्।
अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये॥

३८—इह द्विविधा भावाः—हेतुग्राह्या अहेतुग्राह्याश्च। तत्र हेतुग्राह्या जीवास्तित्वादयः, तत्साधकप्रमाणसद्भावात्। अहेतुग्राह्या अभव्यत्वादयः, अस्मदाद्यपेक्षया तत्साधकहेतूनामसंभवात्, प्रकृष्टज्ञानगोचरत्वात् तद्धेतूनामिति। —प्रज्ञा० वृ० १

३९—न च स्वभावः पर्यनुयोगमश्नुते—न खलु किमिह दहनो दहति नाकाशमिति कोऽपि पर्यनुयोगमाचरति।

४०—श्रवणं तु गुरोः पूर्वं, मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येतत्, पूर्णबोधस्य कारणम्॥ —शु० र० ३-१३

४१—सू० १।१

४२—तस्य श्रद्धैव शिरः। —तैत्त० उप०

४३—बुद्धिपूर्वा वाक् प्रकृतिर्वेदे। —वै० द०

४४—योऽवमन्येत मूले, हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो, नास्तिको वेदनिन्दकः॥ —मनु० २-११

४५—यस्तर्केणानुसन्धत्ते, स धर्मं वेद नेतरः। —मनु० १२-१०६

४६—पं० व० ४ द्वार

४७—लो० त० नि०

४८—न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो, न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु, त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः॥

स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम् । —अ० व्यव० २६

न श्रयामस्त्यजामो वा, किन्तु मध्यस्थया दृशा । —शा० सा०

४६—प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्प-वितण्डा-

हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः ।

—न्या० सू० १-१

५०—विषयो धर्मवादस्य, तत्तत्तन्त्रव्यपेक्षया ।

प्रस्तुतार्थोपयोग्येव, धर्मसाधनलक्षणः ॥ —धर्म० वा०

५१—शं० दिग्वि०

५२—अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः ।

वाक्-संरम्भः क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम् ॥ —वाद द्वा० ७

५३—महा० भा० व० प० ३१२-११५

५४—यत्नानुमितोऽप्यर्थः, कुशलैरनुमातृभिः ।

अभियुक्ततरैरन्यै - रन्यथैवोपपद्यते ॥

ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।

कालेनैतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥

न चैतदेव यत्तस्मात्, शुष्कतर्कग्रहो महान् ।

मिथ्याभिमानहेतुत्वात्, त्याज्य एव मुमुक्षुभिः ॥

—यो० इ० स० १४३-१४४-१४५

५५—सच्चं लोगम्मि सारभूयं । —प्रश्नव्या० २

५६—सत्यमायतनम् । केन० उप० चतुर्थ खण्ड ८

५७—एकाप्यनाद्याखिलतत्त्वरूपा, जिनेशगीर्विस्तरमाप तर्कैः ।

तत्राप्यसत्यं त्यज सत्यमङ्गीकुरु स्वयं स्वीयहिताभिलाषिन् ॥

—द्रव्यानु० त०

५८—न्या० सू० १-१-१, वै० द० १-१-१

५९—सर्व० प० ल० सं० पृ० २७

६०—नानाविरुद्धयुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय वर्तमानो विचारः परीक्षा ।

६१—सू० १-१-१

६२—समा०

६३—षट्० ७८-७९

६४—मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भवतीति। तेभ्य एवं तर्क ऋषिं प्रायच्छन्……नि०….२-१२

६५.—Philosophy begins in wander।

६६—(क) दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा, तदपघातके हेतौ…

—सां० का०-१

(ख) दुःखमेव सर्वं विवेकिनः, हेयं दुःखमनागतम्…।

—यो० सू० २।१५-१६।

(ग) महात्मा बुद्ध ने कपिलवस्तु राजधानी से बाहर निकलकर प्रतिज्ञा की—"जननमरणयोरदृष्टपारः न पुनरहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा"।

—बु० च०

६७—अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराये। किं नाम हूज्जत्तं कम्मयं जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा —उत्त० ८-१।

६८—पावेकम्मे जेय कडे, जेय कज्जइ, जेय कज्जिस्सइ सव्वे से दुक्खे

—भग० ७-८।

६९—जे निज्जिण्णे से सुहे'''। —भग० ७।८।

७०—सुचिण्णा कम्मा सुचिण्ण फला, दुच्चिण्ण कम्मा दुच्चिण्णफला।

—दशा०-६

(ख) पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा पापः पापेनेति। —बृह० उप० ३-२-१३

७१—अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खापमोक्खसि।

—आचा० ४।१-२०४।

७२—७३—सापेक्षाणि च निरपेक्षाणि च कर्माणि फलविपाकेषु सोपक्रमञ्च निरुपक्रमञ्च दृष्टं यथायुष्कम्॥ —प्रज्ञा० वृ० पद-१४

७४—सव्वे समड्डिया, सव्वे महज्जुइया, सव्वेसमजसा, सव्वे समबला, सव्वे समाणुभावा, महासोक्खा, अणिंदा; अप्पेसा, अपुरोहिया, अहमिंदाणामं ते देवगणा॥ —प्रज्ञा पद ३

७५—सव्वेपाणा अवेलिसा सर्वेपि प्राणिनो विचित्रकर्मसद्भावात् नानागति जाति शरीराङ्गोपाङ्गादि समन्वितत्वादनीदृशा विसदृशा……—सू० वृ० २।५

७६—दशवै० ८।२७

७७—सू० १-२

७८—उत्त० १६-२३,२४

७९—उत्त० १०,१

८०—उत्त० १०-२

८१—उत्त० १०-४

८२—सू० २-१-१

८३—दशवै० ८।३६

८४—उत्त० ५।१५

८५—षट्० ८३

८६—उत्त० ५-६

८७—उत्त० ५-७

८८—षट्० ८२

८९—उत्त० ५।५

९०—णो सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवन्ति, णोदुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला भवन्ति, अफले कल्याणपावए. णो प च्चायंति जीवा······

—दशा० ६

९१—उत्त० २१-२४

९२—सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवन्ति, दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला भवन्ति, सफले कल्याणपावए पच्चायंति जीवा···— दशा० ६

९३—उत्त० ४-३,

९४—उत्त० ५-८

९५—उत्त० ५-६

९६—उत्त० ५-११

९७—उत्त० ५-१२

९८—उत्त० ५-१४

९९—सू० १।१।६,

१००—सू० १।१।७,

१०१—उत्त० १४।१८,

: उन्नीस :

१—सेण सद्दे, ण रूवे, ण गन्धे, ण रसे, ण फासे, —आचा० १।५।६।३३३

२—अरूवी सत्ता...... ...आचा० १।५।६-३३२

३—ब्रह्म १-१-१

४—देहिंदिया इरित्तो, आया खलु गज्झ ग्राहग-पओगा।
संडासो अय पिण्डो अयकारो इत्थ विन्नेओ॥ दशवै० नि० ४॥ ३४०

५—जो चिंतेई सरीरे, नत्थि अहं स एव होई जीवोति।
न ऊ जीवम्मि असंते, संसय उप्पायओ अन्नो॥४। २४६
जीवस्स एस धम्मो, जा ईहा अत्थि वा नत्थि वा जीवो।
खाणु मणुस्साणुगया, जह ईहा देवदत्तस्स। —दशवै० नि० ४।२५०

६—अणिंदियगुणं जीवं, दुन्नेयं मंस-चक्खुणा॥ —दशवै० नि० ४।२६०

७—असओ नत्थि निसेहो, संजोगाइपडिसेहओ सिद्धं संजोगाइ चउक्कं पि
सिद्ध मत्थंतरे निययं॥—वि० भा० गाथा १५७४

८—अरूवी सत्ता.........आचा० ६।१।३३२

९—जीवो उवओग लक्खणो......उत्त० २८।१०

१०—नाणेणं दंसणेण च सुहणेय दुहणेय......उत्त०२८।१०

११—सेण सद्दे ण रूवे ण गंधे ण रसे ण फासे......आचा० ६।१।३३३

१२—सेण दीहे ण हस्से ण वट्टे ण तंसे ण चउरंसे ण परिमंडले, ण किन्हे, ण नीले। ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किल्ले, ण सुरहिगंधे, ण दुरहिगंधे, ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण महुरे, ण कक्खडे, ण मउए, ण गरूए, ण लहुए, ण सीए, ण उन्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे, ण काऊ, ण रूहे, ण संगे, ण इत्थि, ण पुरिसे, ण अन्नहा, परिण्णे सण्णे।

—आचा० ३।१।३३१

१३—अपयस्स पयं नत्थि......आचा० ६।१।३३२

१४—सव्वे सरा णियट्टंति, तक्का जत्थण विज्जइ। मई तत्थ ण गाहिता......
आचा० ६।१।३३०

१५—अस्तीति शाश्वतग्राही, नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्व-नास्तित्वे, नाश्रीयेत विचक्षणः ॥—मा० का० १८।१०

१६—आत्मेत्यपि प्रज्ञापित-मनात्मत्यपि देशितम्।
बुद्धैर्नात्मा नचानात्मा, कश्चिदित्यपि देशितम् ॥—मा० का० १८।६

१७—सुख-दुख ज्ञान निरुपत्त्यविशेषादैकात्म्यम्। वै० सू० ३।२।१९

१८—(क) व्यवस्थातो नाना। —वै० सू० ३।२।२०
(ख) जीवस्तु प्रति शरीरं भिन्नः—तर्क सं०

१९—न हन्यते हन्यमाने शरीरे······कठ० उप० १—२।१५।१८

२०—इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ या उत्कृष्ट है। मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्तत्व, महत्तत्व से अव्यक्त और अव्यक्त से पुरुष श्रेष्ठ है। वह व्यापक तथा अलिङ्ग है। —कठ० उप० २।३।७।८०

पुरुष से पर (श्रेष्ठ या उत्कृष्ट) और कोई कुछ नहीं है। वह सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है। —कठ० उप० १।३।१०, ११

२१—ईशावास्यमिदं सर्वं। यत् किञ्च जगत्यां जगत् —ईशा० उप०

२२—अविकार्योऽयमुच्यते······गी० २—२५

२३—यतो वाचो निवर्तन्ते-अप्राप्य मनसा सह —तैत्त० उप० २।४

२४—स एस नेति नेति······बृह० उप० ४-५-१५

२५—अस्थूल मन एव ह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाय मतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागऽमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनन्तरमवाह्यम्······बृह० उप०—३।८।८

२६—तैत्त० उप०—२।१।१

२७— ,, ,,—२।२।१

२८— ,, ,,—२।२।१

२९— ,, ,,—२।३।१

३०— ,, ,,—२।४।१

३१— ,, ,,—२।५।१

३२—ण हि इन्दियाणि जीवा, काया पुण छप्प आरपयाणंति।
जं हवदि तेसु णाणं, जीवोत्तिय तं परूपवन्ति ॥

जाणदि पस्सदि सव्वं, इच्छदि सुखं बिभेदि दुक्खादो ।
कुव्वदि हिदमहिदं वा, भुंजदि जीवो फलं तेसिं ॥

—पञ्चा० १२९, १३०

अर्थात्—इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं, छह प्रकार के शरीर भी जीव नहीं हैं। उनमें जो ज्ञान है, वह जीव है।

उसके लक्षण हैं—ज्ञान, दर्शन, सुख की इच्छा, दुःख का भय हित अहित करण उनका फल भोग।

३३— सुह दुःख जाणणावा, हिदपरियम्मं च अहिद भीसत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं, तं समणा विंति अजीव ॥

३४—जिनमें सुख-दुःख का ज्ञान, हित का अनुराग, अहित का भय, नहीं होता, वे अजीव हैं।

(क) कृत्रिम उद्भिज अपने आप बढ़ जाता है। फिर भी सजीव पौधे की बढ़ती और इसकी बढ़ती में गहरा अन्तर है। सजीव पौधा अपने आप ही अपने कलेवर के भीतर होने वाली स्वाभाविक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप बढ़ता है।

इसके विपरीत······जड़ पदार्थ से तैयार किया हुआ उद्भिज बाहरी क्रिया का ही परिणाम है। —हि० भा० खण्ड १, पृ० ४१

(ख) सजीव पदार्थ बढ़ते हैं और निर्जीव नहीं बढ़ते, लेकिन क्या चीनी का 'रवा' चीनी के संपृक्त घोल में रक्खे जाने पर नहीं बढ़ता? यही बात पत्थरों और कुछ चट्टानों के बारे में भी कही जा सकती है, जो पृथ्वी के नीचे से बढ़कर छोटे या बड़े आकार ग्रहण कर लेते हैं। एक ओर हम आम की गुठली से एक पतली शाखा निकलते हुए देखते हैं और इसे एक छोटे पौधे और अन्त में एक पूरे वृक्ष के रूप में बढ़ते हुए पाते हैं, और दूसरी ओर एक पिल्ले को धीरे २ बढ़ते हुए देखते हैं और एक दिन वह पूरे कुत्ते के बराबर हो जाता है। लेकिन इन दोनों प्रकार के बढ़ाव में अन्तर है। चीनी के रवे या पत्थर का बढ़ाव उनकी सतह पर अधिकाधिक नए पर्त के जमाव होने की वजह से होता है। परन्तु इसके विपरीत छोटे पेड़ या पिल्ले अपने शरीर के भीतर खाद्य पदार्थों के ग्रहण करने से बढ़कर पूरे डीलडौल के हो जाते हैं।

अतएव पशुओं और पौधों का बढ़ाव भीतर से होता है और निर्जीव पदार्थों का बढ़ाव यदि होता है तो बाहर से। —हि० भा० खण्ड १ पृ० ५०

३५—प्राणी-सजीव और अजीव दोनों प्रकार का आहार लेते हैं। किन्तु उसे लेने के बाद वह सब अजीव हो जाता है। अजीव-पदार्थों को जीव स्वरूप में कैसे परिवर्तित करते हैं, यह आज भी विज्ञान के लिए रहस्य है। वैज्ञानिकों के अनुसार वृक्ष निर्जीव पदार्थों से बना आहार लेते हैं। वह उनमें पहुँचकर सजीव कोष्ठों का रूप धारण कर लेता है। वे निर्जीव पदार्थ सजीव बन गए इसका श्रेय "क्लोरोफिल" को है। वे इस रहस्यमय पद्धति को नहीं जान सके हैं, जिसके द्वारा 'क्लोरोफिल' निर्जीव को सजीव में परिवर्तित कर देता है। जैन-दृष्टि के अनुसार निर्जीव आहार को स्वरूप में परिणित करने वाली शक्ति आहार-पर्याप्ति है। वह जीवन-शक्ति की आधार-शिला होती है और उसी के सहकार से शरीर आदि का निर्माण होता है।

३६—लजावती की पत्तियाँ स्पर्श करते-ही मूर्छित हो जाती हैं। आप जानते हैं कि आकाश में विद्युत् का प्रहार होते ही खेतों में चरते हुए मृगों का झुण्ड भयभीत होकर तितर-बितर हो जाता है। वाटिका में विहार करते हुए विहंगों में कोलाहल मच जाता है और खाट पर सोया हुआ अबोध बालक चौंक पड़ता है। परन्तु खेत की मेड़, वाटिका के फौव्वारे तथा बालक की खाट पर स्पष्टतया कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा क्यों होता है? क्या कभी आपने इसकी ओर ध्यान दिया? इन सारी घटनाओं की जड़ में एक ही रहस्य है और वह भी सजीव प्रकृति की प्रधानता है। यह जीवों की उत्तेजना शक्ति और प्रतिक्रिया है। यह गुण लजावती, हरिण, विहंग, बालक अथवा अन्य जीवों में उपस्थित है, परन्तु किसी में कम, किसी में अधिक। आघात के अतिरिक्त अन्य अनेक कारणों का भी प्राणियों पर प्रभाव पड़ता है।

—हि० भा०—खण्ड १ पृ० ४२

३७—भग० २५।४

३८—सुहुमेणं वाउकायेणं फुडं पोग्गलकायं, एयंतं, वेयंतं चलंतं खुब्भंतं कंदंतं घट्टंतं, उदीरंतं, तं भावं परिणमतं सव्वं मिणं जीवा— स्था० ७

३९—भग० २।१०

४०—सोडियम (Sodium) धातु के टुकड़े पानी में तैरकुआ कीड़ों की तरह तीव्रता से इधर-उधर दौड़ते हैं और शीघ्र ही रासायनिक क्रिया के कारण समाप्त होकर लुप्त हो जाते हैं।

—हि० भा० खण्ड १ पृ० १३८

४१—यथा व्रीहि र्वा यवो वा—बृह० उप० ५।६।१

४२—प्रदेश मात्रम्—छान्दो० उप ५।१८।१

४३—एष प्रज्ञात्मा इदं शरीरमनुप्रविष्टः—कौषी० ३५।४।२०

४४—सर्वगतम्—मुण्डकोप० १।१।६

४५—एष म आत्मान्तर हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा ज्यायान् दिवो ज्यायानभ्यो लोकेभ्यः। —छांदो० उप० ३।१४।३

४६—जीवत्थि काए—लोए, लोव मेत्ते लोयप्पमाणे।—भग० २।१०

४०—जैन० दी० ८।२

४७—भग० ६।६।१७

४८—चत्तारि पएसग्गेणं तुल्ला.........

४९—लोकस्तावदयं सूक्ष्मजीवै निरन्तरं भृतस्तिष्ठति। बादरैश्चाधारवशेन क्वचिदेव।—पर० प्र० वृ० २।१०७

५०— अद्दाऽमलगपमाणे, पुढवीकाए हवंति जे जीवा।
ते पारेवयमित्ता जंबूदीवे न माइंति॥

५१—एगम्मि दगबिन्दुम्मिमे जे जिणवरेहिं पण्णत्ता ते जइ सरिसवमित्ता जम्बूदीवे न माइंति।

५२— वरट्टि तन्दुल मित्ता तेऊ जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
मत्थ पलिक्ख पमाणा, जंबूदीवे न माइंति॥

—सेन० उल्लास ३ प्रश्न-२६६

५३— जे लिंबपत्तफरिसा वाऊ जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
ते जइ खसखसमित्ता, जंबूदीवे न माइंति॥

—सेन उल्लास ३-प्रश्न—२६६

५४—होमर—युनान का प्रसिद्ध कवि।

—"Take your dead hydrogen atoms your

dead oxygen atoms, your dead carbon atoms, your dead nitrogen atoms, your dead phosphorous atoms and all other atoms dead as grains of shot, of which the braich is formed. Imagine them separate and senseless, observe then runing together and forming all gimaginable combinations. This as a purely mechanical process is seeable by the mind. But can you see or dream or in any way imagine how out of that mechenical act and from these individually dead atoms, sensation, thought and emotion are to arise ? Are you likely tacreate Homer out of the rattling of dice or 'Differential calculus' out of the clash of Billiardball ?······You can not satisfy the human understanding in its demand for logical continuity between molecular process and the phenomana of consciousness."

५५—नहि आत्मानमेकमाधारभूतमन्तरेण संकलनाप्रत्ययो घटते। तथाहि प्रत्येकमिन्द्रियैः स्वविषयग्रहणे सति परविषये वा प्रवृत्तेरेकस्य च परिच्छेत्तुरभावात्, मया पञ्चापि विषयाः परिच्छिन्ना इत्यात्मकस्य संकलनाप्रत्ययस्याऽभाव इति। —सूत्र० वृ० १।८

५६—विज्ञा० रूप० पृष्ठ-३६७.

५७—आया भंते! काये अन्ने काये! गोयमा आया काये वि अन्ने वि काये। रूवि भन्ते! काये अरुवि काये? गोयमा! रुवि पि काये अरु वि पि काये। एवं एकेके पुच्छा-गोयमा! सचित्ते वि काये अचित्ते वि काये।

—भग० १३।७-४६५

५८—भग० १४-४-५१४

५९—भग० १७-२-

६०—भूतेभ्यः कथंचिदन्य एव शरीरेण सह अन्योन्यानुवेधादनन्योपि।

—सूत्र०-१।१।१८

६१—आचा० १।५।६।१७१,१७२, भग०-१७-२-

६२—तथा सहेतुकोपि, नारकतिर्यङ्‌मनुष्यामरभवोपादानकर्मणा तथा तथा विक्रिय-
माणत्वात् पर्यायरूपतयेति । तथात्मस्वरूपाऽप्रच्युतेर्नित्यत्वादहेतुकोपि ।
—सूत्र० १।१।१८

६३—सूत्र०-१।१।८

६४—पावलोक के सिद्धान्त को प्रवृत्तिवाद कहते हैं। उसका कहना है कि समस्त मानसिक क्रियाएं शारीरिक प्रवृत्ति-गति के साथ होती हैं। मानसिक क्रिया और शारीरिक प्रवृति अभिन्न सहचर क्या अभिन्न ही है ?

६५—इमम्मि शरीरए सठिसिरासयं नाभिप्पभवाणं उड्ढगामिणीणं सिरं उवगयाणं जा उ रसहरणिओति वुच्चइ। जासिं णं निरुवघाएणं चक्खूसोय-घाण जिहाबलं भवइ । —तन्दु० वै०

६६—माणवेत्ति वा (अनादित्वात् पुराण इत्यर्थः) अंतरप्पातिवा (अन्तर-मध्यरूप आत्मा, न शरीर रूपः) —भग० २०।२

६७—जम्हाणं कसिणे पडिपुण्णे, लोगागासपएसतुल्ले जीवेत्ति वत्तव्वं सिया।···

६८—भिक्षु० न्या० ७-२

६९—ण एवं भूतं वा भरं वा भविस्सइ वा, जं जीवा अजीवा भविस्संति अजीवा वा जीवा भविस्संति । —स्था० १०

७०—जन्नं जीवा उद्दइत्ता उद्दइत्ता तत्थेव तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चायंति एवं रागा लोगट्ठिति पण्णत्ता । —स्था० १०

७१—सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वइ । —आचा० १।२।६

७२—कम्मियाए संगियाए। —भग० २।५

७३—स्था० ६-६८६

७४—दशवै० ८।३६

७५—गी० २।२२

७६—गी० ८।२६······

७७—·········

७८—न्याय सू० ३-१-११

७९—न्याय सू० ३-१-१२

८०—बाल सरीरं देहं तरपुव्वं इंदिया इमत्ताश्रो।
जुवदेहो बालादिव स जस्स देहो स देहित्ति। —वि० भा०

८१—The soul always weaves her garment a-new—"The soul has a natural strength which will hold out and be borne many times—PLATO.

८२—I have also remarked that it is atonce obvious to every one who hears of it (rebirth) for the frist time Soohonpenhouer.

८३—काल के सबसे सूक्ष्म भाग को अर्थात् जिसके दो टुकड़े न हो सकें, उसे 'समय' कहा जाता है।

८४—भग० १।७

८५—जीवेणं भंते सउट्ठाण सकम्मे, सबले, सवीरिए, सपुरिसक्कार परिकम्मे, आयभावेणं जीवभावं उवदंसेतीति वत्तव्वं सिया। हंता, गोयमा! जीवेणं जाव-उवदंसेतीति वत्तव्वं सिया। —भग० २।१०

८६— से णं भंते! जोए किं पवहे?···गोयमा! वीरियप्पवहे।
से णं भंते! वीरिए किं पवहे? गोयमा! सरीरप्पवहे
से णं भंते! सरीरे किं पवहे? गोयमा! जीवप्पवहे!
—भग०-१-३

८७—जीवा णं भंते! किं सवीरिया, अवीरिया?
गोयमा! सवीरिया वि, अवीरियावि— भग० १-८

८८—कह णं भंते! जीवा गुरुयत्तं हव्वं आगच्छन्ति? गोयमा! पाणाइवाएणं मुसावाएणं, अदिण्णादाणेणं, मेहुणेणं, परिग्गहेणं कोह-माण-माया-लोभ-पेज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण, पेसुण्ण-अरतिरति परपरिवाय-माया-मोस-मिच्छादंसणसल्लेणं, एवं खलु गोयमा! जीवागरुयत्तं हव्वं आगच्छन्ति। —भग० १।९

८९—कहणं भंते! जीवा लहुयत्तं हव्वं आगच्छन्ति?
गोयमा! पाणाइ वायवेरमणेणं, जाव मिच्छादंसण सल्लविरमणेणं।
—भग० १-९

९०—गंगेया! कम्मोदएणं, कम्मगुरुत्ताए, कम्मभारियत्ताए, कम्मगुरुसंभारि-

यत्ताए, असुभाणं कम्माणं उदएणं असुभाणं कम्माणं विवागेणं असुभाणं कम्माणं, फलविवागेणं, सेयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति। भग० ६।३२

६१—गंगेया ! कम्मोदएणं, कम्मोवसमेणं, कम्माविगतीए, कम्मविसोहीए, कम्मविसुद्धीए, सुभाणं कम्माणं, उदएणं, सुभाणं कम्माणं विवागेणं सुभाणं कम्माणं फलविवागेणं सयं असुरकुमारा असुरकुमारत्ताए उववज्जंति ! —भग० ६।३२

६२—एगे जीवे एगेणं समएणं एगं आउयं पडिसंवेदइ-इहभवियाउयं वा परभवियाउयं वा·······—भग० ५-३

६३—(क) जीवेणं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं किं साउए संकमइ ?

गोयमा ! साउए संकमइ, नो निराउए संकमइ।

से णं भंते ! आउए कहिं कडे, कहिं समाइएणे ?

गोयमा ! पुरिमे भवेकडे, पुरिमे भवे समाइएणे, एवं जाव वेमाणियाणं दंडओ !······ —भग०५-३

(ख) (।) जीव स्वप्रयोग से ही दूसरे जन्म में उत्पन्न होते हैं :—

तं णं भंते ! जीवा किं आयप्पयोगेणं उववज्जंति, परप्पयोगेणं उववज्जंति ?

गोयमा ! आयप्पयोगेणं उववज्जंति, नो परप्पयोगेणं उवज्जंति।

—भग० २५-८

(।।) से णं भंते ! नेरइया नेरइएसु उववज्जंति, असयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति ! गंगेया ! सयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति, नो असयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति —भग० ६-३२

: बीस :

१—प्रज्ञा० पद २३

२—४।४।३७६

३—औपचारिक मनुष्य—मनुष्य के अशुचि-स्थानों में पैदा होने वाले सूक्ष्म जीव सम्मूर्छनज होते हैं।

४—स्था० ४।४।३७७

५—स्त्रिया ओजसा समायोगो वातवशेन तत् स्थिरी-भवन लक्षणः स्त्र्योजः समायोगस्तस्मिन् सति किम्ब तत्र गर्भाशये प्रजायते।

—स्था० वृ० ४।४।३७७

६—स्था० ५।२।४१६

७—भग० २।५

८—भग० २।५

९—भग० २।५

१०—भग० वृ० २।५

११—भग० २।५

१२—भग० १।७

१३—भग० १।७

१४—भग० १।७

१५—भग० १।७

१६—गर्भ उपपात और सम्मूर्छनज

१७—सुहुमा आणागेज्झा चक्खु फासं न ते यंति —प्रज्ञा० पद-१

१८—(क) ताणि पुण असंखज्जाणि समु दिताणि चक्खु विसय मागच्छन्ति।

दशवै० चूर्णि-४

(ख) एककस्स दुण्ह तिण्ह व संखिज्जाण १०८

वि न पासिउं सक्का। दीसंति सरीराइं पुढविजियाणं असंखाणं।

आचा० नि० ८२

१९—(क) एकेन्द्रियाणामपि क्षयोपशमोपयोगरूप भावेन्द्रियपंचक सम्भवात्
······प्रज्ञा० वृ० पत्र-१

(ख) एकेन्द्रियाणां तावच्छ्रोत्रादिद्रव्येन्द्रिया भावेऽपि भावेन्द्रिय ज्ञानं किञ्चिद् दृश्यते एव। वनस्पत्यादिषु स्पष्टतल्लिङ्गोपलम्भात्।
—वि० भा० वृ० गाथा-१०३

२०— जं किर बउलाईणं, दीसइ सेसिंदिओवलंभोवि।
तेणत्थितदावरणक्खओवसम संभवो तेसिं॥

ततो न भावेन्द्रियाणि लौकिकव्यवहारपथावतीर्णैकेन्द्रियादि व्यपदेश निबन्धनम्, किन्तु द्रव्येन्द्रियाणि······प्रज्ञा० वृ० पद-१

२१— पंचिदिओ विवउलो नरोव्व सव्वविसयोवलंभाओ।
तह वि न भन्नइ पंचिदिओ त्ति वज्झिंदिया भावात्॥
—प्रज्ञा० वृ० पद-१

२२— अत्थाणंतरचारि, नियतं चित्तं तिकालविसयंतु।
अत्थेय पडुपण्णे, विणियोगं इंदियं लहई॥

अर्थान्तरचारी सर्वार्थग्राही, नियत, त्रैकालिक और संप्रधारणात्मक ज्ञान मन है। वर्तमान, प्रतिनियत अर्थग्राही ज्ञान इन्द्रिय है।

२३—नं० ४१

२४—भग० १।१

: इकीस :

१—(क) जीवाणं मंते ! किं वड्ढंति, हायंति, अवठ्ठिया ?

गोयमा ! जीवा णो वड्ढंति, णो हायंति अवट्ठिया

(ख) जीवाणं मंते ! किं सोवचया, सावचया, सोवचय-सावचया, निरवचय-निरवचया ।

गोयमा ! जीवाणो सोवचया, नो सावचया, नो सोवचय—सावचया। निरुवचय-निरवचया । —भग० ५-८ ।

२—स्था० १०।७०४

३—परमाणु पोग्गले णं मंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं, असंखेज्जंकालं, एवं जाव अणंतपएसिओ —भग० ५।७

४—जैन० दी० ८।२७

५—जैन० दी० ४।१३, १५

६—भग० ७।८ —प्रज्ञा० पद ८

७—दशवै० ४,५,६,७,८

८—"Response in the living and non-living"

९—सुहमा सव्व लोगम्मि, लोग देसेय बायरा —उत्त० ३६-७८

१०—एक्कस्स उ जं गहणं, बहूणसाहारणाण तं चेव ।
जं बहूणाणं गहणं, समासओ तं पि एयस्स ॥

—प्रज्ञा० पद-१

११—(क) साहारणमाहारो, साहारणमाणुपाणु गहणं च ।
साहारण जीवाणं, साहारण लक्खणं एयं···

(ख) समयं वक्कंताणं, समयं तेसिं सरीर निव्वत्ती ।
समयं आणुगाहण, समयं उस्सास निस्सासं··· —प्रज्ञा० पद १

१२—लोगागास पएसे, निगोयजी व ठवेहिएक्केकं ।
एवं मविज्ज माणा, हवंति लोया अणंताओ··· —प्रज्ञा० पद १

१३—(क) जह सगल सरिसवाणं, सिलेसमिस्साणवट्टिया वट्टी ।
पत्तेय सरीराणं, तह होंति सरीर संघाया'''

(ख) अहवा तिल पप्पडिया, बहूहिं तिलेहिं संहवा संति ।
पत्तेय सरीराणं, तह होंति सरीर संघाया ।—प्रज्ञा० प० १

१४—लोगागास पएसे, परित्त जीवं ठवेहिं एक्केक्कं ।
एवं मविज्जमाणा, हवन्ति लोया असंखेज्जा ॥ —प्रज्ञा० पद १

१५—संहनन का अर्थ है अस्थि रचना । अस्थि-रचना छह प्रकार की होती है, अतः संहनन के छह भेद हैं—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच अर्धनाराच, कीलक और सेवार्त ।

१६—संस्थान का अर्थ है आकृति-रचना । यों तो जितने प्राणी उतनी ही आकृतियां हैं लेकिन उनके वर्गीकरण से छह ही प्रकार होते हैं । यथा—समचतुरस्र, न्यग्रोध परिमण्डल, सादि, वामन, कुब्ज और हुण्डक ।

१७—नया० (सितम्बर १९५३) विज्ञान और कम्युनिज्म—ले० प्रो० सी० डी० डार्लिंगटन

१८—कहिणं भंते ! सम्मूच्छिम मणुस्सा सम्मुच्छन्ति ?

गोयमा ! गब्भ वक्कंतियमणुस्साण चेव उच्चारेसु वा, पासवणेसुवा, खेलेसुवा सिंघाणेसुवा, वन्तेसु वा, पित्तेसु वा, पूएसु वा, सुक्केसु वा, सुक्कपोग्गलपरिसाडेसु वा, विगयकलेवरेसु वा इत्थीपूरीससंजोएसु वा, नगरनिद्धमणेसु वा, सव्वेसुचेव असुइएसु ठाणेसु एत्थणं सम्मूच्छिममणुस्सा सम्मुच्छन्ति, अंगुलस्स असंखिज्ज भागमित्ती एओगाहणाए असन्नी-मिच्छदिट्ठी अन्नाणी सव्वाही पज्जत्तीहिं अपज्जत्तगा अंतोमुहूत्ताउया चेव काल करेंति''' —प्रज्ञा० पद १

१९—'टरपन' जाति के पशु जगत् के प्राचीनतम पशुओं में से हैं । पाषाण-युगीन गुफाओं में उनके कितने ही चित्र आज भी उपलब्ध हैं—कद में नाटा—ठिंगना, भूरे बाल, पैर पर धारियां और चूहे सा मुंह । यह पशु बड़ा ताकतवर तथा भयानक होता था । अपनी जंगली अवस्था में तो अक्सर इनके झुण्ड चरते-चरते यूरोप के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाते थे । अठारहवीं सदी तक तो इस जाति के पशुओं का पता

चलता है, किन्तु उसके बाद यह पूरी जाति ही जैसे हमेशा के लिए तिरोहित सी हो गई।

सन् १९२८ में पुरातत्त्व का शोध-छात्र (Research Scholar) हिंज हेक जब खोह-युगीन मानव के भित्ति-चित्र देखकर वापिस लौटा तो उसके मनमें यह प्रश्न उठा कि क्या हम वर्तमान घोड़े की नश्ल को विकास के उल्टे क्रम पर बदलते हुए 'टरपन' की जाति में परिवर्तित नहीं कर सकते। प्रश्न क्या था, मानो एक चुनौती थी। उसने तुरन्त ही 'टरपन' जाति के पशुओं के अस्थिपंजर तथा गुफा चित्रों का गहन अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। कई वर्ष तक वह इधर-उधर 'टरपन' सम्बन्धी सही जानकारी प्राप्त करने के लिए ही मारा-मारा फिरता रहा। आखिर पन्द्रह वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद उसने यह पता लगा लिया कि 'टरपन एशिया के जंगली घोड़ों और आइसलैंड के पालतू घोड़ों के बहुत निकट का जन्तु रहा होगा। अतः उसने इन्हीं के संक्रमण द्वारा नई नश्ल पैदा करना शुरू किया। उसे अपने प्रयोग में सफलता भी मिली। इस परीक्षण की पांचवीं पीढी का पशु बिल्कुल प्रागैतिहासिक युग के 'टरपन' के समान था और इस नई नश्ल के १७ जानवर उसने अभी तक पैदा कर लिए हैं। —नव० जून १९५३

२०—स्था० ४-४।३७७

२१—भग० १।७

: बाईस :

१—कम्मओणं भंते जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई।
कम्मओणं जओ णों अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई ॥
—भग० १२।५,

२—कर्मजं लोकवैचिम्यं चेतना मानसं च तत् —अभि० चि०

३—जो तुल्लसाहणांण फले विसेसो ण सो विणा हेउं कज्जतणओ गोयमा।
घडोव्व हेऊय सो कम्म —वि० मा०

४—आत्मनः सदसत्प्रवृत्त्या ऽऽकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गलाः कर्म।
—जै० दी० ४।१

५—ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यस्य दर्शनात् —न्याय० सू० ४।१

६—अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्। —सांख्य, सूत्र० ५।२५

७—जम्हा कम्मस्स फलं, विसयं फासेहिं भुंजदे णियमं।
जीवेण सुहं दुक्खं, तम्हा कम्माणि मुत्ताणि··· —पञ्चा० १४१

८—मुत्तो फासदि मुत्तं, मुत्तो मुत्तेण बंध मणुहवदि।
जीवो मुत्ति विरहिदो, गाहदि तेतेहिं उग्गहदि··· —पंचा० १४२

९—जीवपरिणाम हेउं कम्मत्ता पोग्गला परिणमंति।
पोग्गल कम्म निमित्तं जीवो वि तहेव परिणमइ ॥
—प्र० वृ० पृ० ४५५

१०—रूविं पि काये —भग० १३-७,
जीवस्स सरूविस्स —भग० १७-२
वण्ण रस पंच गन्धा, दो फासा अट्ठणिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्ति बंधादो —द्रव्य० सं० गा० ७

११—रूवी जीवा चेव अरूवी जीवा चेव —स्था० २

१२—कर्म बन्ध के हेतु

(१) ज्ञानावरणीय-(१) ज्ञान प्रत्यनीकता, (२) ज्ञान-निह्नव, (३) ज्ञानान्तराय,

(४) ज्ञान-प्रद्वेष, (५) ज्ञानाशातना, (६) ज्ञान-विसंवादन-योग।

(२) दर्शनावरणीय—(१) दर्शन-प्रत्यनीकता, (२) दर्शन-निह्नव, (३) दर्शनान्तराय, (४) दर्शन-प्रद्वेष, (५) दर्शनाशातना, (६) दर्शन-विसंवादन-योग।

(३) क—सात-वेदनीय—(१) अदुःख, (२) अशोक, (३) अभूरण, (४) अटिप्पण, (५) अपिट्टण, (६) अपरितापन।

(ख) असात-वेदनीय—(१) दुःख, (२) शोक, (३) झूरण, (४) टिप्पण, (५) पिट्टन, (६) परितापन।

(४) मोहनीय—(१) तीव्र क्रोध, (२) तीव्र मान, (३) तीव्र माया, (४) तीव्र लोभ, (५) तीव्र दर्शनमोहनीय, (६) तीव्र चारित्रमोहनीय।

(५) आयुष्य—(क) नारकीय—महा आरम्भ, महा परिग्रह, मांसाहार, पंचेन्द्रिय-वध।

(ख) तिर्यंच—(१) माया, (२) वञ्चना (३) असत्य वचन, (४) कूट तौल, कूट माप

(ग) मनुष्य—१ प्रकृति-भद्रता (२) प्रकृति-विनीतता (३) सानुक्रोशता (४) अमत्सरता

(घ) देव—(१) सराग संयम, (२) संयमासंयम, (३) बाल-तप (४) अकाम निर्जरा।

(६) नाम-शुभ—(१) काय-ऋजुता, (२) भाव-ऋजुता, (३) भाषा ऋजुता, (४) अविसंवादन-योग।

अशुभ— (१) काय-अऋजुता, (२) भाव-अऋजुता, (३) भाषा अऋजुता, (४) विसंवादन-योग।

(७) गोत्र-उच्च—(१) जाति-अमद, (२) कुल-अमद, (३) बल-अमद, (४) रूप-अमद, (५) तप-अमद, (६) श्रुत-अमद, (७) लाभ-अमद, (८) ऐश्वर्य-अमद।

नीच—(१) जाति-मद, (२) कुल-मद, (३) बल-मद,

(४) रूप-मद, (५) तप-मद, (६) श्रुत-मद, (७) लाभ मद, (८) ऐश्वर्य-मद,

(८) अन्तराय (१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, (५) वीर्यान्तराय। —भग ८।९

१३—भग० १।२।३४

१४—स्था० ४।१।२५१

१५—प्रज्ञा० २३।१।२९०

१६—भग० १८।१

१७—सम० ४, स्था० ४।४।३६२, ४।२।२९६

१८—बन्धनम्-निर्मापणम् —स्था० ८।५९६

१९—प्रज्ञा० प० २३

२०—स्था० २।४।१०५

२१—शरीर-संघातन-नाम कर्म के उदय से शरीर के पुद्गल सन्निहित, एकत्रित या व्यवस्थित होते हैं और शरीर-बन्धन-नाम-कर्म के उदय से वे परस्पर बंध जाते हैं।

२२—संहनन का अर्थ है अस्थि-रचना विशेष —प्र०वृ० २३

२३—जीव की सहज गति सम श्रेणी में होती है। जीव का उत्पत्ति-स्थान सम श्रेणी में हो तो 'आनुपूर्वी नाम कर्म' का उदय नहीं होता। इसका उदय जन्म-स्थान विश्रेणी में स्थित हो तभी होता है—वह गति में ही होता है। इसकी प्रेरणा से सम श्रेणी से गति करने वाला जीव अपने विश्रेणी-स्थित जन्म-स्थान में पहुँच जाता है।

२४—'आतप-नाम-कर्म' का उदय सूर्य-मंडल के एकेन्द्रिय जीवों के ही होता है। इन जीवों के शरीर शीत हैं। केवल उनमें से निकलने वाली ताप-रश्मियां ही उष्ण होती हैं।

अग्निकायिक जीवों के शरीर से जो उष्ण-प्रकाश फैलता है, वह आतप-नाम कर्म के उदय से नहीं किन्तु उष्ण-स्पर्श नाम-कर्म तथा लोहित वर्ण नाम कर्म के उदय से फैलता है।

२५—लब्धिधारी मुनि के वैक्रिय शरीर और देवता के उत्तर वैक्रिय-शरीर में से, चांद, नक्षत्र और तारा मंडल से तथा रत्न और औषधियों व लकड़ियों से निकलने वाला शीत-प्रकाश उद्योत होता है।

२६—यहाँ गति का अर्थ है चलना। आकाश के बिना कहीं भी गति नहीं हो सकती। फिर भी गति-नाम-कर्म, जो नरक आदि पर्याय-परिणति का हेतु है, से भिन्न करने के लिए "विहायस्" शब्द का प्रयोग किया है।

२७—सूक्ष्म शरीर चक्षु द्वारा देखे नहीं जा सकते। ये किसी को रोक नहीं सकते और न किसीसे रुकते भी हैं। इन पर प्रहार नहीं किया जा सकता। सूक्ष्म शरीर पांच स्थावर काय के ही होता है। ये जीव समूचे लोक में व्याप्त होते हैं।

२८—बादर शरीर एक-एक चक्षु-गृहीत नहीं होते। इनका समुदाय चक्षु-ग्राह्य हो जाता है। सूक्ष्म शरीरों का समुदाय भी चक्षु-ग्राह्य नहीं होता।

२९—शिर लगाने से प्रसन्नता होती है, पैर लगाने से रोष आता है। इसका आधार यह हो सकता है।

३०—(क) भग० ८।९

(ख) मणवयकाय जोया जीवपएसाण फंदण-विसेसा।
मोहोदएणाजुत्ता विजुदा विय आसवा होंति॥

—स्वा० का० ८८

३१—(क) जीवेण कयस्स··· —प्रज्ञा० २३।१।२९२

(ख) अमिय दुक्खे दुक्खी दुक्खाण मेवं आवट्टं अणुपरियट्टइ—

—आचा० २।६।१०५

३२—भग० ६।

३३—भग० ६

३४—दुःखनिमित्तत्वाद् दुःखं कर्म, तद्वान् जीवो दुःखी

—भग० वृ० ७।१।२६६

३५—भग० ७।१।२६६

३६—भग० ६।३

३७—प्रज्ञा० २३।१।२८८

३८— पुण्णं बंधहि जीवो मंद कसाएहिं परिणदो संतो।
तम्हा मंद कसाया हेऊ पुण्णस्स ण हि बांछा—स्वा० का० ४१२

३६—पुरुषा० २१२-२२१

४०—औदारिक वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा, आहारक वर्गणा, तैजस वर्गणा, कार्मण वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा, मनो वर्गणा।

४१—जैन० दी० ४।१

४२—कम्मवेयणा णो कम्मनिज्जरा—भग० ७।३

४३—२३।१।२१२

४४—८।५।१६

४५—१।१।१२

४६—भग० ७।१०

४७—कर्म-निषेको नाम कर्म-दलिकस्य अनुभवनार्थं रचनाविशेषः
—भग० वृ० ६।३।२३६

४८—बाधा—कर्मण उदयः, न बाधा अबाधा-कर्मणो बन्धस्योदयस्य चान्तरम्
—भग० वृ० ६।३।२३६

४६—द्विविधा स्थिति······दलिकनिषेकः। —प्रज्ञा० वृ० २३ १।२६४

५०—अपतिट्ठिए—आक्रोशादिकारणनिरपेक्षः केवलं क्रोधवेदनीयोदयात् यो भवति सोऽप्रतिष्ठितः—स्था० ४।१।२४६

५१—(क) स्था० ४।२।२४६
(ख) आभोगणिव्वत्तिए —स्था० ४।१।२४६

५२—स्था० ४।१।२६६

५३—स्था० ४।१।२४६

५४—प्रज्ञा० २३।२।२६३

५५—प्रदेशाः कर्मपुद्गलाः जीव प्रदेशेष्वोतप्रोताः तद्रूपं कर्म प्रदेशकर्म।
—भग० वृ०. १।४।४०

५६—अनुभागः तेषामेव कर्मप्रदेशानां संवेद्यमानताविषयः रसः तद्रूपं कर्म अनुभाग-कर्म। —भग० वृ० १।४।४०

५७—जाणियव्वं ण जाणाति; जाणित्तु कामे ण याणाति; जाणित्ता विण याणाति; उच्छन्न नाणी या वि भवति—प्रज्ञा० २३।१।२१२

५८—भग० ७।१०

५९— दव्वं, खेतं, कालो, भवोय भावो य हेयवो पंच हेतु।
समासेणुसदओ जायइ सव्वाण पगईणं॥
—पं० सं०

६०—प्रज्ञा० पृ० २३

६१— जीव खोटा खोटा कर्त्तव्य करै, जब पुद्गल लागे ताम।
ते उदय आयां दुःख उपजे, ते आप कमाया काम॥
पाप उदय थी दुःख हुवे, जब कोई मत करज्यो रोष।
किया जिसा फल भोगवे, पुद्गलनों सूं दोष—न० प०

६२—पर० प्र० वृ०—२।५३ पृ०—१६४

६३—पुरुषा २।५३ पृ० १६४

६४—पुरुषा-२११

६५— जो पर दव्वम्मि सुहं असुदं रागेण कुणदि जदि भाव।
सो मग चंस्ति भट्ठो पर चरिम चरो हवदि जीवो॥
आसवदि जेण पुण्णं पावं वा अप्पणो भावेण।
सो तेण पर चस्ति हवदि त्ति जिणा परूवंति॥
जो सव्व संग मुक्कोऽणण्णमणं अप्पाणं सहावेण।
जाणदि पस्सदि णियदं सो सग चरियं चरदि जीवो॥
जस्स हि दवे णुमत्तं पर दव्वम्मि विजदे रागो।
सो ण विजाणादि समयं सगस्स सव्वागम धरो वि॥
पंचा० १६४-१६५-१६६,१७५

६६— पुण्णेण होई विहवो, विहवेणमओ, मएण मइमोहो।
मइमोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होऊ॥ २।६०
इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगा-

कांक्षारूपनिदानबन्धपरिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव मदमहंकारं जनयति, बुद्धिविनाशश्च करोति न च पुनः सम्यक्त्वादि गुण सहितम्। —पर० प्र० वृ० २।६० पृ० २०१-२०२

६७—प्र० वृ० २।६१

६८—पर० प्र० वृ० २।६०

६९—पर० प्र० वृ० ५७-५८

७०—उत्त: २६।१०

७१— वत्थुसहावो धम्मो. धम्मो, जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो।

मोहकोहविहीणो, परिणामो अप्पणो धम्मो—कुन्दकुन्दाचार्य

७२—पुद्गलकर्म शुभंयत्, तत् पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्

—प्र० र० प्र० गाथा० ।२१६

७३—श्रुतचारित्राख्यात्मके कर्मक्षयकारणे जीवस्यात्मपरिणामे —सू० वृ० २-५

७४—कर्म च पुद्गलपरिणामः, पुद्गलाश्चाजीवा इति। —स्था० वृ० ९

७५—धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः पुण्यं तत्फलभूतं शुभकर्म। —भग० १-७

७६—संसारोद्धरणस्वभावः —सू० वृ० १-६

७७—सौवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।

बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्म।—समय० १४६

७८—यदशुभ (पुद्गलकर्म) मथ तत् पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम्।

—प्र० र० प्र० २१६

७९—धर्माधर्मौ पुण्यपापलक्षणौ। —आचा० वृ० ४

८०—निरवद्य करणीस्यूं पुण्य नीपजे, सावद्य स्यूं लागे पाप। —न० प०

८१—पुण्यपापकर्मोपादानानुपादानयोरध्यवसायानुरोधित्वात्।

—प्रशा० वृ० प० २२

८२—योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः .

—सू० वृ० २-५-१७, तत्वा० ६-३

शुद्धा योगा रे यदपि यतात्मनां स्रवन्ते शुभकर्माणि।

कांचननिगडांस्तान्यपि जानीयात्, हतनिर्वृतिशर्माणि॥

—शा० सु० आस्रवभावना

८३—भग० ८ २, तत्त्वा० ६, न० प०

८४—सुह-असुहजुत्ता, पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा। —द्रव्य० सं० ३८

८५—पुण्णाइं अकुव्वमाणो—पुण्यानि पुण्यहेतुभूतानि शुभानुष्ठानानि अकुर्वाणः। —उत्त० वृ० १३।२१

एवं पुण्णपयं सोच्चा—पुण्यहेतुत्वात् पुण्यं तत् पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति पदं स्थानं पुण्यपदम्। —उत्त० वृ० १८।३४

८६—त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।

तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति, न तं विना यद् भवतोऽर्थकामौ। —सू० मु०

८७—प्राज्यं राज्यं सुभगदयितानन्दनानन्दनानां,

रम्यं रूपं सरस कविता चातुरी सुस्वरत्वम्।

नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धिः,

किन्नु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य॥ —शा० सु० धर्म-भावना

८८—ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष, न च कश्चिच्छृणोति माम्,

धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किं न सेव्यते। —पा० यो० २-१३

८९—उतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

ते आह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् —पा० यो० २-१४

९०—यत्र प्रतिक्रमणमेव विषप्रणीतं, तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्। तत् किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः, किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति, निष्प्रमादः॥

—समय० ३० मोक्षाधिकार

९१—पुण्य तणी वांछा कियां, लागैछै एकान्त पाप। —न० प० ५२

९२—नो इह लोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा,

नो परलोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा।

नो कित्तीवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा,

नन्नत्थनिज्जरट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा, —दशवै० ९-४

९३—मोक्षार्थी न प्रवर्तते तत्र काम्यनिषिद्धयोः.........

काम्यानि—स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि, निषिद्धानि-नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि। —वे० सा० पृ० ४

९४—उत्त० २१-२४

६५—उत्त० १०।१५

६६—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। —गी० २-५०

६७—आस्रवो भवहेतुः स्यात्, सम्वरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥
—वी० स्तो० १६-६

६८—आस्रवो बन्धो वा बन्धद्वारा पाते च पुण्यपापे,
मुख्यानि तत्त्वानि संसारकारणानि। —स्था० वृ० ६ स्था०

६९—जिण पुण्य तणी वांछा करी, तिण वांच्छ्या काम ने भोग।
संसार बधे काम भोग स्यूं, पामै जन्म-मरण ने सोग॥ —न० प० ६०

१००—अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥
—कठ० उप० १-२-१

१०१—भग० १।३।३५

१०२—भग० १।३।३५

१०३— " ४।१। २५०

१०४—स्था० ४।४।३१२

१०५—स्था० ४।२।२१६

१०६—भग० ५।५

१०७—भेद का अर्थ है—उद्वर्तना करण के द्वारा मन्दरस का तीव्र रस होना और अपवर्तना करण द्वारा तीव्र रस का मन्दरस होना।

१०८—भग० ७।३

१०९—जैन० दी० ५।१३

११०—जैन० दी० ५।१५

१११—जैन० दी० ५।१६-३८

११२—जैन० दी० ५।१४

११३—कम्मं चिणंति सवसा, तस्सु दयम्मि उ परवसा होन्ति।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलस परवसो तत्तो॥
—वि० भा० १-३

११४—कत्थवि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइ।
जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्व विरुद्धाइ वैराइ॥
—ग० बा० २-२५

११५—कृतस्याऽविपक्वस्य नाशः—अदत्तफलस्य कस्यचित् पापकर्मणः प्रायश्चित्तादिना नाश इत्येका गतिरित्यर्थः। —पा० यो० २ सूत्र १३

११६—२।१२

११७—स्था० ४।१।२३५

११८—तुलना—द्वे शरीरस्य प्रकृती-व्यक्ता च अव्यक्ता च। तत्र अव्यक्तायाः कर्म-समाख्यातायाः प्रकृतेरुपभोगात् प्रक्षयः। प्रक्षीणे च कर्मणि विद्यमानानि भूतानि न शरीरमुत्पादयन्ति—इति उपपन्नोऽपवर्गः।
—न्याय वा० ३।२।६८

११९—प्रज्ञा० (लेश्या पद)

१२०—तत्र द्विविधा विशुद्धलेश्या—'उवसमखइय' त्ति सूत्रत्वादुपशमक्षयजा, केषां पुनरुपशमक्षयौ? यतो जायत इयमित्याह—कषायाणाम्, अयमर्थः—कषायोपशमजा कषायक्षयजा च, एकान्तविशुद्धिं चाश्रित्यैवमभिधानम्, अन्यथा हि क्षायोपशमिक्यपि शुक्लातेजःपद्मे च विशुद्धलेश्ये संभवत एवेति। —उत्त० वृ० ३४ अ०

१२१—प्रज्ञा० १७-४

१२२—उत्त० ३४-५६,५७

१२३—कर्माऽशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। —पा० यो० ४ सू० ७

१२४—सां कौ० पृष्ठ २००

१२५—श्वेताश्व उप० ४-५

१२६—अनु० १७०

१२७—अनु० १७०

१२८—अनु० १७१

१२९—अनु० १७२

१३०—अनु० १७३

: तेइस :

१—वर्णाकृत्यादि भेदानां, देहेस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मणादिषु शूद्राद्यैं गर्भाधान् प्रवर्त्तनात्।
नास्ति जाति कृतो भेदो, मनुष्याणां गवाश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मात्, अन्यथा परिकल्पते। —उत्त० पु०

२—एक्का मणुस्स जाई, रज्जुपतीह दो कया उसभे।
तिरणेव सिप्प वणिए, सावग्ग धम्मम्मि चत्तारि —आचा० १६

३—आचा० नि० २०-२७

४—क्रियाविशेषाद् व्यवहारमात्राद्, दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति, न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात्॥

—व० च० २५-११

५—स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं, क्षत्रियानसृजत् प्रभुः।
क्षतत्राणे नियुक्ता हि, क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः॥ २४३
ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्रामस्राक्षीद् वणिजः प्रभुः॥
जलस्थलादियात्राभिः, तद्वृत्तिर्वार्तया यतः॥ २४४
न्यग्वृत्तिनियतान् शूद्रान्, पद्भ्यामेवासृजत् सुधीः।
वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा, तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता॥ २४५
मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं, भरतः स्रक्ष्यति द्विजाम्।
अधीत्यध्यापने दानं प्रतीच्छेज्यादि तत्क्रियाः॥ २४६

—महा० पु० पर्व १६

६—कारवोपि मता द्वैधा, स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः।
तत्राऽस्पृश्याः प्रजाः बाह्याः, स्पृश्याः स्युःकर्तृकादयः॥

—महा० पु० पर्व० १६-१८३

७—(क) स्वदेशोऽनक्षरमलेच्छान्, प्रजाबाधा विधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः, स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः॥

— आ० पु० ४२-१७६

(ख) कुतश्चित् कारणात् यस्य, कुलं सम्प्राप्तदूषणम्।
सोऽपि राजादि-सम्मत्या, शोधयेत्स्वं यथाकुलम् ॥
—आ० पु० ४०-१६८

८—(क) प्र० क० मा० ४-५ पृ० ४८२ (ख) न्या० कु० चं० ७६७

९—गोत्रं नाम तथाविधैकपुरुषप्रभवः—वंशः

१०—उच्चा गोया वेगे णीया गोया वेगे —सू० २।१-६

११—गोत्तकम्मे दुविहे पण्णत्ते—तं जहा—उच्चागोए चेव णीया गोये चेव।
—स्था० २ ४

१२—संताणकमेणागय, जीवामरणस्स गोदमिति सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं, उच्चं नीचं हवे गोदम् ॥
—गो० जी० कर्म १३

१३—गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैर्यत् तत् गोत्रम्, उच्च नीच कुलोत्पत्ति लक्षणः पर्याय विशेषः, तद्विपाक वेद्य कर्मापि गोत्रम्, कारणे कार्योपचारात्, यद्वा कर्मणोऽपादानविवक्षया गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण उदयात् तत् गोत्रम् —प्रज्ञा० वृ० २३
पूज्योऽपूज्योऽयमित्यादि व्यपदेश्यरूपां गां वाचं त्रायते इति गोत्रम्।
—स्था० वृ० २-४

१४—उच्चैर्गोत्रं पूज्यत्वनिबन्धनम्, इतरद्—विपरीतम्।
—स्था० वृ० २, स्था० ४ उ०

उच्चम्—प्रभूतधनापेक्षया प्रधानम्। अवचम्—तुच्छधनापेक्षया अप्रधानम्। —दशवै० दी० ५-२-२५

१५—समुयाणं चरे भिक्खु कुलं उच्चावयं संया। —दशवै० ५।२।२७

१६—जात्या विशिष्टो जातिविशिष्टः, तदभावो जातिविशिष्टता इत्यादिकम्। वेदयते पुद्गलं बाह्यद्रव्यादिलक्षणम्। तथाहि द्रव्यसम्बन्धाद् राजादिविशिष्टपुरुषसम्परिग्रहाद् वा नीचजातिकुलोत्पन्नोऽपि जात्यादिसम्पन्न इव जनस्य मान्य उपजायते। —प्रज्ञा० वृ० पद २३

१७—आचा० वृ० १-६, प्र० सा० द्वार १५१

१८—जातिर्मातृकी, कुलं पैतृकम् —स्था० वृ० उ० १

जाई कुले विभासा—जातिकुले विभाषा—विविधं भाषणं कार्यम्—

तच्चैवम्—जातिर्ब्राह्मणादिका, कुलमुग्रादि अथवा मातृसमुत्था जातिः, पितृसमुत्थं कुलम्। —पि० नि० ४६८

१९—उत्त० वृ० ३-२

२०—सू० ९-१३

२१—स्था० ४-२

२२—स्था० ४-२

२३—सू० १।९।२-३

२४—उत्त० १२।१४

२५—बंभचेरेण बंभणो —उत्त० २५-३२

२६—उत्त० २५।२०,२९

२७—उत्त० २५।३३

२८—उत्त० ३।२-५

२९—(क) सू० १-१३-१५, (ख) दशवै० १०

३०—से असइं उच्चागोए; असइं णियागोए णो हीणे णो अइरित्ते णो पीहए; इइ संखाए को गोयावाई को माणावाई के सिवा एगे गिज्झे; तम्हा पण्डिए णो हरि से; णो कुज्झे; भूएहिं जाण पडिलेह सायं

—आचा० १।२।३

३१—एकस्मिन् वा जन्मनि नानाभूतावस्था उच्चावचाः कर्मवशातोऽनुभवति

—आचा० वृ० १-२-३-७८

३२—सू० १-१३-८-९

३३—सू० १-१३-१०-११

३४—सू० १-१३-१६

३५—सच्छीलान्वितो हि कुलीन इत्युच्यते न सुकुलोत्पत्तिमात्रेण।

—सू० वृ० १।१३।७

३६—सू० १।१३।७

३७—सू० २।२।२५

३८—जातिः मातृकः पक्षः तथा आर्याः—अपापा निर्दोषाः—जात्यार्याः।

—स्था० वृ० ६।४९७

३९—कुलं पैतृकः पक्षः —स्था० वृ० ६।४९७

४०—स्था० ७।५५१

४१—स्था० ३।१।१२८

४२—स्था० ४।३।२२०

४३—(क) भग० २ (ख) दशवै० ५।२

४४—उत्त० १४

४५—स्था० ८।३।५९७

४६—ब्रह्मणो मुखान्निर्गता ब्राह्मणाः, बाहुभ्यां क्षत्रियाः, ऊरुभ्यां वैश्याः, पद्भ्यां शूद्राः, अन्त्ये भवा अन्त्यजाः। —ऋग्० १०।९०।१२

४७—कम्मुणा बंभणो होइ, खत्तिओ होइ कम्मुणा।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥ उत्त० ३३—२५

न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होइ, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥
सु० नि०—(अग्गिक-भारद्वाज सुत्र १३)

४८—तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम्। —महा० भा०

४९—अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जातिः।

५०—मनुष्यजातिरेकैव, जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाद्धि तद्भेदाः, चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ —आ० पु० ३८

५१—लक्षणं यस्य यल्लोके, स तेन परिकीर्त्यते।
सेवकः सेवया युक्तः, कर्षकः कर्षणात्तथा॥
धानुष्को धनुषो योगाद्, धार्मिको धर्मसेवनात्।
क्षत्रियः क्षततस्त्राणाद्, ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यतः॥
—पद्म० पु० ६।२०९-२१०

५२—स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्।

५३—न जातिमात्रतो धर्मो, लभ्यते देहधारिभिः।
सत्यशौचतपःशील-ध्यानस्वाध्यायवर्जितैः॥
संयमो नियमः शीलं, तपो दानं दमो दया।

विद्यन्ते तात्त्विका यस्यां, सा जातिर्महती सताम् ॥—धर्म० प्रक० १७ परि०

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।

देवा देवं विदुर्भस्म गूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥ —रत्न० श्रा० श्लो० २८

५४—देह विभेइयं जो कुणइ जीवहं भेउ विचित्तु ।

सो ण वि लक्खणु मुणइ तहं, दंसणु णाणुचरित्तु—पर० प्र० १०२

५५—व्रतस्थमपि चाण्डालं, तं देवा ब्राह्मणं विदुः । पद्म० पु० ११-२०३

५६—उत्त० १२-३७ ।

५७—प्रश्न०—२ आस्रव द्वार

: चौबीस :

१—भग० १।६

२—आकाशमयोऽलोकः—जैन० दी० १।१०

३—षट्द्रव्यात्मको लोकः-जैन० दी० १।८

४—किमियं भंते ! लोएत्ति पवुच्चति ?

गोयमा ! पंचत्थिकाया—अेसणं अेवेत्तिअे लोअेत्ति पवुच्चति।

—भग० १३-४

५—जीवा चेव अजीवाय, अेस लोगे वियाहिए —उत्त० ३६।२

६—दुविहे आगासे पन्नत्ते—लोयागासेय, अलोयागासेय —भग० २·१०

७—स्था० २।४।६५

८—एक राजू असंख्य योजन का होता है।

६—जैन० अक्टूबर १६३४—लेखक प्रोफेसर घासीलालजी

१०—खेत्तओ लोए सअंते—भग० २।१

११—गुणओ गमण गुणे—भग० २।१

१२—खेत्तओ लोगपमाण मेते—भग० २।१

१३—अहोलोए खेत्तलोए, तिरियलोए खेत्तलोए, उड्ढलोए खेत्तलोए।

—भग० ११।१०

१४—भग० ११।६

१५—चउव्विहे लोए पन्नत्ते, तंजहा—दव्वलोए, खेत्त लोए, काल लोए, भाव-लोए—भग० ११।१०

१६—दव्वओणं अेगे-दव्वेतो लोगे सअन्ते……भग० २।१

१७—खेत्तओ लोए सअन्ते—भग० २।१

१८—एक देवता मेरु पर्वत की चूलिका पर खड़ा है—एक लाख योजन की ऊँचाई में खड़ा है, नीचे चारों दिशाओं में चार दिक् कुमारिकाअें हाथ में बलिपिण्ड लेकर बहिर्मुखी रहकर उस बलिपिण्ड को एक साथ फेंकती हैं। उस समय वह देवता दौड़ता है। चारों बलिपिण्डों

को जमीन पर गिरने से पहले हाथ में ले लेता है। इस गति का नाम 'शीघ्र गति' है।

१६—कालतो लोए अणंते, भावतो लोए अणंते—भग०२-१

२०—भग०—१।६

२१—(क) आकाश स्वप्रतिष्ठ है। तनुवात (सूक्ष्म वायु), घनवात (मोटी वायु), घनोदधि और पृथ्वी इनमें क्रमशः आधार-आधेय सम्बन्ध है। सूक्ष्म जीव आकाश के आश्रय में भी रहते हैं। यहाँ कुछ स्थूल जीवों की अपेक्षा उन्हें पृथ्वी के आश्रित कहा गया है। अजीव शरीर जीव के आश्रित रहता है। उसका निर्माण जीव के द्वारा होता है और वह जीव से लगा हुआ रहता है। संसारी जीवों का आधार कर्म हैं। कर्म मुक्त जीव संसार में नहीं रहते। अजीव, मन, भाषा आदि के पुद्गल, जीव द्वारा ग्रहण किए जाते हैं। जीव कर्म के अधीन हैं। इसलिए वे कर्म संगृहीत हैं।......भग० १।६

(ख) गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा—"याज्ञवल्क्य! यह विश्व जल में ओत-प्रोत है, परन्तु जल किसमें ओत-प्रोत है?"

वायु में गार्गी!

वायु किसमें ओत-प्रोत है?

अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष गन्धर्व-लोक में, गन्धर्व-लोक आदित्य-लोक में, आदित्य-लोक चन्द्र-लोक में, चन्द्र-लोक नक्षत्र-लोक में, नक्षत्र-लोक देव-लोक में, देव-लोक इन्द्र-लोक में, इन्द्र-लोक प्रजापति-लोक में और प्रजापति-लोक ब्रह्म-लोक में ओत-प्रोत है।

ब्रह्म-लोक किसमें ओत-प्रोत है याज्ञवल्क्य? यह अति प्रश्न है गार्गी! तू यह प्रश्न मत कर अन्यथा तेरा सिर कट कर गिर पड़ेगा।

बृह० उप० ३।६।१

२२—असति सत् प्रतिष्ठितम्—सति भूतं प्रतिष्ठितम्।
भूतं ह भव्य आहितं, भव्यं भूते प्रतिष्ठितम्।

(अथर्व० १७।१।२।६)

(क)......असत्, अभाव, शून्य में-निरस्त समस्तोपाधिकनाम-रूप रहित

अप्रत्यक्ष ब्रह्म में ही सत्भाव या प्रत्यक्ष माया का प्रपंच प्रतिष्ठित है। इसी सत् अर्थात् प्रत्यक्ष माया के प्रपंच में सारी सृष्टि (भव्य) के उपादान-भूत पृथिव्यादि पंच महाभूत निहित हैं, इसी से उत्पन्न होते हैं। वे ही पाँचों महाभूत समस्त कार्यों में विद्यमान रहते हैं। समस्त सृष्टि उन्हीं महाभूतों में—पीपल के बीज में पीपल के वृक्ष की तरह वर्त्तमान रहती है।

(ख) "तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद रूपेण चैव नाम्ना च"—शत० ११।२।३ ब्रह्म तीनों लोकों से अतीत है। उसने सोचा किस प्रकार मैं इन लोगों में पैठूं? तब वह नाम और रूप से इन लोगों में पैठा।

२३—स्वभाववाद, आकस्मिकवाद, यदृच्छावाद, अहेतुवाद, क्रम-विकासवाद भूतसंचारवाद, आदि-आदि।

२४—"नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।"

"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः॥

अर्वाग् देव अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव।" -६

"इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद"—७

(ऋग० १०।१२९ नासदीय सूक्त)

उस समय प्रलय दशा में असत् भी नहीं था। सत् भी नहीं था। पृथ्वी भी नहीं थी। आकाश भी नहीं था। आकाश में विद्यमान सातों भुवन भी नहीं थे।

प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करता है? यह सृष्टि किस उपादान कारण से हुई? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियाँ हुईं? देवता लोग इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं। कहाँ से सृष्टि हुई यह कौन जानता है?

ये नाना सृष्टियाँ कहाँ से हुईं, किसने सृष्टियाँ की और किसने नहीं की ये सब वेही जाने, जो इनके स्वामी परमधाम में रहते हैं। हो सकता है वे भी यह सब न जानते हों।

२५—विशेष जानकारी के लिए देखिए:— आचा० नि० ४२, स्था० ३।१

२६—'सद् द्रव्यं वा'—भग० सत्-पद प्ररूपणा

२७—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को मातृपदिका कहते हैं।

२८—द्रव्यानु० त० ६-२

२९—द्रव्यं नित्यमाकृतिरनित्या। सुवर्णं कदाचिदाकृत्या युक्तः पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृतः सुवर्णपिण्डः।......... आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्दैन द्रव्यमेवावशिष्यते। —पा० यो०

वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
तदापूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥ १ ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं, तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम ॥ २ ॥
न नाशेन विना शोको, नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं, तेन सामान्यनित्यता ॥ ३ ॥

—मी० श्लो० वा० पृष्ट ६१६

आविर्भावतिरोभाव-धर्मकेष्वनुयायि यत्।
तद् धर्मी तत्र च ज्ञानं, प्राग् धर्मग्रहणाद् भवेत् ॥ —शास्त्र० दी०

३०—**WHAT IS EATHER ?**

I am quite sure that you have heard of ETHER before now, but please do not confuse it with the liquid Ether used by surgeons, to render a patient unconscious for an operation. If you should ask me just what the Ether is, that is, the ether that conveys electromangnetic-waves. I would answer that. I can not accurately describe it. Nither can anyone else. The best that anyone could do would be to say that Ether is an invisible body and that through it electormagnetic-waves can be propagated.

But let us see from a practical standpoint the

nature of the thing called "ETHER". We are all quite familiar with the existence of solids, liquids and gases. Now, suppose that inside a glass-vassel there are no solids, liquid or gases; that all of these things have been removed including the air as well.

If I were to ask you to describe the condition that now exists within the glass-vassel, you would promptly reply that nothing exists within it, that a "Vacoum" has been created. But I shall have to correct you, and explain that within this vessel there does exist 'ETHER' nothing else.

So, we may say that Ether is a 'something that is not a solid, nor liquid, nor gaseous nor anything else which can be observed by us physically. Therefore, we say that an absolute "Vacoum" or a void does not exist any where, for we know that an absolute vacoum can not be created for Ether can not be removed.

Well, you might say, if we don't know what Ether is, how do we know it exists ?

We get our knowledge of Ether from experiments; by observing results anb deducing facts. For example, if within the glass-vessel, mentioned above, we place a bell and cause it to ring, no sound of anykind reaches our ears, Therefore, we deduce that in the absence of air, sound does not exist and thus, that sound must be due to vibration in the air.

Now let us place a radio transmitter inside the enclosure that is void cf air. We find that radio-signal's are sent out exactly the same as when the transmitter was exposed to the air. So we are right in deducing that elctromagnetic-waves, or Radio waves, do not depend upon air for their propagation.

that they are propagated through or by means of 'Something' which remained inside the glass enclosure after the air had been exhausted. This 'something' has been named "ETHER".

We believe that Ether exists throughout all space of the universe, in the most remote region of the stars, and at the same time within the earth; and in the seemingly impossible small space which exists between the atoms of all matter. That is to say, Ether is everywhere; and that electromagnetic wave can be propagated everywhere.

(Hollywood R. and T.)
Instruction Lesson No. 2

३१—भग० १३।४।४८१

३२—एगे धम्मे—एकः प्रदेशार्थतया असंख्यातप्रदेशात्मकत्वेऽपि द्रव्यार्थतया तस्यैकत्वात्। —स्था० १

३३—लोयमेत्ते, लोयपमाणे —भग० २-१०

३४—धर्माधर्मविभुत्वात्, सर्वत्र च जीवपुद्गलविचारात्।
नालोकः कश्चित् स्या, न्न च सम्मतमेतदर्याणाम्॥ १॥
तस्माद् धर्माधर्मौ, अवगाढौ व्याप्य लोकखं सर्वम्।
एवं हि परिच्छिन्नः, सिद्ध्यति लोकस्तद् विभुत्वात्॥ २॥
—प्रज्ञा० वृ० पद १

३५—लोकालोकव्यवस्थानुपपत्ते —प्र० वृ० प०

३६—यो यो व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेयः, स स सविपक्षः। यथा घटोऽघट विपक्षकः। यश्च लोकस्य विपक्षः सोऽलोकः। —न्याया०

३७—लोक्यन्ते जीवादयोऽस्मिन्निति लोकः, लोकः—धर्माधर्मास्तिकाय व्यवच्छिन्ने, अशेषद्रव्याधारे, वैशाखस्थानकन्यस्तकरयुग्मपुरुषोपलक्षिते आकाशखण्डे। —आ० वृ० १-२-१

३८—अलोकाभन्तु भावाद्यैर्भावैः पञ्चभिरुज्झितम्॥
अनेनैव विशेषेण लोकाभ्रात् पृथगीरितम॥—लो० प्र० २२८

३९—तम्हा धम्माधम्मा, लोगपरिच्छेयकारिणो जुत्ता।
इयरहागासे तुल्ले, लोगालोगेत्ति को भेओ॥ —न्याय०

४०—भग० १३।४

४१—भग० १३।४

४२—प्रयोगविस्रसाकर्म, तदभावस्थितिस्तथा।
लोकानुभाववृत्तान्तः, किं धर्माधर्मयोः फलम्॥ —नि० द्वा० २४

४३—वै० सू० २।२।१०

४४—स्था० २।३।८१

४५—उत्त० २८।६

४६—भग० १३।४

४७—दिश्यते-व्यपदिश्यते पूर्वादितया वस्त्वनयेति दिक् ···स्था० वृ० ३।३

४८—आचा० नि० ४२।४४

४९—आचा० नि० ४७।४८

५०—आचा० नि० ५१

५१—किमयं भंते! कालोति पव्वुच्चइ? गोयमा! जीवा चेव अजीवा चेव।

५२—कइणं भंते दव्वा पण्णत्ता? गोयमा! छद्दव्वा पण्णत्ता तंजहा-धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, अद्धासमए······भग०

५३—समयाति वा, आवलियाति वा, जीवाति वा, अजीवाति वा पवुच्चति।
—स्था० ९५

५४—लोगागास पदेसे, एक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का। रयणाणं रासी इव, ते कालाणु असंख दव्वाणि॥
—द्रव्य सं० २२, गो० जी० ५८६, सर्वा० सि० ५।३९

५५—जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः
—न्या० का० ४५, वै० द० २।२।६—१०

५६—पा० यो० भाष्य—५२ सां० कौ० ३३

५७—तत्त्वा०—५।२२

५८—परापरत्वधीर्हेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः—न्या० का० ४६

५९—वै० सू० २।२।६

६०—मानव की कहानी पृष्ठ १२२५ का संक्षेप

६१—अयंतु विशेषः समयविशिष्टवृत्ति-प्रचयः शेष द्रव्याणामूर्ध्व-प्रचयः, समय-प्रचय एव कालस्योर्ध्वप्रचयः —प्रव० वृ० १४१

६२—स्था० ४।१

६३—भग० ११।११

६४—पल्योपम—संख्या से ऊपर का काल—असंख्यात काल, उपमा काल—एक चार कोश का लम्बा-चौड़ा और गहरा कुआ है, उसमें नवजात यौगलिक शिशु के केशों को जो मनुष्य के केश के २४०१ हिस्से जितने सूक्ष्म हैं, असंख्य खंड कर खाम-खाम करके भरा जाए, प्रति सौ वर्ष के अन्तर से एक-एक केश-खण्ड निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ खाली हो, उतने काल को एक पल्य कहते हैं—

६५—जीवेणं भंते ! पोग्गली, पोग्गले ? जीवे पोग्गलीवि, पोग्गलेवि ।

—भग० ८।१०।३६१

६६—अचित्त-महास्कन्ध—केवली समुद्घात के पांचवें समय में आत्मा से छूटे हुए जो पुद्गल समूचे लोक में व्याप्त होते हैं, उनको अचित्त-महास्कन्ध कहते हैं—

६७—दुविहा पुग्गला पन्नता, तंजहा—परमाणुपुग्गला, नो परमाणु पुग्गला चेव । —स्था० २

६८—पृ० १२६

६९—स्था० ४, भग० ५।७

७०—परमाणु दुविहे पन्नते, तंजहा—सुहुमेय ववहारियेय ।—अनु०प्रमाणद्वार

७१—अणंताणं सुहुमपरमाणुपोग्गलाणं समुदयसमिति समागमेणं ववहारिए परमाणुपोग्गले निप्फज्जंति । —अनु० प्रमाणद्वार

७२—भग० २५।३

७३—परमाणु हिं अप्रदेशो गीयते—द्रव्यरूपतया सांशो भवतीति, न तु काल-भावाभ्यामपि 'अप्प रासो दव्वट्ठाए' इति वचनात्, ततः कालभावाभ्यां सप्रदेशत्वेऽपि न कश्चिद्दोषः । —प्रज्ञा० पद ५

७४—चउव्विहे पोग्गलपरिणामे पन्नत्ते, तंजहा—वन्न परिणामे, गन्धपरिणामे, रसपरिणामे, फासपरिणामे। —स्था० ४

७५—भग० ५।७

७६—भग० १८।८

७७—दोहि ठाणेहि पोग्गला साहन्नंति, सयंवा पोग्गला साहन्नंति, परेण वा पोग्गला साहन्नंति, एवं भिज्जंति, परिसडंति, परिवडंति विद्धंसंति।
—स्था० २

७८—भग० ५।७

७९—प्रज्ञा० २८

८०—भग० १२।४

८१—भग० १४।४

८२—भग० १४।४

८३—उत्त० ३६।१०

८४—भग० ५।८

८५—भग० ५।८

८६—भग० ५।८

८७—भग० ५।८

८८—भग० ८।१

८९—भग० ८।१

९०—भग० १६।८

९१—भग० ५।७

९२—भग० ५।७

९३—भग० ५।७

९४—भग० २।१,

९५—उत्त० अ० २८ गा० १२

९६—पओग परिणया, मीसा परिणया, वीसा परिणया। —स्था० ३

९७—स्था० २०

६६—प्रज्ञा० प० ११,

१००—प्रज्ञा० प० ११

१०१—तएणं तीसेमेघोघरसिअँगंभीरमहुरयरसद्द जोयण परिमंडलाए सुघोसाए घंटाए तिक्खुत्तो उल्लालिआए समाणीए सोहम्मे कप्पे अण्णेहिं सगूणेहिं बत्तीसविमाणावाससयसहस्सेहिं अण्णाइं सगूणाइं बत्तीसं घण्टा सयसहस्साइं जमगसमगं कणकणारावं काउं पयत्ताइं पि हुत्था ।

—जम्बू प्र० ५ अ

१०२—प्रज्ञा० ११

१०३—प्रज्ञा० ११

१०४—तत्त्वा० रा० ५।३४

१०५—तत्त्वा० रा० ५।३५

१०६—तत्त्वा० रा० ५।३५

१०७—जघन्येतर-अजघन्य अर्थात् दो अंशवाला। दूसरा परमाणु भी दो अंशवाला होता है तब वह सम जघन्येतर तीन अंश वाला एकाधिक जघन्येतर आदि होता है।

१०८—तत्त्वा० रा० ५।३६

१०६—तत्त्वा० रा० ५।३६

११०—प्रज्ञा० प० १५,

१११—रश्मिः छाया पुद्गलसंहतिः।

११२—भासा उ दिवा छाया, अभासुरगतानिसित्तु कालाभा।
साचेव भासुर गया, सदेहवन्ना मुणेयव्वा ॥ १ ॥
जे आदरिसं तत्तो, देहावयवा हवंति संकंता।
तेसिं तथ्यऽवलंबद्धी, पगासयोगा न इयरेसिं ॥ २ ॥

—प्रज्ञा० वृ० पद १५

११३—अजामेकाम् —सां० कौ० १

११४—सोऽनन्तसमयः। —तत्त्वाः ५।४०

११५—धम्मं अहम्मं आगासं, दव्वं एक्केक्कमाहियं।

[illegible]

११६—हि० भा० अंक १ लेख १

११७—हि० भा० अंक १

११८—हि० भा० अंक १ चित्र १

११९—यूनानी विद्वान् युक्लीड रेखागणित (दिशागणित) का प्रसिद्ध आचार्य हुआ है। युक्लीडीय-रेखागणित का आधार यह है कि विश्व का ओर-छोर नहीं है, वह अनन्त से अनन्त तक फैला हुआ है।

१२०—अनेकान्त वर्ष १ किरण ५ पृ० ३०८

"जैन भूगोलवाद"—ले० श्री बाबू घासीरामजी जैन S. S. C प्रोफेसर "भौतिक शास्त्र"

१२१—'आज०-वर्ष २, संख्या ११ मार्च १९४७।

'फिलिपाइन और उसके वासी—ले० R. वैंकटरामन

१२२—इंगलिशमेन ता० १६ सितम्बर १९२२ के अंक में लिखता है कि—"वैनगनुई कारखाने के स्वामी मि० वार्ड द्वारा न्यूजीलैंड में बनाई गई १२ इञ्ची दूरबीन द्वारा मैसर्स टाऊनलैंड और हार्ट ने हाल ही में हवेरा में दो चन्द्रमाओं को देखा। जहाँ तक मालूम हुआ यह पहला ही समय है जब न्यूजीलैंड में दो चन्द्रमा दिखाई दिए।

१२३—पृथ्वी के गोलाकार होने के संबंध में यह दलील अक्सर दी जाती है कि कोई आदमी पृथ्वी के किसी भी बिन्दु से रवाना हो और सीधा चलता जाए तो वह पृथ्वी की भी परिक्रमा करता हुआ फिर उसी स्थान 'बिन्दु' पर पहुँच जाएगा। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पृथ्वी का धरातल नारंगी की तरह गोल अर्थात् वृत्ताकार है। इससे सिर्फ इतना ही साबित होता है कि वह चिपटी न होकर वर्तुलाकार है। अगर पृथ्वी को लौकी की शक्ल का मान लें तो भी यह सम्भव है कि एक निश्चित बिन्दु से यात्रा आरम्भ करके सीधा चलता हुआ व्यक्ति फिर निश्चित बिन्दु पर ही लौट आए।

—विश्व० भा०—लेखक श्री रमाकान्त—पृष्ठ १६०

१२४—कुछ विद्वानों की गवेषणा तथा खोज के परिणाम स्वरूप पृथ्वी का एक नवीन ही आकार माना गया है जो न पूर्णतया गोल है और न

अण्डाकार। इस आकार को 'पृथिव्याकार' कहें तो ठीक है, क्योंकि उसका अपना निराला ही आकार है। इस आकार की कल्पना इस कारण की गई है कि पृथ्वी का कोई भी भागांश—यहाँ तक कि विशवत् रेखा भी-पूर्ण वृत्त नहीं है।

१२५—क्या भूगोल है? The Sunday News of India 2nd May 1954.

(विश्व-लेखक०—रामनारायण B. A. पृ० ३५)

१२६—(क) सु० च०

(ख) अनेक लोगों का मत है कि पृथ्वी गोल है। इसकी पार्श्ववर्ती गोलाई में एक ओर भारत स्थित है। इसके ठीक विपरीत अमेरिका है अतः उनके विचार से अमेरीका ही पाताल लोक है।

[धर्म०—वर्ष ६ अंक ४६ दिसम्बर ४ १६५५

१२७—'जैन०' १ अक्टूबर १६३४

लेखकः-श्रीमान् प्रोफेसर घासीरामजी M. S. C.-A. P. S. लन्दन।

१२८—ज्यो० रत्ना०-भाग १ पृ० २२८—ले० देवकीनन्दन मिश्र।

१२६—सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा परमाणुओं को संयुक्त करता है, उनके संयोग का आरम्भ होने पर ही सृष्टि होती है, इसलिए यह "आरम्भवाद" कहलाता है।

१३०—ईश्वरवादी सांख्य और योगदर्शन के अनुसार सृष्टि का कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। ईश्वर के द्वारा प्रकृति के क्षुब्ध किये जाने पर त्रिगुण का विकास होता है। उससे ही सृष्टि होती है। अनीश्वर-वादी सांख्य परिणाम को प्रकृति का स्वभाव मानते हैं। परिणामवाद के दो रूप होते हैं—गुणपरिणामवाद और ब्रह्मपरिणामवाद। पहला सांख्यदर्शन तथा माध्वाचार्य का सिद्धान्त है। दूसरा सिद्धान्त रामानुजाचार्य का है, वे प्रकृति, जीव और ईश्वर—इन तीन तत्त्वों को स्वीकार करते हैं फिर भी इन सबको ब्रह्मरूप ही मानते हैं—ब्रह्म ही अंश विशेष में प्रकृति रूप से परिणत होता है और वही जगत् बनता है।

१३१—(क) बौद्ध दर्शन में परिवर्तन की प्रक्रिया "प्रतीत्य समुत्पादवाद" है। यह सही अर्थ में अहेतुकवाद है। इसमें कारण से कार्य उत्पन्न नहीं होता किन्तु सन्तति प्रवाह में पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

(ख) जैन दृष्टि के अनुसार दृश्य विश्व का परिवर्तन जीव और पुद्गल के संयोग से होता है। परिवर्तन स्वाभाविक और प्रायोगिक दोनों प्रकार का होता है। स्वाभाविक परिवर्तन सूक्ष्म होता है, इसलिए दृष्टिगम्य नहीं होता। प्रायोगिक परिवर्तन स्थूल होता है, इसलिए वह दृष्टिगम्य होता है। यही सृष्टि या दृश्य जगत् है। वह जीव और पुद्गल की सांयोगिक अवस्थाओं के बिना नहीं होता।

वैभाविक पर्याय की आधारभूत शक्ति दो प्रकार की होती है—ओघ और समुचित। "घास में घी है"—यह ओघ शक्ति है। "दूध में घी है"—यह समुचित शक्ति है। ओघ शक्ति कार्य की नियामक है—कारण के अनुरूप कार्य पैदा होगा, अन्यथा नहीं। समुचित शक्ति कार्य की उत्पादक है, कारण की समग्रता बनती है और कार्य उत्पन्न हो जाता है।

गुणपर्याययोः शक्तिर्मात्रमोघोद्भवादिमा।
आसन्नकार्ययोग्यत्वाच्छक्तिः समुचिता परा॥
ज्ञायमाना तृणत्वेनाज्यशक्तिरनुमानतः।
किं च दुग्धादि भावेन प्रोक्ता लोकसुखप्रदा॥
प्राक् पुद्गलपरावर्ते, धर्मशक्ति र्यथौघजा।
अन्त्यावर्ते तथा ख्याता शक्तिः समुचितांगिनाम्॥
कार्यभेदाच्छक्ति भेदो, व्यवहारेण दृश्यते।
युक् निश्चय नयादेकमनेकैः कार्यं कारणैः॥
स्वस्वजात्यादि भूयस्यो गुण पर्यायव्यक्तयः।

द्रव्यानु० त० २ अध्याय, ६ से १०

१३२—देखो कार्यकारणवाद।

पाँचवां खण्ड

: पचीस :

१—उत्त० ६।३६ ।

२—आचा० १।३।४।१२६ ।

३—आचा० १।३।४।१२६ ।

४—आचा० १।३।४।१२६ ।

५—आचा० १।३।४।१२२ ।

६—(क) सम्यक्-दर्शन आत्म-दर्शन । (ख) सम्यग्-ज्ञान-आत्मज्ञान ।
(ग) सम्यक् चरित्र—आत्म-रमण ।

७—खणमेत्त सुक्खा बहुकाल दुक्खा पगाम दुक्खा अणिगाम सुक्खा ॥
—उत्त० १४।१३ ।

८—आचा० १।२।३।८० ।

६—औप० ।

१०—उत्त० १०।१८-२० ।

११—उत्त० २६।१-३

१२—अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ…… सू० १।२।२।३०

१३—सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ ।
जेण न इंदिय हाणी, जेण जोगा ण हायंति ॥
तत्नह न देहपीड़ा, न यावि चिअ मंस सोणि मत्तं तु ।
जह धम्मज्झाण बुद्धी, तहा इमं होइ कायव्वं ॥
—पं० व० प्रथम द्वार २१४-१५

१४—रागो य दोसो वि य कम्मबीयं —उत्त० ३२।७

१५—कम्मं च मोहप्प भवं वयंति —उत्त० ३२।७

१६—ना दंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥
—उत्त० २८।३०

१७—बु० व० पृ० २२

१८—न्याय० सू० ४।१-३-६

१६—सां० का० ४४

२०—न्याय० सू० ४।१।३-६

२१—सां० का० ६४।३

२२—योग० द० २।१३

२३—तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वि याहियं॥ —उत्त० ८।१५

: छब्बीस :

१—भग० ८।१०

२—भग० ८।१०

३—भग० ८।१०

४—भग० ८।१०

५—भग० ८।१०

६—स्था० २।१।७२

७—तिविहे सम्मे पण्णत्ते, तंजहा—णाण सम्मे, दंसण सम्मे, चरित्र सम्मे

—स्था० ३।४।११४

८—ना दंसणिस्स ना णं, नाणेण बिना न हुंति चरण गुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

—उत्त० २८।३०

९—नन्वित्यं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वमिति पर्यवसन्नम्। तत्र श्रद्धानं च तथेति प्रत्ययः, स च मानसोऽभिलाषः। नचायमपर्याप्तकाद्यवस्थायामिष्यते, सम्यक्त्वं तु तस्यामपीष्टम्, षट्षष्टिसागरोपमरूपायाः सार्धपर्यवसित-काळरूपायाश्च तस्योत्कृष्टस्थिते प्रतिपादनादिति कथं नागमविरोधः? इत्यत्रोच्यते—तत्त्वार्थं श्रद्धानं सम्यकत्वस्य कार्यम्, सम्यकत्वं तु मिथ्यात्व-क्षयोपशमादिजन्यः शुभआत्मपरिणामविशेषः। आह च—"से अ सम्मते पसत्थ सम्मत मोहणीयकम्माणु वेअणोवसमक्खयसमुत्थे पसमसंवेगाई लिंगे सुहे आय परिणामे पण्णत्ते।" इदं च लक्षणममनस्केषु सिद्धादि-ष्वपि व्यापकम्। इत्थं च सम्यक्त्वे सत्येव यथोक्तं श्रद्धानं भवति। यथोक्ते श्रद्धाने च सति सम्यक्त्वं भवतीति श्रद्धानवतां सम्यकत्वस्या-वश्यम्भावित्वोपदर्शनाय कार्ये कारणोपचारं कृत्वा तत्त्वेषु रुचिरित्यस्य तत्त्वार्थश्रद्धानमित्यर्थपर्यवसानं न दोषाय। तथा चोक्तम् जीवाइनवपयत्थे जो जाणइ तस्स होई सम्मत्तं। भावेण सद्दहंते अयाणमाणे वि सम्मत्तं॥ १॥ धर्म० सं०—२ अधिकार

१०—नन्ववबोधसामान्याद् ज्ञानसम्यक्त्वयोः कः प्रतिविशेषः ? उच्यते—रुचिः-सम्यक्त्वम्, रुचिकारणं तु ज्ञानम्। यथोक्तम्—नाणमवायधिईओ, दंसण पिट्ठं जहोग्गहेआओ। यह वत्तरुई सम्मं, रोइज्जइ जेण तं नाणं।
—स्था० १

११—स्था० १

१२—स्था० २

१३—देखो कर्म प्रकरण।

१४— ,, ,, ,,

१५— ,, ,, ,,

१६—मिथ्यात्व मोह या अविशुद्धपुंज का उदय होता है।

१७—सम्यक्त्व-मोह या शुद्ध-पुंज का उदय होने पर।

१८—क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शन प्रतिपाति—जो अशुद्ध-परमाणु-पुञ्ज का वेग बढ़ने पर मिट भी सके—वैसा सम्यक्-भाव

१९—औपशमिक सम्यग्-दर्शन—अन्तर्मुहूर्त्त तक होने वाला सम्यग्-भाव

२०—क्षायिक सम्यग्-दर्शन—अप्रतिपाति—फिर कभी नहीं जाने वाला।

२१—देखिए—आचार-मीमांसा

२२—उत्त० २८। १६-२७

२३—मिथ्यात्व-मोह की देशोन (पल्य का असंख्याततम भाग न्यून) एक कोड़ाकोड़ सागर की स्थिति में से अन्तर-मुहूर्त्त में भोगे जा सकें, उतने परमाणुओं को नीचे खींच लेता है। इस प्रकार उन परमाणुओं के दो भाग हो जाते हैं—(१) अन्तर्-मुहूर्त्त-वेद्य और अन्तर्-मुहूर्त्त कम पल्य का असंख्याततम भाग न्यून एक कोड़ाकोड़ी-सागर वेद्य।

२४—(१) पहला चरण 'यथा प्रवृत्तिकरण' है। इसमें मिथ्यात्व-ग्रन्थि के समीप गमन होता है। (२) दूसरा चरण 'अपूर्वकरण' है। इसमें मिथ्यात्व-ग्रन्थि का भेद होता है और क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शन पाने वाला मिथ्यात्व-मोह के परमाणुओं का तीन रूपों में पुञ्जीकरण करता है। (३) तीसरा चरण 'अनिवृत्तिकरण' है। इसमें मिथ्यात्व-मोह के परमाणुओं का दो रूपों में पुञ्जीकरण होता है। प्रथम पुंज का शीघ्र

क्षय और दूसरे पुंज का उदय-निरोध (अन्तर् मुहूर्त तक उदय में न आ सके, वैसा विष्कम्भन) होता है। 'अनिवृत्तिकरण' के दो प्रधान कार्य हैं—(१) मिथ्यात्व परमाणुओं को दो रूपों में पुञ्जीकृत कर उनमें अन्तर 'करना' और (२) पहले पुञ्ज के परमाणुओं को खपाना। यहाँ अनिवृत्तिकरण का काल समाप्त हो जाता है। इसके बाद 'अन्तरकरण' की मर्यादा—मिथ्यात्व-परमाणुओं के विपाक से खाली अन्तर्-मुहूर्त का जो काल है, वह औपशमिक सम्यग्-दर्शन है। इनमें पहला विशुद्ध, दूसरा विशुद्धतर और तीसरा विशुद्धतम है। पहले में ग्रन्थि-समीपगमन, दूसरे में ग्रन्थि-भेद और तीसरे में अन्तर करण होता है।

२५—क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शनी के मिथ्यात्व और मिश्र पुञ्ज उपशान्त रहते हैं, सम्यक्त्व पुञ्ज का वेदन रहता है। इस प्रकार द्विपुञ्ज के उपशम और तीसरे पुञ्ज के वेदन (वेदन द्वारा क्षय) के संयोग से क्षायोपशमिक दर्शन बनता है।

२६—तहिया णं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं। भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं। —उत्त० २८।१५

२७—असंजमं परियाणामि संजमं उवसंपज्जामि, अबंभं परियाणामि बंभं उवसंपज्जामि, अकप्पं परियाणामि कप्पं उवसंपज्जामि, अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपज्जामि, अकिरियं परियाणामि किरियं उवसं पज्जामि, मिच्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि अबोहिं परियाणामि बोहिं उवसंपज्जामि, अमग्गं परियाणामि, मग्गं उवसंपज्जामि। —आव०

२८—तीर्थ प्रवर्तक वीतराग, राग-द्वेष-विजेता।

२९—मुक्त परमात्मा

३०—सर्वज्ञ-सर्व-दर्शन

३१—चत्तारि मंगलं···केवली पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।··· —आव०

३२—अरिहंतो महदेवो। जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो। जिणपण्णत्तं तत्तं, इय सम्मत्तं मए गहियं। —आव०

३३—स्था० ३-१

३४—स्था० २।४

३५—उत्त० २८।११ —रत्न० श्रा० १।११।१८

३६—(क) उत्त० २८।२८

(ख) सम्यग्-दर्शी दुर्गति नहीं पाता—देखिए —रत्न० श्रा० १।३२

३७—भग० ३०।१

३८—सम्यग्-दर्शनसम्पन्न-मपि मातंगदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्म-गुढाङ्गारान्तरौजसम् ॥ —रत्न० श्रा० २८

३९—स्था० ६।१।४८०

४०—स्था० ६।१।४७८

४१—न चास्थिराणां भिन्नकालतयाऽन्योन्याऽसम्बद्धानाञ्च तेषां वाच्यवाचक भावो युज्यते —स्या० मं० १६

४२—तुलना—बाह्य जगत् वास्तविक नहीं है, उसका अस्तित्व केवल हमारे मनके भीतर या किसी अलौकिक शक्ति के मन के भीतर है यह आदर्शवाद कहलाता है। आदर्शवाद के कई प्रकार हैं। परन्तु एक बात वे सभी कहते हैं, वह यह कि मूल वास्तिवकता मन है। वह चाहे मानव-मन हो या अपौरुषेय-मन और वस्तुतः यदि उसमें वास्तविकता का कोई अंश है तो भी वह गौण है। एंगेल्स के शब्दों में मार्क्स-वादियों की दृष्टि में—"भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण प्रकृति को ठीक उसी रूप में देखता है, जिस रूप में वह सचमुच पायी जाती है।" बाह्यजगत् वास्तविक है। हमारे भीतर उसकी चेतना है या नहीं—इस बात से उसकी चेतना स्वतन्त्र है। उसकी गति और विकास हमारे या किसी और के मन द्वारा संचालित नहीं होते।

(मार्क्सवाद क्या है ? ५,६८,६६ ले० एमिल वर्न्स)

४३—ये चारों तथ्य मनोविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

४४—जइ० पृ० ६० ६४

४५—भग० १।३

: सत्ताइस :

१—आणागिज्झो अत्थो, आणा ए चेव सो कहेयव्वो।
विट्ठंतिअं विट्ठंता, कहणविहि, विराहणा इयरा॥ —आव० ६।७१

२—जो हेउवाय पक्खम्मि, हेउओ, आगमे य आगमिओ।
सो ससमयपण्णवओ, सिद्धन्त विराहओ अन्नो॥ —सन्म० ३।४५

३—ना दंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥—उत्त० २८।३०

४—अत्ताण जो जाणति जोय लोगं, गइं च जो जाणइ णागइं च।
जो सासयं जाण असासयं च, जातिं (च) मरणं च जणोववायं॥
अहो वि सत्ताण विउट्टणं च, जो आसवं जाणति संवरं च।
दुक्खं च जो जाणति निज्जरं च, सो भासिउमरिहइ किरियवायं॥
—सू० १।१२।२०,२१

५—वी० स्तो० १९।६

६—अविद्या बन्ध हेतुः, स्यात्, विद्या स्यात् मोक्षकारणम्।
ममेति बध्यते जन्तुः न ममेति विमुच्यते॥

७—यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो, रोगहेतुः आरोग्यं, भेषज्यम् इति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहम्-तद्यथा-संसारः संसार-हेतुः, मोक्षो, मोक्षोपाय इति। —व्या० भा० २।१५

८—दुःखमेव सर्वं विवेकिनः हेयं दुःखमनागतम्—यो० सू० २-१५-१६

९—दुःख त्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ—सां० १—क

१०—सव्वेपाणा ण हन्तव्वा-एसधम्मे, धुवे, णियए, सासए—आचा० १-४-१

११—शिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणराविति, सिद्धि गई, नाम धेयं ठाणं—णमोत्थुणं—आव०

१२—जे निज्जिण्णे से सुहे, पावे कम्मे जेय कडे जेय कज्जइ जेय कज्जिस्सइ-सव्वे से दुक्खे। —भग० ७।८

१३—अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे—आचा० ३-२-१८३

१४—खणमित्त सुक्खा बहुकालदुक्खा पगाम दुक्खा अणिगाम सुक्खा।
संसार मुक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थानश्रो काम भोगा॥
—उत्त० १४।१३

१५—सव्वे अकंत दुक्खाय—सू० १६

१६—जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगणि मरणाणिय।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतुणो—उत्त० १६।१६

१७—आचा० वृ० १-१

१८—आचा० २-४-११०

१९—किं भया पाणा समणाउसो !……गोयमा !
दुक्खभयापाणा समणा उसो। सेणं भंते ! दुक्खे केण कडे–जीवेण कडे, पमाएणं। सेणं भन्ते दुक्खे कहं वेइज्जंति ? अप्पमाएणं—स्था ३।२

२०—जं दुक्खं इह पवे इयं माणवाणं, तस्स दुक्खस्स कुसला परिण्ण मुदा हरंति—आचा० १-२-६

२१—इह कम्मं परिण्णाय सव्वसो—आ० १।२।६

२२—जे मेहावी अणुग्घाय खेयण्णे, जेय बंध पमुक्ख ण मन्नेसि।
—आचा० १।२।६

२३—जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति से आयवं, नाणवं वेयवं, धम्मवं, बंभवं—आचा० १-३-१

२४—सर्वस्य पुद्‌गलद्रव्यस्य द्रव्यशरीरमभ्युपगमात्। जीव सहितासहितत्वं तु विशेषः। उक्तञ्च—
सत्था सत्थ हयाओ, निज्जीव, सजीव रूवाओ—आचा० वृ० १।१।३

२५—अनन्तानामसुमतामेकसूक्ष्मनिगोदिनाम्।
साधारणं शरीरं यत्, स "निगोद" इति स्मृतः॥ —लो० प्र० ४।३२

२६—कदापि ये न निर्याता बहिः सूक्ष्मनिगोदतः।
अव्यावहारिका स्ते स्यु र्दरीजातमृताइव॥ —लो० प्र० ४-६६

२७—सूक्ष्मान्निगोदतोऽनादेर्निर्गता एकशोपि ये।
पृथिव्यादिव्यवहारञ्च, प्राप्तास्ते व्यावहारिकाः॥

सूक्ष्मानादिनिगोदेषु, यान्ति यद्यपि ते पुनः ।
ते प्राप्तव्यवहारत्वात्, तथापि व्यवहारिणः ॥

—लो० प्र० ४।६४-६५

२८—प्रज्ञा० १८, लो० प्र० ४।३

२६—जैन० दी० ४।२३

३०—(क) कडेण मूढो पुणो वितं करेइ —आचा० १-२-५-६५

(ख) वृत्तिभिः संस्काराः संस्कारेभ्यश्च वृत्तयः—इत्येवं-वृत्तिसंस्कारचक्रं निरन्तरमावर्त्तते —पा० यो० १-५ भास्वती

३१—भग० १३।४

३२—भग० १३।४

३३—उत्त० २८।१४

३४—त० सू० १।४,

३५—उत्त० २८।१४,

३६—त० सू० २।१०,

३७—जैन० दी० ५।१५

३८—यः परात्मा स एवाहं, योऽहं स परमस्ततः । —समाधि० ३१

३६—(क) अन्यच्छरीरमन्योहम्—तत्वा० १४६

(ख) जीवान्यःपुद्गलश्चान्यः —इ० ५०

४०—पुद्गलः पुद्गला स्तृप्ति, यात्यात्मा पुनरात्मना ।
परतृप्तिसमारोपो, ज्ञानिनस्तन्न युज्यते ॥ —श्री ज्ञानसार सूक १०।५

४१—यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम् ।
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम् ॥

४२—भग० १।८।७

४३—सू० १।१०।१५

४४—पमायं कम्म माहंसु, अप्पमाय तहाऽवरं ।
तब्भावा देसओ वायि, बालपंडियमेव वा ॥ —सू० १।८।३

४५—सू० १ ८-४-६

४६—सू० १-८-६-३६

४७—जैन० वी० ७।१

४८—करणम्-क्रिया-कर्मबंधनिबंधनम् चेष्टा—प्रज्ञा० वृ० पद ३१

४९—प्रत्याख्यानक्रियाया अभावः अप्रत्याख्यानजन्यः कर्मबन्धो वा।

—भग० वृ० १०१

५०—प्रज्ञा० पद ३१—

५१—स्था० २।१।६०

५२—सुत्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरंति —आचा० १।३।१

५३—छसु जीव-णिकाएसु—प्रज्ञा० पद २२

५४—सव्व दव्वेसु —प्रज्ञा० पद २२

५५—गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु —प्रज्ञा० पद २२

५६—रूवेसु वा रूवसहगतेसु दव्वेसु —प्रज्ञा पद २२

५७—सव्वदव्वेसु —प्रज्ञा० पद २२

५८—वी० स्तो० १६।६

५९—पणया वीरा महावीहिं —आचा० १।१।३

६०—स्था० २।१।६०

६१—स्था० २-१-६०

६२—क्रिया की जानकारी के लिए देखिए-स्था० २।१।६०, प्रज्ञा० २२, ३१ भग० १।६, ८।६ १।८, ७।१, ६।३४, १७।१, १७।४, ३।३, ५।६, ७।७, १६।८, सू० २।१

६३—सू० १,१०,२१

६४—प्रज्ञा० पद २२

६५—औप० ४३

६६—से णं भन्ते! अकिरिया किंफला? निव्वाणफला। —स्था० ३-१९०

६७ भग० ३।३

६८—सिद्धिं गच्छइ नीरओ —दशवै० ४।२४

६९—तवसा धूयकम्मंसे, सिद्धो हवइ सासओ —उत्त० ३-२०

७०—कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया।
कहिं बोंदिं चइत्ताणं, कत्थ गंतूण सिज्झइ॥

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गेय पइट्ठिया।

इहं बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झइ ॥ —उत्त० ३६।५६-५७

७१—कम्म गुरु यत्तयाए, कम्म भारियत्ताए, कम्म गुरु संभारियत्ताए······

नेरइया नेरइएसु उववज्जंति —भग० ६-३२

७२—सहजोर्ध्वगमुक्तस्य, धर्मस्य नियमं बिना।

कदापि गगनेऽनन्ते, भ्रमणं न निवर्तते ॥ —द्रव्यानु० त० १०।६

७३—जाव च णं भंते! से जीवे नो एअइ जाव नो तं तं भावं परिणमइ, ताव च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया भवइ?—हंता, जाव-भवइ।

—भग० ३।३

७४—जैन० दी० ५।४२

७५—अन्नस्स दुक्खं अन्नोन परियाय इति, अन्नेण कडं अन्नो न परिसंवेदेति, पत्तेयं जायति, पत्तेयं मरई, पत्तेयं चयइ, पत्तेयं उववज्जइ, पत्तेयं झंझा, पत्तेयं सन्ना, पत्तेयं मन्ना एवं विन्नू वेदणा······सू० २।१

७६—अप्पा मित्तममित्तंच, दुपट्ठिय सुपट्ठिय। —उत्त० २०।३७

७७—अण्णाणदो णाणी, जदि मण्णदि सुद्ध संपओगादो हवदिति दुक्खं मोक्खं, पर समय रदो हवदि जीवो। —पञ्च० १७३

७८—सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु —आव० चतु०

: अट्ठाइस :

१—दशवै० ४—गाथा० ११ से २५ तक

२—नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।
—उत्त० २८।३०

३—भग० ८।१०। ३५४

४—मिथ्या विपरीता दृष्टिर्यस्य स मिथ्यादृष्टिः—मिच्छादिट्ठिगुणट्ठाणा। मिथ्या विपर्यस्ता दृष्टिरर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षितहृत्पूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् स मिथ्यादृष्टिस्तस्य गुणस्थानं ज्ञानादिगुणानामविशुद्धिप्रकर्षविशुद्ध्यपकर्षकृतः स्वरूपविशेषो मिथ्यादृष्टि गुणस्थानम्। ननु यदि मिथ्यादृष्टिस्ततः कथं तस्य गुणस्थानसम्भवः, गुणा हि ज्ञानादिरूपास्तत्कथं ते दृष्टौ विपर्यस्तायां भवेयुरिति? उच्यते इह यद्यपि सर्वथाऽतिप्रबलमिथ्यात्वमोहनीयोदयादर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रति पत्तिरूपा दृष्टिरसुमतो विपर्यस्ता भवति तथापि काचिन्मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता, ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूता व्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता भवति अन्यथा अजीवत्वप्रसङ्गात्, यदाह आगमः—'सव्व जीवाणं पिअणं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ, जइ पुण सोवि आवरिज्जा, तेणं जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा, इत्यादि। तथाहि समुन्नतातिबहलजीमूतपटलेन दिनकररजनीकरकरनिकरतिरस्कारेऽपि नैकान्तेन तत्प्रभानाशः संपद्यते, प्रतिप्राणिप्रसिद्धदिनरजनीविभागाभावप्रसङ्गात्। एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदये काचिदविपर्यस्तापि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसंभवः। यद्येवं ततः कथमसौ मिथ्यादृष्टिरेव मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्त्यपेक्षयाऽन्ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्त्यपेक्षया वा सम्यग्दृष्टित्वादपि नैष दोषः, यतो भगवदर्हत्प्रणीतं सकलमपि द्वादशाङ्गार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि तद् गदितमेकमप्यक्षरं न रोचयति तदानीमप्येष मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते तस्य

भगवति सर्वज्ञे प्रत्ययनाशात्। "पयमक्खरंपि एक्कं, पि जो न रोएइ सुत्तनिद्दिठ्ठ। सेसं रोयंतो विहु, मिच्छा दिठ्ठि जमालिव्व ॥ १ ॥" किं पुनर्भगवदभिहितसकलजीवाजीवादिवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिविकलः।

—कर्म० टी० २

५—सेन प्रश्नोत्तर, उल्लास ४, प्र० १०५

६—उत्त० ५।२२

७—उत्त० ७।२०

८—शा० सु०

९—भग० ७।६

१०—स्तोकमंशं मोक्षमार्गस्याराधयतीत्यर्थः सम्यग्बोधरहितत्वात् क्रियापरत्वात्। —भग० वृ० ८।१०

११—सम्मदिठ्ठिस्स वि अविरयस्स न तवो बहु फलो होई।
हवई उ हत्थिण्हाणं बुंदं छिययं व तं तस्स ॥

१२—चरण करणेहिं रहिओ न सिज्झइ सुद्ध-सम्मदिठ्ठी वि जेणागमम्मि सिद्धो, रहंधपंगूय दिठ्ठंतो ॥ —द० वि० ५२,५३

१३—उत्त० ६।६,१०

१४—भग० १७।२

१५—सू० २।२।२६

१६—भग० १६।६

१७—स्था० ७

१८—दशवै वृ० ४-१६

१९—आचा० १।४।१

२०—उत्त० ६।२

२१—उत्त० २३।२३-२४

२२—जामा तिण्णि उदाहिआ —आचा० १।८।१६

: उनतीस :

१—जं सम्मंतिपासहा तं मोणंति पासहा, जं मोणंति पासहा तं सम्मंति पासहा

आचा० १।५।३।१५६

२—सच्चंमि धिइं कुव्वहा, एत्थो वरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसइ।

—आचा० १।३।२।१११

३—सुत्ता अमुणी सया मुणीणो जागरंति —आचा० १।३।५।१६०

४—प्रमाद के ८ प्रकार हैं—(१) अज्ञान, (२) संशय, (३) मिथ्या-ज्ञान, (४) राग, (५) द्वेष, (६) मति-भ्रंश (७) धर्म के प्रति अनादर, (८) मन, वाणी और शरीर का दुष्प्रयोग।

५—अज्जोति !……किं भया पाणा ?…दुक्खभया पाणा…दुक्खे केण कडे ? जीवेणं कडे पमादेण, दुक्खे कहं वेइज्जति ? अप्पमाएणं।

—स्था० १।३।२।१६६

६—आचा० १।२।३।७८

७—सू० चू० २-१-१४

८—कसेहि अप्पाणं —आचा० १-४-३-१३६

९—अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ —सू० १-६-२-३०

१०—जरेहि अप्पाणं —आचा० १-४-३-१३६

११—देहे दुक्खं महाफलं —दशवै० ८-२७

१२—आचा० १-१-६-५१

१३—आचा० १-३-३-११६

१४—उत्त० ३२-१६

१५—आचा० १,३-१,११०

१६—आचा० १-३-३,११६

१७—दशवै० २।५

१८—आचा० १-३-१-१०७

१६—तुट्टंति पाव कम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ।
अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणई ॥ —सू० १।१५।६,७

२०—सू० १।१५-१७।

२१—भग० ७।१

२२—सू० ११४-१५

२३—एक्कं चिय एक्कवयं, निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइवायविरमण—सव्वासत्तस्स रक्खट्ठा ॥ —पं० सं०
अहिंसैषा मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी।
एतत्संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥—हा० अ०

२४—अहिंसा शस्यसंरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम्।
—हा० अ० १६।५

२५—अहिंसा पयसः पालिभूतान्यन्य व्रतानि यत्। —योग०

२६—नाइ वाएज्ज कंचणं।
नय वित्तासए परं। —उत्त०२।२०

२७—न विरुज्झेज्ज केणई। —सू० १।१५।१३

२८—मेत्तिं भूएसु कप्पए। —उत्त० ६।२

२६—आचा० १।५।५।५

३०—आचा० २।१५ —प्रश्न० (संवर द्वार)

३१—तं बंभं भगवंतं —प्रश्न० २.४

३२—तवेसु उत्तमं बंभचेरं··· —सू० १।६।२३

३३—जंमिय आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं —प्रश्न० २.४

३४—इत्थिओ जे ण सेवंति आइमोक्खा उत्तेजणा —सू० १।१५।६

३५—जम्मिय भग्गम्मि होइ सहसा सव्वं समग्गं —प्रश्न० २।४

३६—नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए —उत्त० ३२।१७

३७—उत्त० ३२।१८

३८—आचा० १।५।४।१६०

३६—उत्त० ३२।१०१

४०—उत्त० १६।१०

४१—दशवै० १।४-५—उत्त० ३२।२१

४२—उत्त० ३२।३

४३—उत्त० ३२।४

४४—उत्त० ३२।१५

४५—आचा० १।५।४।१६०

४६—दशवै० ८।५६

४७—उत्त० ३२।१२

४८—सू० १।३।४।१४

४९—सू० १।२।३।२

५०—उत्त० १६

५१—जाउच्च आलमच्चेइ, पिया लोगंसि इत्थिओ···सू० १।१५।८।

५२—सम० ११, दशा० ६

५३—ठाणेणं, मोणणं, झाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि। —आव०

५४—औप० (तपोऽधिकार)

५५—बहिया उड्ढमादाय, नाव कंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे॥ —उत्त० ६।१४

५६—अदुःखभावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥ —सम० १०२

५७—औप० (तपोऽधिकार)

५८—औप० (तपोऽधिकार)

५९—त० सू० ६।३६ —तत्त्वा० ४६-४७

६०—प्रश्ना० १, —त० सू० ६।३७

६१—प्रश्ना० १

६२—प्रश्ना० १

६३—त० सू० ६।४०

६४—औप० (तपोऽधिकार)

६५—“नवा जानामि यदिव इदमस्मि” —ऋग्० १।१६४।३७

६६—वै० सू० ३।४।१७-२०

६७—गी० र० पृष्ठ ३४४

६८—कठ० उप०

६९—छान्दो० उप० ७।२४

७०—छान्दो० उप० ५।११।१२

७१—बृह० उप० २।१

७२—यथेयं न प्राक्तः पुरा विद्या, ब्राह्मणान् गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच —छान्दो उप० ५।३।७

७३—इह मेगेसिं नो सन्ना भवई—अत्थि में आया उववाइये, नत्थि मे आया उववाइए, के अहमंसि, केवाइओ चुओ इह मेचा भविस्सामि—
—आचा० १।१।१२

७४—गी० र०

७५—नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। —कठ० उप० २।३

७६—ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा, वनाद्वा, यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।
—जाबा० उप० ४

७७—र० चि० पृ० १३७-३८

७८—औप०

७९—उत्त० ५।२०

८०—उत्त० ५।२६-२८

८१—उत्त० ५।२३-२४

८२—उत्त० ९।४४

८३—उत्त० ९।२६

८४—"पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं" —आचा० १।५।३।१५६

८५—अन्नलिंगसिद्धा, गिहिलिंग सिद्धा। नं० २०

८६—उत्तर मणुयाण आहियागाम धम्मा इह मे अणुस्सुयं।
जं सि विरता, समुट्ठिया, कासवस्स अणुधम्म चारिणा॥
—सू० १।२।३।१५

८७—भणंता अकरेंता य बन्धमोक्ख पइण्णिणो।
वाया वीरिय मेते समासासेंति अप्पयं॥ —उत्त० ६।९

८८—सू० १।८।२

८९—सू० १।८।३

९०—सू० १।८।६

९१—सू० १।८।२२

९२—सू० १।८।२३

९३—नेव से अन्तो, नेव से दूरे —आचा०

९४—दशवै० २।२३

९५—गी० र० पृ० ३३६

९६—मनु० ६।६

९७—महा० भा० (शान्ति पर्व) २४७।३

९८—गी० र० पृ० ७५

९९—संन्यस्य सर्वकर्माणि —मनु० ६।२५

: तीस :

१—उत्त० २८।१४

२—म० नि० १४१

३—उत्त० १६।१५

४—भग० ७।८

५—महा० १।६।१६

६—स्था० ५।१।३६५

७—उत्त० ३२

८—स्था० ६।३।४८८

९—वही ,,

१०—स्था० ४

११—नं० ३७।७७

१२—म० नि० २८

१३—म० नि० २८

१४—(क) न जरा, न मृत्यु नं शोकः —छान्दो० उप० ४८।८।१

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगम्…छान्दो० उप० ७।२६।२

(ख) जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणिय…उत्त० १६।१५

(ग) जातिपि दुक्खा जरापि दुक्खा, व्याधिपि दुक्खा मरणं पि दुक्खं

—महा० १।६।१६

१५—(क) अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गम्मि दुरारुहं।

जत्थ नत्थि जरा मच्चु; वाहियो वेयणा तहा ॥

—उत्त० २३।८१।

(ख) जन्म मृत्यु जरादुखै-र्विमुक्तोऽमृतमश्नुते —गी०

१६—आचा० १।३।२।१११-७

१७—उत्त० ३२।६

१८—उत्त० ३२।३०

१९—उत्त० ३२।३०

२०—उत्त० २।९४-९५

२१—आचा०

२२—सू०

२३—उत्त० ३२।१९

२४—उत्त० ३२।१०२

२५—उत्त० ३२।७

२६—उत्त० २३।४८

२७—म० नि० ३८

२८—उत्त० ३२।१०६-७

२९—सू० १।११।११

३०—सू० १।१४।१६

३१—आं० नि० ३२

३२—सू० १।११।१

३३—सू० १।११।५

३४—आचा० १।४।४।१३८

३५—सू० १।११।२

३६—उत्त० २८।२

३७—धम्म० २०,

३८—दशवै० ८।३५

३९—दशवै० ८।३५

४०—सन्म० ३।५४

४१—सन्म० ३।५५

४२—उत्त० ३६।२

४३—उत्त० १०।१५

: इक्कीस :

१—आचा० १,४।२।६

२—सू० २।१।१५

३—आचा० १।१।१।१०-११

४—आचा० १।२।१।६७

५—नाणागमो मच्चु मुहस्स अत्थि—आचा० १।४।२।१३२

६—नत्थि कालस्स णा गमो —आचा० १।२।३।८१

७—आचा० १।२।१।६७

८—आचा० १।१।१।८-६

६—सू० १।१।२।१८

१०—सू० १।१।२।१६

११—आचा० १।२।१।७१

१२—मन्दा मोहेण पाउडा—नो हव्वाए नो पाराए —आचा० १।२।२।७४

१३—आचा० १।२।२।७५

१४—आचा० १।२।२।७६

१५—आचा० १।२।२।७७

१६—आचा० १।१।४।३५

१७—आचा० १।१।१।१२-१३

१८—आचा० १।१।१।१-३

१६—आचा० १।१।१।४-७

२०—आचा० १।१।७।५७

२१—आचा० १।१।६।५१

२२—आचा० १।१।७।५७

२३—आचा० १।५।४।१६५

२४—आचा० १।१।७।५७

२५—आचा० १।१।५।३३

२६—आचा० १।३।३।११६

२७—दशवै० ४

२८—आचा० १।४।१।१२७

२९—आचा० १।३।३।११८

३०—उत्त० २०।३७

३१—खसु अन्नयरम्मि कप्पइ। —आचा० १।२।६।२८

३२—आचा० १।१।३।२३

३३—सू० वृ० २।२

३४—सू० वृ० २।२

३५—आचा० १।१।२।१७

३६—सू० १।११।६

३७—सू० १।११।१०

३८—आचा० १।१।३।२७

३९—रा० प्र० ४७

४०—स्था० ४।३।३३४

४१—आचा० १।५।२।१५१

४२—आचा० १।३।४।१२४

४३—भग०

४४—भग०

४५—आदीपमाव्योमसमस्वभावं, स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु —स्या० मं० ५

४६—अस्तित्वं नास्तित्वेन सह न विरुद्ध्यते। —स्या० मं० २४

४७—जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया। —सन्म० ३।४७

४८—णिययवयणिज्जसच्चा सव्वन्नया परवियालणे मोहा। —सन्म० १।२८

४९—नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते बुधैः।

नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि॥ —स्या० र० ७।१

५०—विपक्षापेक्षाणां कथयसि नयानां सुनयताम्। —स्या० र० ७।१

५१—विपक्षक्षेप्तृणां पुनरिह विभो! दुष्नयताम्। —स्या० र० ७।१

५२—सर्वे नया अपि विरोधभृतो मिथस्ते सम्भूय साधु-समयं भगवन् !

भजन्ते—न० क० २२

५३—एकान्तानित्ये एकान्तनित्ये च वस्तुनि व्यवहारो—व्यवस्था न घटते

—सू० वृ० २।५।३

५४—य एव दोषाः किल नित्यवादे, विनाशवादेऽपि समास्त एव ।

परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु, जयत्यधृष्यं जिन ! शासनं ते ॥

—स्या० मं० २६

५५—हि०, अक्टूबर ५, १६५६

५६—तया सच्चेष्णु संसन्ने मेसिं भूएसु कप्पए । —सू० १।१५।३

५७—पवड्ढइ वेरमसंजयस्स । —सू० १।१०।१७

५८—स्यात् अस्ति एव ।

५६—सत् ।

६०—सदेव ।

परिशिष्ट : २ :

[जैन दर्शन]

पहला विभाग

ज्ञान-मीमांसा

चेतनाव्यापारः—उपयोगः ॥प्र० २।३।

चेतना ज्ञानदर्शनात्मिका, तस्या व्यापारः प्रवृत्तिः उपयोगः ।

साकारोऽनकारश्च ॥ प्र० २।४।

विशेषग्राहित्वाज्ज्ञानं साकारः ॥प्र० २।५

सामान्यविशेषात्मकस्य वस्तुनः सामान्यधर्मान् गौणीकृत्य विशेषाणां ग्राहकं ज्ञानम्, आकारेण विषशेषणसहितत्वात् साकार उपयोग इत्युच्यते ।

मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ॥ प्र० २।६।

इन्द्रियमनोनिमित्तं संवेदनं मतिः ॥प्र० २।७।

मतिः, स्मृतिः, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध इति एकार्थाः ।

शब्दाद्यनुसारिणी मतिरेव श्रुतम् ॥ वि० ४।१।

यत् मानसं, ज्ञानं शब्दसंकेताद्यनुसारेण जायते तत् श्रुतमुच्यते[1] । मतिश्रुतयोरन्योन्यानुगतयोरपि कथञ्चिद् भेदः[2] ।

यथा—(१) मननं मतिः, शाब्दं श्रुतम्

(२) मूककल्पा मतिः, स्वमात्रप्रत्यायनफलत्वात्; अमूककल्पं श्रुतम्, स्वपरप्रत्यायकत्वात् ।

(३) मतिपूर्वकं श्रुतम्, न तु मतिः श्रुतपूर्विका ।

(४) वर्तमान विषया मतिः, त्रिकाल विषयं श्रुतम् ।

(५) वल्कसमा मतिः, कारणत्वात्, शुम्बसमं श्रुतम्, तत्कार्यत्वात् ।

रूपिद्रव्यसाक्षात्करणमवधिः ॥ वि० २।५।

द्रव्य क्षेत्रकालभावै र्विविधमर्यादाबद्धत्वात् अवधिः । अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानप्रतिपात्यप्रतिपातिभेदात् षोढा ।

१—शब्दादयश्च श्रुतज्ञानस्य साधनमिति 'द्रव्यश्रुतम्' उच्यते ।

२—यत्र मतिः तत्र श्रुतम्, यत्र श्रुतं तत्र मतिरिति ।

भवप्रत्ययो देवनारकाणाम् ॥ प्र० २।१५

क्षयोपशमनिमित्तश्च शेषाणाम् ॥ प्र० २।१६।

मनोद्रव्यपर्यायप्रकाशिमनःपर्याय[1] ॥ प्र० २।१७।

द्विविधोऽयम्—ऋजुमतिः[2] विपुलमतिश्च[3] ।

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयभेदादवधेर्भिन्नः ॥ प्र० २।१८।

निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारि केवलम् ॥ प्र० २।१९।

मतिश्रुतविभङ्गास्त्वज्ञानमपि ॥ प्र० २।२०

विभङ्गोऽवधि-स्थानीयः[4] ।

तन्मिथ्यात्विनाम् ॥ प्र० २।२१।

मिथ्यात्विनां ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्योऽपिबोधो मिथ्यात्वसहचारित्वात् अज्ञानं भवति[5] । तथा चागमः—

अविसेसिया मई, मइनाणं च मइ अन्नाणं च ।

विसेसिया समदिट्ठिस्स मई मइनाणं, मिच्छादिट्ठिस्स मई, मइअन्नाणं ।

यत्पुनर्ज्ञानाभावरूपमौदयिकमज्ञानं तस्य नात्रोल्लेखः । मनःपर्यायकेवलयोस्तु सम्यग्दृष्टिष्वेव भावात्, अज्ञानानि त्रीणि एव ।

सामान्यग्राहित्वाद् दर्शनमनाकारः ॥ प्र० २।२२।

वस्तुनो विशेषधर्मान् गौणीकृत्य सामान्यानां ग्राहकं दर्शनम्—अनाकार उपयोग इत्युच्यते ।

चक्षुरचक्षुरवधि केवलानि ॥ प्र० २।२३।

तत्र चक्षुषः सामान्यावबोधः चक्षुर्दर्शनम्, शेषेन्द्रियमनसोरचक्षुर्दर्शनम्

१—अनेन पौद्गलिकमनसः पर्यायाणां साक्षात्कारो भवति, न तु भावमनसः, अमूर्त्तत्वात् तेषाम् ।

२—साधारणमनोद्रव्यग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः, घटोऽनेन चिन्तित इत्यध्यवसायनिबन्धनं मनोद्रव्यपरिच्छित्तिरित्यर्थः ।

३—विपुलविशेषग्राहिणी मतिः विपुलमतिः, घटोऽनेन चिन्तितः स च सौवर्णः, पाटलिपुत्रकोऽद्यतनो महान् इत्यध्यवसायहेतुभूता मनोद्रव्यविज्ञप्तिरिति ।

४—विविधा भङ्गाः सन्ति यस्मिन् इति विभङ्गः ।

५—कुत्सार्थे नञ् समासः । कुत्सितत्वं चात्र मिथ्यादृष्टेः संसर्गात् ।

अवधिकेवलयोश्च अवधिकेवलदर्शने। मनःपर्यायस्य मनःपर्यायविषयत्वेन सामान्यबोधाभावान्न दर्शनम्।

प्रतिनियतार्थग्रहणमिन्द्रियम्॥ प्र० २।२४।

प्रतिनियताःशब्दादिविषया गृह्यन्ते येन तत् प्रतिनियतार्थग्रहणम्—इन्द्रियं भवति।

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ प्र० २।२५।

प्रत्येकं चतुर्धा ॥ वि० २।१८।

तत्र निर्वृत्त्युपकरणे पौद्गलिके ॥ वि० २।१६

आकाररचना निर्वृत्तिः। तत्र विषयग्रहणोपकारिणी शक्तिः उपकरणम्। एते द्वे अपि पुद्गलरूपत्वात् पौद्गलिके।

आत्मिके लब्ध्युपयोगौ ॥ वि० २।२०।

कर्मविलयविशेषोद्भूत आत्मप्रकाशः—लब्धिः। तस्यार्थग्रहणव्यापारः—उपयोगः। सत्यां लब्धौ निर्वृत्त्युपकरणोपयोगाः। सत्यां च निर्वृत्तौ उपकरणोपयोगौ। सत्युपकरणे उपयोगः।

सर्वार्थग्रहणं त्रैकालिकं मनः ॥वि० २।२१।

सर्वे, नित्विन्द्रियवत् प्रतिनियता अर्था गृह्यन्ते ऽनेन तत्सर्वार्थग्रहणम्, त्रिकालगोचरम्—मनः[१]। मननालम्बनभूता पुद्गलाः—पौद्गलिकं मनः आत्मिकं मनः लब्ध्युपयोगरूपम्।

दूसरा विभाग

प्रमाण-मीमांसा

युक्त्यार्थपरीक्षणं न्यायः ॥ वि० १।१

साध्यसाधनयोरविरोधो युक्तिः, अर्थपरीक्षणोपायो वा। नीयते प्राप्यतेऽर्थसिद्धिर्येन स न्यायः।

प्रमाणं, प्रमेयं, प्रमितिः, प्रमाता चेति चतुरङ्गः ॥ वि० १।२

प्रमाणम्—साधनम्, प्रमेयम्—वस्तु, प्रमितिः—फलम्, प्रमाता—परीक्षकः।

१—त्रिकालगोचरत्वात् आलोचनात्मकत्वमस्य स्वभावापतितम्।

अर्थसिद्ध्यै तत्प्रवृत्तिः ॥ वि० १।३

असतः प्रादुर्भाव इष्टावाप्तिर्भावज्ञप्तिश्चेति त्रिविधाऽर्थसिद्धिः। तत्र न्यायस्य प्रवृत्तेः साक्षान्निमित्तं भावज्ञप्तिरेव।

सा च लक्षणप्रमाणाभ्याम् ॥ वि० १।४

व्यवच्छेदकधर्मो लक्षणम् ॥ वि० १।५

वस्तुनो व्यवस्थापनहेतुभूतो धर्मो लक्ष्यं व्यवच्छिनत्ति—सांकीर्ण्यमपनयतीति लक्षणमुच्यते। यथा—जीवस्य चैतन्यम्, अग्नेरौष्ण्यम्, गोः सास्नावत्त्वम्। क्वचित् कादाचित्कमपि, यथा—दण्डी पुरुषः।

अव्याप्तातिव्याप्तासंभविनस्तदाभासाः ॥ वि० १।६

अतत् तदिव आभासते इति तदाभासः।

लक्ष्यैकदेशवृत्तिरव्याप्तः ॥ वि० १।७

यथा—पशोर्विषाणित्वम्, आत्मनः शरीरवत्त्वम्।

लक्ष्यालक्ष्यवृत्तिरतिव्याप्तः ॥ वि० १।८

यथा—वायोर्गतिमत्त्वम्, साधोः सम्यक्त्ववत्त्वम्।

लक्ष्यमात्रावृत्तिरसंभवी ॥ वि० १।९

यथा—मुक्तानां पुनरावृत्तित्वम्, पुद्गलस्य चेतनत्वम्।

यथार्थज्ञानं प्रमाणम् ॥ वि० १।१०

प्रकर्षेण (संशयाद्यभावेन) मीयतेऽर्थो येन तत् प्रमाणम्। ज्ञानम्—अर्थ-प्रकाशकम्। तद् अयथार्थमपि भवतीति तद्व्यवच्छित्तये यथार्थमिति विशेषणम्। प्रमेयं नान्यथा गृह्णातीति यथार्थत्वमस्य।

अयथार्थञ्च विपर्ययसंशयानध्यवसायाः ॥ वि० ।१।११

अतत्त्वे तत्त्वाध्यवसायो विपर्ययः ॥ वि० १।१२

यथा—वाष्पयानारूढस्य अगच्छत्स्वपि वृक्षेषु गच्छत्प्रत्ययः, पदार्थो नित्य एव वा अनित्य एव वा।

अनिर्णायी विकल्पः संशयः[१] ॥ वि० १।१३

यथा—गौरयं गवयो वा। निर्णायी विकल्पस्तु प्रमाणमेव, यथा—पदार्थो नित्यश्च अनित्यश्च।

१—दूरान्धकारप्रमादाद्ययथार्थत्वहेतुसामान्येऽपि विपर्यये एकांशस्य अध्यवसायः, संशये तु अनेकांशानामनिर्णय इत्यनयोर्विपर्ययवाद् भेदः।

आभासमात्रमनध्यवसायः[1] ॥ भि० १।१४

अत्र वस्तुनोऽग्रहणमेवाऽयथार्थत्वम्[2]

प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा ॥ भि० १।१५

अभ्यासदशायां प्रामाण्यनिश्चयो स्वतो भवति। अनभ्यासदशायां प्रमाणान्तरात्, संवादकात्, बाधकाभावाद् वा।

तत् प्रत्यक्षं[3] परोक्षञ्च[4] ॥ भि० २।१

अक्षम्—इन्द्रियम्, अक्षो जीवो वा। अक्षं प्रतिगतं प्रत्यक्षम्। अक्षेभ्योऽक्षाद्वा परतो वर्तते इति परोक्षम्। यथार्थत्वावच्छिन्ना यावन्तो ज्ञानप्रकारास्तावन्त एव प्रमाणस्य भेदाः। प्राधान्येन तद् द्विभेदम्। कश्चित्—"प्रत्यक्षानुमानोपमानागमाः" इति चतुर्धापि। अर्थापत्यादीनां[5]

१—नान्यथाग्रहणमिति नासौ विपर्ययः। नात्र विशेषस्पर्शोऽपीति संशयादप्यसौ भिन्नः।

२—किंसंज्ञकोऽयं विहङ्गमः, कोऽयं स्पर्श इत्यादिषु यदालोचनमात्रमेव ज्ञानं जायते न तु निर्णयात्मकमिति न यथा वस्तु अस्ति तथा तद् ग्रहणं भवति।

३—बाह्यार्थ ग्रहणापेक्षया ज्ञानस्य प्रत्यक्षता परोक्षता च, स्वरूपापेक्षया तु सर्वमपि प्रत्यक्षमेव।

४—परशब्दसमानार्थकेन परः शब्देन परोक्षमिति सेत्स्यति।

५—अभावः—

प्रमाणपञ्चकं यत्र; वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं, तत्राभावप्रमाणता ॥

अर्थापत्तिः—

अर्थादापत्तिरर्थापत्तिः, आपत्तिः,—प्राप्तिः, प्रसङ्गः, यथाभिधीयमानेऽर्थे योऽन्योऽर्थः प्रसज्यते सोऽर्थापत्तिः; यथा—पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, रात्रौ अवश्य भुङ्क्ते।

यथासंभवमेष्वेवान्तर्भावः[१]।

सहायनिरपेक्षं प्रत्यक्षम् ॥ वि० २।२

यस्मिन् प्रमाणान्तराणां पौद्गलिकेन्द्रियाणाञ्च साहाय्यं नापेक्षणीयं तत् स्पष्टत्वात्, अव्यवहितात्ममात्रापेक्षत्वाच्च प्रत्यक्षम्।

तच्च चेतनस्य निरावरणं स्वरूपं केवलम् ॥ वि० २।३

निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारित्वात् केवलज्ञानं पूर्णं प्रत्यक्षम्। निरावरणत्वञ्च घातिकर्मचतुष्टयविलयेन।

अपूर्णमवधिमनःपर्यायौ ॥ वि० २।४

आवरणसद्भावात् एतौ अपूर्णप्रत्यक्षं भवतः।

अवग्रहेहावायधारणात्मकं व्यवहारे ॥ वि० २।७

एतद् इन्द्रियमनः सापेक्षत्वेन आत्मनो व्यवहितत्वात् परमार्थतः परोक्षमपि[२] स्पष्टत्वाद् व्यवहारे प्रत्यक्षं[३] भवति।

इन्द्रियार्थयोगे दर्शनानन्तरं सामान्यग्रहणमवग्रहः ॥ वि० २।८

इन्द्रियार्थयोरुचितदेशाद्यवस्थानरूपे योगे सति, दर्शनम्—अनुल्लिखित-

---

सम्भवः—

अविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणादन्यस्य सत्ताग्रहणं सम्भवः। अयं द्विविधः—सम्भावनारूपः, यथा अमुको मनुष्यो वैश्योऽस्ति, अतो धनिकोऽपि स्यात्; निर्णयरूपो यथा—अमुकस्य पार्श्वे यदि शतमस्ति; तत् पञ्चाशताऽवश्यं भाव्यम्।

ऐतिह्यम्—

अनिर्दिष्टवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यम्।

प्रातिभम्—

योगजादृष्टजनितः स तु प्रातिभसंज्ञितः।
सन्ध्येव दिनरात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक् ॥

—(अध्यात्मोपनिषद्)

१—अर्थापत्तिः सम्भवश्चानुमाने, अभावः प्रत्यक्षे तर्केऽनुमानेऽपि च, ऐतिह्यमागमे, प्रातिभं प्रत्यक्षेऽनुमाने च।

२—इन्द्रियमनः साहाय्येन जायमानं ज्ञानमात्मनो व्यवहितं भवतीति आत्मपरोक्षं कथ्यते। इन्द्रियमानसेभ्योऽव्यवहितमिति संज्ञायते इन्द्रियप्रत्यक्षम्, मानस-प्रत्यक्षञ्च।

३—एतत् सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्। अस्मदादिप्रत्यक्षमिन्द्रियमनः प्रत्यक्षमपि कथ्यते।

विशेषस्य वस्तुनः प्रतिपत्तिः, तदनन्तरम्, अनिर्देश्यसामान्यस्य (वस्तुनः) ग्रहणमवग्रहः। दर्शनानन्तरमिति क्रमप्रतिपादनार्थम्, एतेन दर्शनस्यावग्रहं प्रति परिणामिताऽवसेया।

व्यञ्जनार्थयोः ॥ भि० २।९

व्यञ्जनेन—इन्द्रियार्थसम्बन्धरूपेण, व्यञ्जनस्य—शब्दादेरर्थस्य, ग्रहणम्—अव्यक्तः परिच्छेदः, व्यञ्जनावग्रहः[1]। ततो मनाग् व्यक्तं जातिद्रव्य-गुणकल्पनारहितमर्थग्रहणम्—अर्थावग्रहः[2]। यथा—एतत्[3] किञ्चिद् अस्ति।

न नयनमनसोर्व्यञ्जनम् ॥ भि० २।१०

व्यञ्जनम्—इन्द्रियार्थसम्बन्धः। नयनमनसोरर्थेन साक्षात् सम्बन्धो न भवतीति व्यवधिमत् प्रकाशकत्वात् नैते प्राप्तार्थप्रकाशके। दृश्यवस्तुनश्चक्षुषि[4] प्रतिबिम्बेऽपि साक्षात् सम्बन्धाभावान्नात्र दोषः।

अमुकेन भाव्यमिति प्रत्यय ईहा ॥ भि० २।११

अमुकस्तदितरो वा इति संशयादूर्ध्वमन्वयव्यतिरेकपूर्वकम्। 'अमुकेन भाव्य' मिति प्रत्यय ईहा। यथा—शब्देन भाव्यम्।

अमुक एवेत्यवायः ॥ भि० २।१२

यथाऽयं शब्द एव।

तस्यावस्थितिर्धारणा ॥ भि० २।१३

वासना संस्कार इत्यस्य पर्यायः। इयमेव स्मृतेः परिणामि कारणम्।

असामस्त्येनापि उत्पद्यमानत्वात्, अपूर्वापूर्ववस्तुपर्यायप्रकाशकत्वात्, क्रमभावित्वाच्च एते व्यतिरिच्यन्ते ॥ भि० २।१४

आशुत्पादात् क्वचित् क्रमानुपलक्षणमेषाम् ॥ भि० २।१५

यथा—दक्षिणाद् विद्युद्गृहादागतविद्युत्प्रकाशक्रमवत्।

१—व्यञ्जनेन व्यञ्जनस्य अवग्रहः—व्यञ्जनावग्रहः। अयमान्तर्मौहूर्तिकः।

२—एकसामयिकः।

३—अनध्यवसायी न निर्णयोन्मुख इति न प्रमाणम्, अवग्रहस्तु निर्णयोन्मुख इति प्रामाण्यमस्य।

४—दृश्याकारा भिन्नपुद्गलाः।

सहायापेक्षं परोक्षम् ॥ वि० ३।१

परसहायापेक्षं प्रमाणमस्पष्टत्वात् परोक्षम् ।

मतिश्रुते ॥ वि० ३।२

स्मृतिप्रत्यभिज्ञातर्कानुमानानि तत्प्रकाराः ॥ वि० ३।४

संस्कारोद्बोधसंभवा तदित्याकारा स्मृतिः ॥ वि० ३।५

संस्कार :—धारणारूपः, तस्यउद्बोधात्—जागरणाद् उत्पन्ना, तदित्युल्लेखवती मतिः स्मृतिर्गीयते। यथा—तत्तीर्थंकराख्यानम्, स भिक्षुस्वामी।

अनुभवस्मृतिसंभवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिसंकलनं प्रत्यभिज्ञा ॥ वि० ३।६

यथा—सैवेयं मोहानुकम्पा, गोसदृशो गवयः, गोविलक्षणो महिषः, इदमस्मात् दूरम्, इदमस्मात् नेदीयः। क्वचित् व्यस्ताभ्यामपि[1] ।

अन्वयव्यतिरेकनिर्णयस्तर्कः ॥ वि० ३।७

साधने सति साध्यस्य, साध्ये एव वा साधनस्य भावः—अन्वयः। यथा—यत्र धूमस्तत्राग्निः, अग्नौ सत्येव वा धूमः साध्याभावे साधनाभावः—व्यतिरेकः। यथा—अग्न्यभावे न धूमः।

साधनात् साध्यज्ञानमनुमानम् ॥ वि० ३।८

सिसाधयिषितं साध्यम् ॥ वि० ३।९

व्याप्तौ धर्म एव, यथा—यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र तत्र वह्निः, अनुमितौ तु साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी[2] , यथा—

अग्निमान् प्रदेशः, धर्मी एव पक्षः। पक्षवचनं प्रतिज्ञा।

१—केवलेनाऽनुभवेन केवलेन स्मरणेनाऽपि प्रत्यभिज्ञा जायते।

२—अयं क्वचिद् बुद्धिसिद्धः (विकल्पसिद्धः), यथा—अस्ति सर्वज्ञः। अत्र सर्वज्ञस्यास्तित्वे साध्ये सर्वज्ञो बुद्धिसिद्धः, नासौ अस्तित्वसिद्धेः प्राक् प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धः। क्वचित् प्रमाणसिद्धः, यथा अग्निमानयं प्रदेशः। अत्र धूमवत्त्वाद् अग्निमत्त्वे साध्ये तस्य प्रदेशः पर्वतः आदि प्रत्यक्षेणाऽनुभूयते। क्वचिदुभयासिद्धः, यथा—अनित्यः शब्दः। अत्र वर्तमानः शब्दः प्रत्यक्षगम्यो भूतभविष्यश्च बुद्धिगम्यः।

निश्चितसाध्याविनाभावि साधनम् ॥ भि० ३।१०

विनिश्चितं साध्येन विना अभवनं यस्य तत्साधनम्। साधनवचनं हेतुः।

सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥ भि० ३।११

व्याप्तिसम्बन्धप्रतिबन्धाद्या अस्य पर्यायाः।

सहचरयोर्व्याप्य-व्यापकयोश्च सहभावः ॥ भि० ३।१२

सहचरयोः, यथा—फलादिगतरूपरसयोः।

व्याप्यव्यापकयोः, यथा—चंदनत्ववृक्षत्वयोः।

पूर्वोत्तरचरयोः कारणकार्ययोश्च क्रमभावः ॥ भि० ३।१३

पूर्वोत्तरचरयोः, यथा—रविवार सोमवारयोः।

कारणकार्ययोः, यथा—अग्निधूमयोः।

स्वभावः सहभावः क्रमभावश्च भावाभावाभ्यां विधिप्रतिषेधयोः ॥ भि० ३।१४

स्वभावादयः स्वस्य भावेन अभावेन वा अपरस्य भावं साधयन्तो विधेः, अभावं साधयन्तश्च प्रतिषेधस्य हेतवो भवन्ति।

तत्र भावेन विधिहेतवः—

स्वभावः—

क—(१) अनित्यं गृहम्, कृतकत्वात्।

(२) सहचरः—आम्रे रूपरसात्।

(३) व्याप्यः—अस्त्यत्र वृक्षत्वम्, निम्बात्।

(४) पूर्वचरः—अद्य सोमवारः, ह्यो रविवारश्रुतेः।

(५) उत्तरचरः—अद्य रविवार, श्वः सोमवारश्रुतेः।

(६) कार्यम्—सावित्रं नभः, आतपात्।

(७) कारणम्—भाविनी वृष्टिः, विशिष्टमेघोन्नतेः।

ख—अभावेन विधिहेतवः—

अनेकान्तात्मकं वस्तु, एकान्तस्वभावानुपलब्धेः।

ग—भावेन प्रतिषेधहेतवः—नात्र शीतम्, वह्नेः।

घ—अभावेन प्रतिषेधहेतवः—नात्र पुस्तकम् दृश्यानुपलब्धेः। अन्यानि उदाहरणानि स्वयं बोध्यानि[1]।

१—(१) विधिहेतवः—

तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां तत्प्रयोगः ॥ भि० ३।१५।

तथोपपत्तिः—अन्वयः अन्यथानुपपत्तिः—व्यतिरेकः; यथा—अग्निमानयं पर्वतः, तथैव धूमोपपत्तेः, अन्यथा धूमानुपपत्तेः। तात्पर्यैक्याद् एकतरैकस्यैव प्रयोगः।

(क) भावेन विधिहेतवः (अविरुद्धोपलब्धेः साधनानि)—स्वभावादयः, यथा शास्त्रे निर्दिष्टाः। भावेन विधिहेतौ अविरुद्धस्य व्यापकस्योपलब्धिः साधनं नहि भवति। अस्त्यत्र वृक्षत्वम्, निम्बादिव, अस्त्यत्र निम्बत्वम् वृक्षादिति न निर्णायकता, वृक्षत्वेन निम्बवदाम्रस्यापि ग्रहणात्।

(ख) अभावेन विधिहेतवः (विरुद्धानुपलब्धेः साधनानि)—

(१) विरोधिस्वभावानुपलब्धिरुदाहृता।

(२) विरोधिकारणानुपलब्धिः—विद्यते ऽत्र समाजे ऽज्ञानम्, शिक्षाभावात्। अत्र विधेयमज्ञानम्, तद्विरुद्धं ज्ञानम्, तस्य कारणं शिक्षा, तस्या अभावात्।

(३) विरोधिकार्यानुपलब्धि :—अस्वास्थ्यमस्मिन् मनुष्ये समस्ति, मांसलताऽनालोकनात्। अत्र विधेयमस्वास्थ्यम्, तद्विरुद्धं स्वास्थ्यम्, तस्य कार्यं मांसलता, तस्याऽनुपलब्धिः।

(४) विरोधिव्याप्यानुपलब्धि :—अस्त्यत्र छाया, औष्ण्यानुपलब्धेः। अत्र विधेया छाया, तद्विरुद्धस्तापः, तद्व्याप्यस्यौष्ण्यस्यानुपलब्धिः।

२—प्रतिषेधहेतव :—

(क) भावेन प्रतिषेधहेतवः (विरुद्धोपलब्धेः साधनानि)—

(१) विरोधिस्वभावोपलब्धिः, यथा—नास्त्येव सर्वथैकान्तः, अनेकान्तस्योपलम्भात्।

(२) विरोधिव्याप्योपलब्धिः, यथा—नास्त्यस्य पुंसस्तत्त्वेषु निश्चयः, तत्र सन्देहात्,

(३) विरोधिकार्योपलब्धिः, यथा—न विद्यतेऽस्य क्रोधाद्युपशान्तिः, वदनविकारादेः।

अनिश्चितविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः[1] ॥ भि० ३।१६।
अप्रतीयमानस्वरूपोऽसिद्धः ॥ भि० ३।१७।

---

(४) विरोधिकारणोपलब्धिः, यथा—नास्य महर्षेरसत्यं वचः। रागद्वेषकालुष्याऽकलङ्कितज्ञानसम्पन्नत्वात्।

(५) विरोधिपूर्वचरोपलब्धिः, यथा—नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते पुष्यतारा रोहिण्युद्गमात्।

(६) विरोध्युत्तरचरोपलब्धिः, यथा नोदगात् मुहूर्तात्पूर्वं मृगशिरः, पूर्वफाल्गुन्युदयात्।

(७) विरोधिसहचरोपलब्धिः, यथा—नास्त्यस्य मिथ्याज्ञानम्, सम्यग्दर्शनात्।

(ख) अभावेन प्रतिषेधहेतवः (अविरुद्धानुपलब्धेः साधनानि)

(१) स्वभावानुपलब्धिरुदाहृता।

(२) व्यापकानुपलब्धिः, यथा—नास्त्यत्र प्रदेशे पनसः, पादपानुपलब्धेः।

(३) कार्यानुपलब्धिः, यथा—नास्त्यप्रतिहतशक्तिकं बीजम्, अङ्कुराऽनवलोकनात्।

(४) कारणानुपलब्धिः, यथा—न सन्त्यस्य प्रशमप्रभृतयो भावाः, तत्त्वार्थश्रद्धानाभावात्।

(५) पूर्वचरानुपलब्धिः, यथा—नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते स्वातिनक्षत्रम्, चित्रोदयादर्शनात्।

(६) उत्तरचरानुपलब्धिः, यथा—नोदगमत् पूर्वभाद्रपदा, मुहूर्तात् पूर्वमुत्तरभाद्रपदोद्गमानवगमात्।

(७) सहचरानुपलब्धिः, यथा—नास्त्यस्य सम्यग्ज्ञानम्, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेः।—(प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।८१-१०२)

१—नैयायिकानां कालात्ययापदिष्टप्रकरणसमौ विशिष्टौ स्तः। तत्र प्रत्यक्षागमविरुद्धपक्षवृत्तिः कालात्ययापदिष्टः; यथा—अनुष्णोऽग्निः, कृतकत्वात्, घटवत्। प्रकरणपक्षे प्रतिपक्षे च तुल्यः प्रकरणसमः, यथा—अनित्यः शब्दः नित्यधर्मानुपलब्धेः, घटवत्। इत्युक्ते परः प्राह—नित्यः शब्दः, अनित्यधर्मानुपलब्धेः, आकाशवत्।

यस्य हेतोरज्ञानात्, सन्देहाद्, विपर्ययाद् वा स्वरूपं न प्रतीयते सः—असिद्धः[1] यथा—अनित्यः शब्दः, चाक्षुषत्वात्।

साध्यविपरीतव्याप्तो विरुद्धः ३।१८।

विवक्षितसाध्याद् विपरीते एव व्याप्तो हेतुः—विरुद्धः; यथा नित्यः शब्दः, कार्यत्वात्।

अन्यथाऽप्युपपद्यमानो ऽनैकान्तिक[2] ॥ भि० ३।१९।

यथा—असर्वज्ञोऽयम्, वक्तृत्वात्। अनित्यः शब्दः, प्रमेयत्वात्।

वचनात्मकेऽनुमाने दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि ॥ ३।२०।

यत्रानुमानेन परो बोध्यः स्यात्, तत्र तद् वचनात्मकं भवति। स्वार्थं पक्षसाधनात्मकं द्व्यङ्गमेव परार्थं तु पञ्चावयवम्। यत् वचनात्मकं तत्परार्थं ज्ञानात्मकञ्च स्वार्थम्।

व्याप्तिप्रतीतेः प्रदेशो दृष्टान्तः ॥ ३।२१।

दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्।

अन्वयी व्यतिरेकी च ॥ भि० ३।२२

साध्यव्याप्तसाधननिरूपणमन्वयी ॥ भि० ३।२३

१—अयं त्रिविधो भवति—(१) वादिअसिद्धः, (२) प्रतिवादि-असिद्धः, (३) उभयाऽसिद्धः।

(१) परिणामी आत्मा, उत्पादादिमत्त्वात्। अयं वादिनो नैयायिकस्याऽसिद्धः। तन्मते आत्मनः कूटस्थत्वस्याभिमतत्वात्।

(२) चेतनास्तरवः सर्वत्वगपहरणे मरणात्। अत्र मरणं विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणं प्रतिवादिनो बौद्धस्याऽसिद्धम्।

(३) अनित्यः शब्दः, चाक्षुषत्वात्। अयमुभयाऽसिद्धः।

२–(क) व्यभिचारीति नामान्तरम्।

(ख) अयं द्विविधः—सन्दिग्धविपक्षवृत्तिको निर्णीतविपक्षवृत्तिकश्च।

सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकः—वक्तृत्वं विपक्षे सर्वज्ञे सन्दिग्धवृत्तिकम्, सर्वज्ञः किं वक्ता आहोस्विन्न वक्तेति सन्देहात्।

निर्णीतविपक्षवृत्तिकः—प्रमेयत्वं यथा सपक्षेऽनित्ये घटादौ प्रतीयते तथा विपक्षे नित्येऽपि व्योमादौ प्रतीयत एव।

(अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद् इति हेतौ) यत्कृतकं तत्तदनित्यम्, यथा घटः।

साध्याभावे साधनाभावनिरूपणं व्यतिरेकी ॥ वि० ३।२४ ॥

यथानित्यं तन्नाकृतकम्, यथा—आकाशम्।

साध्यसाधनोभयविकला असिद्ध-सन्दिग्ध-साध्यसाधनोभया विपरीतान्वयव्यतिरेकाश्च तदाभासाः[1] ॥ वि० ३।२५ ॥

यथा—(१) अपौरुषेयः शब्दः, अमूर्त्तत्वात्, दुःखवत्।

(२) यद् अपौरुषेयं न भवति, तद् अमूर्त्तमपि न भवति, यथा—परमाणुः।

(३) विवक्षितः पुमान् रागी, वचनात्, रथ्यापुरुषवत्।

(४) यो यो रागी न भवति स स वक्तापि न भवति, रथ्यापुरुषवत्।

शेषमनया दिशाऽभ्यूह्यम्[2]।

१—तदाभासा इति दृष्टान्ताभासाः।

२—(क) अन्वयदृष्टान्ताभासाः—

(१) साध्यविकलः—अपौरुषेयः शब्दः, अमूर्त्तत्वात्, दुःखवत्। दुःखं पुरुषव्यापारमन्तरा नोत्पद्यत इति पौरुषेयमिदमपौरुषेयसाध्ये न वर्तत इति साध्यविकलत्वम्।

(२) साधनविकलः—अपौरुषेयः शब्दः, अमूर्त्तत्वात्, परमाणुवत्। अत्र साध्यधर्मोऽपौरुषेयत्वं परमाणावस्ति किन्तु साधनधर्मोऽमूर्त्तत्वं नास्ति किञ्च स मूर्तो भवतीति साधन-विकलत्वम्।

(३) उभयविकलः—अपौरुषेयः शब्दः, अमूर्त्तत्वात्, घटवत्। घटे साध्यधर्मोऽपौरुषेयत्वं साधनधर्मश्चामूर्त्तत्वमुभयमपि नास्तीति उभयधर्मविकलत्वम्।

(४) सन्दिग्धसाध्यः—विवक्षितः पुमान् रागी, वचनात्, रथ्यापुरुषवत्। रथ्यापुरुषे हि साध्यधर्मो रागः सन्दिग्धः, रागस्याऽव्यभिचारिलिङ्गादर्शनात्, इति सन्दिग्धसाध्यत्वम्।

(५) सन्दिग्धसाधनः—विवक्षितः पुमान् मरणधर्मा, रागात्, रथ्यापुरुषवत्। रथ्यापुरुषे साधनधर्मो रागः सन्दिग्ध इति सन्दिग्धसाधनत्वम्।

धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः ॥ भि० ३।२६ ॥
दृष्टान्तधर्मिणि विस्तृतसाधनधर्मस्य साध्यधर्मिणि उपसंहार उपनयः। यथा—कृतकश्चायम्।

---

(६) सन्दिग्धोभयः—विवक्षितः पुमान् अल्पज्ञः, रागात्, रथ्यापुरुषवत्। रथ्यापुरुषेऽल्पज्ञत्वं रागश्चेति उभयमपि सिद्धमिति सन्दिग्धोभयत्वम्। एषु पराशयस्य दुर्बोधत्वाद् अन्वयिनि रथ्यापुरुषे रागाल्पज्ञत्वयोः सत्त्वं सन्दिग्धम्।

(७) विपरीतान्वयः—अनित्यः शब्दः, कृतकत्वात्। यदनित्यं तत् कृतकम्, घटवदिति विपरीतान्वयः। प्रसिद्धानुवादेनाऽप्रसिद्धं विधेयम्। अत्र कृतकत्वं हेतुरिति प्रसिद्धम्। अनित्यत्वं तु साध्यत्वाद् अप्रसिद्धम्। अनुवादे प्रसिद्धस्य यच्छब्देन अप्रसिद्धस्य च तच्छब्देन निर्देशो युक्तः। अत्र च विपर्यय इति विपरीतान्वयत्वम्।

(ख) व्यतिरेकिदृष्टान्ताभासाः—

(१) असिद्धसाध्यः—यदऽपौरुषेयं न भवति, तदमूर्त्तमपि न भवति, यथा—परमाणुः, अपौरुषेयत्वात् परमाणूनाम्। (परमाणोरपौरुषेयत्वेऽपि मूर्त्तत्वमिति व्यतिरेकः)

(२) असिद्धसाधनः—यदपौरुषेयं न भवति तदमूर्त्तमपि न भवति, यथा—दुःखम्, अमूर्त्तत्वाद् दुःखस्य। (दुःखस्य पौरुषेयत्वेऽपि अमूर्त्तत्वमिति व्यतिरेकः।

(३) असिद्धोभयः—यदपौरुषेयं न भवति तदऽमूर्त्तमपि न भवति, यथा—आकाशः, अपौरुषेयत्वादमूर्त्तत्वाच्च आकाशस्य। (आकाशेऽपौरुषेयत्वमपि अमूर्त्तत्वमपि चेति व्यतिरेकः)

(४) सन्दिग्धसाध्यः—विवक्षितः पुमान् रागी, वचनात्, रथ्यापुरुषवत्।

(५) सन्दिग्धसाधनः—विवक्षितः पुमान् मरणधर्मा, रागात्, रथ्यापुरुषवत्।

साध्यस्य निगमनम् ॥ वि० ३।२७

साध्यधर्मस्य धर्मिणि उपसंहारो निगमनम् । यथा—तस्मादनित्यः ।

प्रतिषेधस्चतुर्धा प्राक् प्रध्वंस इतरेतरोऽत्यन्तश्च ॥ वि० ३।२८

उत्पत्तेः पूर्वं कारणे कार्यस्याऽसत्त्वं प्राक् ॥ वि० ३।२९

अयमनादिसान्तः । यथा—दधनि दुग्धः ।

---

(६) सन्दिग्धोभयः—विवक्षितः पुमान् अल्पज्ञः रागात्, रथ्यापुरुषवत् ।

एषु परचेतोवृत्तेषु शक्यत्वाद् व्यतिरेकिणि रथ्यापुरुषे रागाल्पज्ञत्वयोरसत्त्वं सन्दिग्धम् ।

(७) विपरीतव्यतिरेकः—अनित्यः शब्दः, कृतकत्वात्, यदऽकृतकं तन्नित्यं यथाऽऽकाशमिति विपरीतव्यतिरेकः । व्यतिरेके हि साध्याभावः साधनाभावेन व्याप्तो निर्देष्टव्यः । न चात्रैवमिति विपरीतव्यतिरेकत्वम् । अनन्वयः अप्रदर्शितान्वयः, अव्यतिरेकः; अप्रदर्शितव्यतिरेकश्चेति चत्वारोऽपरेऽपि दृष्टान्ताभासा भवन्ति ।

यथा—

(१) विवक्षितः पुमान् रागी, वक्तृत्वाद्, इष्टपुरुषवदित्यनन्वयः । यद्यपि इष्टपुरुषे रागो वक्तृत्वञ्च साध्यसाधनधर्मौ दृष्टौ, तथापि यो यो वक्ता स स रागीति व्याप्त्यसिद्धेरनन्वयत्वम् ।

(२) अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद्, घटवदित्यप्रदर्शितान्वयः । सन्नपि अन्वयो वचनेन न प्रकाशित इति परार्थानुमानस्य वचनदोषः ।

(३) न वीतरागः कश्चिद् विवक्षितः पुरुषः, वक्तृत्वात् । यः पुनर्वीतरागो न स वक्ता यथोपलखण्ड इत्यव्यतिरेकः । यद्यप्युपलखण्डादुभयं व्यावृत्तं तथापि व्याप्त्या व्यतिरेकासिद्धेरव्यतिरेकत्वम् ।

(४) अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, आकाशवदित्यप्रदर्शितव्यतिरेकः । यदऽनित्यं न स्यात् तत् कृतकमपि न स्यादिति सन्नपि व्यतिरेको नोक्तः ।

लब्धात्मलाभस्य विनाशः प्रध्वंसः ॥ वि० ३।३० ॥

अयं साद्यनन्तः । यथा—तक्रे दध्नः ।

परस्परापोह इतरेतरः ॥ वि० ३।३१ ॥

अयं सादिसान्तः । यथा—स्तम्भे कुम्भस्य ।

सर्वदा तादात्म्यनिवृत्तिरत्यन्तः ॥ वि० ३।३२ ॥

कालत्रयेऽपि तादवस्थ्याभावः इत्यर्थः । अयमनाद्यनन्तः । यथा—चेतने अचेतनस्य ।

अन्यथा निर्विकारानन्त सर्वैकात्मकतोपपत्तेः ॥ वि० ३।३३ ॥

प्रतिषेधचतुष्टयास्वीकारे भावानां क्रमशः निर्विकारता, अनन्तता, सर्वात्मकता, एकात्मकता च स्यात्, इति भाववद् अभावोऽपि वस्तुधर्म एव ।

कार्यनिष्पत्त्यपेक्ष्यं कारणम् ॥ वि० ३।३४ ॥

कार्यमुत्पद्यमानं नियतं यद् अपेक्षते तत् कारणम् ।

उपादाननिमित्तभेदाद् द्वयम् ॥ वि० ३।३५ ॥

कारणमेव कार्यतया परिणममानमुपादानम् ॥ वि० ३।३६ ॥

परिणामि कारणमिति । यथा—घटस्य मृत्पिण्डः, अङ्कुरस्य वा बीजम् ।

साक्षात् साहाय्यकारि निमित्तम् ॥ वि० ३।३७ ॥

सहकारीति यावत् । यथा—घटस्य चक्रसूत्रादि, अङ्कुरस्य वा जलातपपवनादि । निर्वर्तकस्तु न नाम नियतमपेक्ष्यतेऽकृष्टप्रभवतृणादौ । यत्र घटादौ कुलालवत् सव्यपेक्षस्तत्र निमित्तान्तर्गत एवेति कारणद्वयमेव ।

तद् व्यापारानन्तरं भावि कार्यम् ॥ वि० ३।३८ ॥

तद्—इति कारणद्वयस्य व्यापारानन्तरं तद् भवति तत् कार्यम् ।

सकर्तृ काऽकर्तृ कम् ॥ वि० ३।३९ ॥

तत्र सकर्तृकम्—गृहकलशोसतवादि । अकर्तृकम्—अनुप्ततृणाम्बुदस्वनिजभूम्यादि ।

तदाप्तवचनोऽज्जातमागमः[1] ॥ वि० ४।२ ॥

तदिति श्रुतम् । यथा—अस्ति क्षीरसमुद्रः । अस्त्यत्र स्वादु जलम् ।

१—वचनादिति मुख्यत्वेन संकेतादयोऽपि ग्राह्याः ।

आप्तवचनम्—आगमः, तत्तु उपचारात्, वस्तुवृत्त्या वर्णपदवाक्यात्मकं वचनं पौद्गलिकत्वात् द्रव्यश्रुतम्, अर्थज्ञानात्मकस्य भावश्रुतस्य साधनं भवति।

यथार्थविद् यथार्थवादी चाप्त[1] ॥ वि० ४।३ ॥

लौकिकोऽ[2] लौकिकश्च[3] ॥ वि० ४।४ ॥

क्रमेण जनकादिस्तीर्थंकरादिश्च ॥ वि० ४।५ ॥

आदिशब्दाज्जनन्यादीनां गणधराचार्यादीनाञ्च ग्रहणम्।

सहजसामर्थ्यसमयाभ्यां हि शब्दोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुः ॥ वि० ४।६ ॥

शब्दः—वचनम्। सहजसामर्थ्यम्—शब्दस्यार्थप्रतिपादनशक्तिः योग्यता नाम्नी, समयः—संकेतः, ताभ्यां हि शब्दोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुर्भवति, नान्यथा।

अर्थप्रकाशकत्वमस्य स्वाभाविकं प्रदीपवत्, यथार्थत्वमयथार्थत्वञ्च वक्तृगुणदोषानुसारि ॥ वि० ४।७ ॥

अर्पणानर्पणाभ्यामनेकान्तात्मकार्थप्रतिपादकं[4] वचः स्याद्वादः वि० ४।८ ॥

एकत्र वस्तुनि विरोध्यविरोधिनामनेकधर्माणां स्वीकारः तदात्मक अनेकान्तः[5] तदात्मकस्य अर्थस्य एकस्मिन् समये एकस्य धर्मस्य अर्पणया शेषाणाञ्चानर्पणया प्रतिपादकं वचः, स्याद्युक्तत्वात्, स्याद्वादः कथ्यते[6]। नाय-

---

१—आप्यते सम्यगर्थो यस्मादिति आप्तः।

२—लोके सामान्यजने भवो लौकिकः।

३—मोक्षमार्गोपदेष्टा लोकत्तर इति।

४—अपेक्षानपेक्षाभ्याम्, विवक्षाविवक्षाभ्याम्, प्रधानगौणभावाभ्याम्।

५—अनेकान्तवादो वस्तुनि सर्वधर्माणां संग्राहकः स्याद्वादश्च अपेक्षाभेदेन विरोधमपसार्य तेषां प्रतिपादक इत्यनयोर्भेदः। यथा—वस्तु नित्यञ्च अनित्यञ्च इति अनेकान्तः। द्रव्यापेक्षया नित्यम्, पर्यायापेक्षया च अनित्यम् इति स्याद्वादः। अमुकस्मिन् वस्तुनि अमुको धर्मः अमुकापेक्षया इति शेषधर्मान् गौणीकृत्य अभेदवृत्त्यापन्नस्य एकस्य धर्मस्य कथञ्चित् मुख्यताप्रतिपादनं स्याद्वादनिरपेक्षः।

६—कथञ्चिद्वादः, अपेक्षावाद इति नामान्तराणि। अभेदविवक्षया यौगपद्येन अखण्डवस्तुप्रतिपादकत्वात् असौ सकलादेशः, प्रमाणवाक्यञ्चापि कथ्यते।

मेकत्र नानाविरुद्धधर्मप्रतिपादकः किन्तु अपेक्षाभेदेन तद्विरोध परिहारकः समस्ति[1]।

विधिनिषेधविकल्पैः सोऽनेकभङ्गः ॥ वि० ४।६ ॥

अनेके भङ्गाः—विकल्पाः—वचनप्रकारा वा यस्य, स स्याद्वादः अनेकभङ्गो भवति।

यथा—स्यादस्तीति, स्यान्नास्तीति, स्यादवक्तव्यश्चेति ॥वि० ४।१० ॥

स्यात् शब्दोऽनेकान्तद्योतकः। तत्र स्वद्रव्य-क्षेत्रकालभावापेक्षया सर्वत्रास्तित्वम्, परद्रव्य क्षेत्राद्यपेक्षया नास्तित्वम्, युगपदुभयधर्मा पेक्षया चाऽवक्तव्यत्वमिति[2]। वस्तुनः प्रतिधर्ममेते त्रयो भङ्गा योज्याः। संयोगजाश्चत्वारोऽन्येपीति, तद् योगेन सप्तभङ्गी जायते[3]।

प्रमाणं स्वावरणविलयवोग्यतया प्रतिनियतार्थप्रकाशि ॥ वि० ४।११॥

स्वार्थं परार्थञ्च ॥ वि० ४।१२ ॥

अवधिमनःपर्यायकेवलानि मतिश्च वागसम्बद्धत्वात् स्वार्थम्—स्वसंवेद्यम्।

१—दृष्टिभेदेन, अभिप्रायभेदेन।

२—स्वरूपेण सत्त्वम्, पररूपेण च असत्त्वमिति नास्ति कश्चिद् विरोधः। उक्तञ्च :—

सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः ॥

तथाहि—अस्ति हि घटो द्रव्यतः, पार्थिवत्वेन, न जलादित्वेन। क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकत्वेन, न माथुरादित्वेन। कालतः शैशिरत्वेन, न वासन्तिकादित्वेन। भावतः श्यामत्वेन, न रक्तादित्वेन।

३— (१) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधि निषेधकल्पनया।

(२) स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया, युगपद्विधिनिषेधकल्पनया।

(३) स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया, युगपद्विधिनिषेधकल्पनया।

(४) स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमशो विधिनिषेधकल्पनया, युगपद्विधिनिषेधकल्पनया।

श्रुतम्-स्वार्थं परार्थञ्चापि। तत्र शब्दोन्मुखं शब्दाज्जातं वा स्वार्थम्, परप्रत्यायनाय वागभिनिबद्धं परार्थम्।

तत् परार्थं तु नयवाक्यापरपर्यायः सद्वाद एव[1] ॥ भि० ४।१३ ॥

अखण्ड वस्तुन एकधर्मप्रकाशनपरो वादः सद्वादः। एकस्मिन् समये एकस्यैव धर्मस्य प्रतिपादयितुं शक्यत्वात्, वस्तुतः सद्वाद एव परार्थं भवति। प्रमाणवाक्यं[2] परार्थम्, तत्तु अभेदप्राधान्यात् अभेदोपचाराद्[3] वा।

अनिराकृतेतरांशो वस्त्वंशग्राही प्रतिपत्तुरभिप्रायो नयः[4] ॥ भि० ५।१॥

अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः विवक्षितमंशं गृह्णन् इतरांशान् अनिराकुर्वंश्च प्रतिपत्तुरभिप्रायः—नयः। प्रमाणस्य विषयः अखण्डं वस्तु, नयस्य च तदेकदेशः, ततो नायं प्रमाणमप्रमाणं वा किन्तु प्रमाणांशः, यथा—समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रः किन्तु समुद्रांशः।

द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च ॥ भि० ५।२ ॥

प्राधान्येन अभेदग्राही द्रव्यार्थिकः, भेदग्राही च पर्यायार्थिकः। यावन्तो विचारमार्गाः तावन्तो नया इति नयानामानन्त्येऽपि वर्गीकरणतः तद् द्वैविध्यम्।

आद्यस्त्रेधा ॥ भि० ५।३ ॥

नैगमः संग्रहो व्यवहारश्च।

१—अयं भेदप्राधान्याद् भेदोपचाराद् वा क्रमेण वस्तुधर्मान् प्रतिपादयति, न तु एकस्मिन् समये अनेकान्, इत्यतो विकलादेशोऽपि कथ्यते।

२—अखण्डवस्तुनः प्रतिपादकं वाक्यं प्रमाणवाक्यम्।

३—अखण्डवस्तुन एको धर्मः शेषैरशेषैरपि तद् धर्मैः, अभेदवृत्तिमापन्न एव तत् प्रतिपादयति। ज्ञानं यथा एकस्मिन् समये अनेकान् धर्मान् जानाति, तथा नैकः कश्चित् शब्दः यः खल्वेकस्मिन् समये अनेकान् धर्मान् प्रतिपादयेत् इति, प्रमाणवाक्यं यद् अखण्डं वस्तु प्रतिपादयति तत् मुख्यगौणभावेनैव।

४—असौ सदेकान्तोऽपि कथ्यते।

भेदाभेदग्राही नैगमः ॥ वि० ५।४ ॥

अभेदः—सामान्यम्—द्रव्यं धर्मी वा, भेदः—विशेषः—पर्यायो धर्मो वा। एतदुभयग्राही अभिप्रायो नैगमः। सामान्यविशेषयोर्नास्ति सर्वथा भेदः, यथा—"निर्विशेषं न सामान्यम्, विशेषोऽपि न तद् विना।" केवलं तयोः प्राधान्याप्राधान्येन निरूपणं भवतीति विचारायास्य वृत्तिः। यथा—सुखी जीवः, जीवे सुखम्।

संकल्पग्राही च ॥ वि० ५।५ ॥

भावाभावविषयत्वात् संकल्पग्राही विचारोऽपि नैगमो भवति। देश-कालोपचारलोकरूढिवशात् संकल्पोऽनेकधा, यथा—एधोदकाद्याहरण-प्रवृत्त[1] ओदनं पचामीति, वीरनिर्वाणवासरोऽद्य[2], जातोऽयं[3] विद्वान्।

अभेदग्राही संग्रहः ॥ वि० ५।६ ॥

परोऽपरश्च ॥ वि० ५।७ ॥

महासामान्यविषयः परः, यथा—विश्वमेकम्, सतोऽविशेषात्। अवा-न्तरसामान्यविषयः अपरः, यथा—द्रव्याणामैक्यम् द्रव्यत्वाविशेषात्, पर्यायाणामैक्यम् पर्यायत्वाविशेषात्।

भेदग्राही व्यवहारः[4] ॥ वि० ५।७ ॥

यथा—यत् सत्, तद् द्रव्यं पर्यायो वा। यद् द्रव्यं तद् धर्माधर्मादि षड्-विधम्। यः पर्यायः स द्विविधः—सहभावी, क्रमभावी च। द्रव्यार्थि-कत्वात् असौ परमाणुं यावत् गच्छति न तु अर्थं पर्याये।

पर्यायार्थिकश्चतुर्धा ॥ वि० ५।६ ॥

ऋजुसूत्रः, शब्दः, समभिरूढः, एवं भूतश्च।

१—वर्तमाननैगमः—अपूर्णायामपि क्रियायां पूर्णता संकल्पः।

२—भूतनैगमः—अतीते वर्तमानसंकल्पः।

३—भाविनैगमः—वर्तमाने भविष्यत्संकल्पः।

४—अपरसंग्रहव्यवहारयोर्विषयसाम्येऽपि अपरसंग्रहः अभेदांशप्रधानः, व्यव-हारश्च भेदांशप्रधानः, आद्यो भेदेऽप्यभेदं पश्यति, द्वितीयोऽभेदेऽपि भेद-मित्यनयोर्विशेषः।

वर्तमान पर्यायग्राही ऋजुसूत्रः ॥ वि० ५।११०

यथा—साम्प्रतं सुखम्[1]।

कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदकृच्छब्दः ॥ वि० ५।१११

(क) कालेन, यथा—बभूव, भवति, भविष्यति राजगृहम्।

(ख) संख्यया, यथा—एकः, एके।

(ग) लिंगेन, यथा—नदम्, नदी।

पर्याये निरुक्तिभेदेनार्थभेदकृत् समभिरूढः ॥ वि० ५।११२

यथा—भिक्षत इत्येवंशीलो भिक्षुः, वाचं यच्छतीति वाचं यमः, तपस्यतीति तपस्वी। शब्दनयो हि निरुक्तिभेदेऽप्यर्थभेदमभिप्रैतीत्ययं ततो भिन्नः।

क्रियापरिणतमर्थं तच्छब्दवाच्यं स्वीकुर्वन्नेवं भूतः ॥ वि० ५।११३

यथा—भिक्षणक्रियापरिणतो भिक्षुः, वाचं नियच्छन् वाचंयमः, तपस्यन् तपस्वी इत्यादि। समभिरूढः शब्दगतक्रियायामपरिणतेऽपि तद् व्यपदेशमिच्छतीत्ययं ततो भिन्नः।

आद्याश्चत्वारोऽर्थप्रधानत्वादर्थनयाः[2] ॥ वि० ५।११४

शेषाश्च शब्दनयाः[3] ॥ वि० ५।११५

पूर्वः पूर्वो बहुविषयः कारणभूतः परः परोऽल्पविषयः कार्यभूतश्च ॥ वि० ५।११६

अपरथापि नयो द्विधा—निश्चयो व्यवहारश्च ॥ वि० ५।११७

तात्त्विकार्थाभ्युपगमपरो निश्चयः[4] ॥ वि० ५।११८

यथा—पञ्चवर्णो भ्रमरः, तच्छरीरस्य बादरस्कन्धत्वेन।

१—अत्र हि क्षणस्थायि सुखाख्यं पर्यायमात्रं प्राधान्येन प्रदर्श्यते, तदधिकरणभूतं पुनरात्मद्रव्यं गौणतया नार्प्यते।

२—एषु चतुर्षु अर्थाश्रितो विचारो भवति।

३—एषु त्रिषु विचारः शब्दाश्रितो भवति।

४—यो बादरस्कन्धः स पंचवर्णपुद्गलनिष्पन्नो भवति, तत्र एको वर्णः प्राधान्येन उपलक्ष्यते, शेषाश्च न्यूनभूतत्वान्नोपलक्ष्यन्ते।

लोकप्रसिद्धार्थानुवादपरो व्यवहारः ॥ भि० ५।१९

यथा—सत्स्वपि पञ्चसु वर्णेषु श्यामो भ्रमर इत्यादिवत्।

ज्ञानक्रियाप्रधानौ क्रमाज्ज्ञानक्रियानयावपि ॥ भि० ५।२०

पक्षीकृतांशादितरांशापलापी नयाभासः[1] ॥ भि० ५।२१

आर्हतो दृष्टिकोणो हि सर्वनयसाधारणः[2] ।

उक्तञ्च—

"उदधाविव सर्वसिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥"

१—द्रव्यमात्रग्राही पर्यायप्रतिक्षेपी द्रव्यार्थिकाभासः। पर्यायमात्रग्राही द्रव्यप्रतिक्षेपी पर्यायार्थिकाभासः। धर्मद्रव्यादीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिः नैगमाभासः, यथा—नैयायिकवैशेषिकदर्शनम्। सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणः संग्रहाभासः, यथा—अखिलानि अद्वैतवाददर्शनानि सांख्यदर्शनञ्च। अपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागाभिप्रायो व्यवहाराभासः, यथा चार्वाकदर्शनम्। चार्वाको हि प्रमाणप्रतिपन्नं जीवद्रव्यपर्यायादिविभागमपस्थूललोकव्यवहारानुयायि भूतचतुष्टयविभागमात्रं समर्थयत इति। वर्तमानपर्यायाभ्युपगन्ता सर्वथा द्रव्यापलापी ऋजुसूत्राभासः, यथा—तथागतमतम्। कालादिभेदेनार्थभेदमेवाभ्युपगच्छन् शब्दाभासः, यथा—वैयाकरणः। पर्यायभेदेनार्थभेदं मन्वानः समभिरूढाभासः। क्रियाऽपरिणतं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपन् एवंभूताभासः। अर्थाभिधायी शब्दप्रतिक्षेपी अर्थनयाभासः। शब्दाभिधाय्यर्थप्रतिक्षेपी शब्दनयाभासः। लोकव्यवहारमभ्युपगम्य तत्त्वप्रतिक्षेपी व्यवहाराभासः। तत्त्वमभिगम्य लोकव्यवहारप्रतिक्षेपी निश्चयनयाभासः। ज्ञानमेव क्रियामेव वा मन्वानौ ज्ञानक्रियानयाभासौ।

२—बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद् वेदान्तिनां संग्रहात्,
सांख्यानां तत एव नैगमनयाद् यौगश्च वैशेषिकः।
शब्दाद्वैतविदोऽपि शब्दनयतः सर्वैर्नयैर्गुम्फिता,
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते ॥

प्रस्तुतार्थबोधाय पदार्थानां शब्देषु भेदेन न्यासो
निक्षेपः[1] ॥ सि० ५।२२

जीवादिपदार्थानां शब्देषु—जीवादिशब्देषु भेदेन सङ्कर[2] व्यतिकररहितेन[3] न्यासः—विन्यासः निक्षेपः।

नामस्थापनाद्रव्यभावाः ॥ सि० ५।२३

यावन्तो हि वस्तुविन्यासक्रमास्तावन्त एव निक्षेपा भवन्ति। समासतश्चत्वारस्तु अवश्यं कार्याः।

तथा च—

जत्थ य जं[4] जाणेज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं।
जत्थ वि य न जाणेज्जा, चउक्कयं निक्खिवे तत्थ ॥

तदर्थनिरपेक्षं संज्ञाकर्म नाम ॥ सि० ५।२४

जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमित्तमनपेक्ष्य संकेतमात्रेणैव संज्ञाकरणं नाम[5] भण्यते, यथा अनक्षरस्य उपाध्याय इति नाम।

तदर्थशून्यस्य तदभिप्रायेण प्रतिष्ठापनं स्थापना ॥ सि० ५।२५

तदर्थविरहितस्य द्रव्यस्य 'सोऽयम्' इत्यध्यवसायेन व्यवस्थापनं स्थापना, यथा—उपाध्यायप्रतिकृतिः स्थापनोपाध्यायः। तत्र मुख्याकार समाना सद्भावस्थापना, तदाकारशून्या चासद्भावस्थापना।

१—निक्षेपप्रयोजनावबोधगर्भमिदं सूत्रखण्डम्, यथा—अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान्। अव्युत्पन्नस्य कृते द्वयार्थमेव पूर्णव्युत्पन्नांशव्युत्पन्नयोश्च संशयानयोः संशयापनोदनार्थं, तयोरेव विपर्यस्तयोः प्रस्तुतार्थावधारणार्थं च निक्षेपः क्रियते।

२—सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः।

३—परस्पर विषयगमनं व्यतिकरः।

४—छाया—

यत्र च यं जानीयात्, निक्षेपं निक्षिपेत् निरवशेषम्।
यत्रापि च न जानीयात्, चतुष्कं निक्षिपेत् तत्र ॥

५—यद् वस्तुनोऽभिधानं, स्थितमन्यार्थे तदर्थनिरपेक्षम्।
पर्यायानभिधेयं, च नाम यादृच्छिकं तथा ॥

भूतभाविभावस्य कारणमनुपयोगो वा द्रव्यम् ॥ वि० ५।२६

यथा—अनुभूतोपाध्यायपर्यायोऽनुभविष्यमाणोपाध्यायपर्यायो वा द्रव्योपाध्यायः[1]। यथा वा अनुपयोगाऽवस्था क्रिया द्रव्यक्रिया। क्वचिद्-प्राधान्येऽपि, यथा—अंगारमर्दको द्रव्याचार्यः, आचार्यगुणरहितत्वात्। अयं च आगमे[2] द्विधा उक्तः—आगमतः[3], नो आगमतश्च[4]। तत्र आगमतः—जीवादिपदार्थज्ञोऽपि तत्राऽनुपयुक्तः। नो आगमतस्त्रिधा—ज्ञातृशरीरः, भाविशरीरः, तद्व्यतिरिक्तश्च[5]।

विवक्षितक्रियापरिणतो भावः ॥ वि० ५।२७

अयमपि आगमनोआगमभेदात् द्विधा—तत्र उपाध्यायार्थज्ञस्तदनुभावपरिणतश्च आगमतो भावोपाध्यायः। उपाध्यायार्थज्ञः अध्यापनक्रियाप्रवृत्तश्च नो आगमतो भावोपाध्यायः। एषु[6] नामादित्रयं द्रव्यार्थिकस्य विषयो भावश्च पर्यायार्थिकस्य[7]।

निक्षिप्तानां निर्देशादिभिरनुयोगः ॥ वि० ५।२८

अनुयोगः—व्याख्या।

१—भूते भाविनि वा घृतघटे घृतघटव्यपदेशवत्रापि उपाध्यायव्यपदेशः।

२—अनुयोगद्वारनाम्नि सूत्रे।

३—आगमो ज्ञानम्, तदाश्रित्य—आगमतः।

४—अर्थाद् आगमाभावमाश्रित्य। नो शब्द आगमस्य सर्वथाऽभावे देशाभावे च। तत्र ज्ञातृभाविशरीरे सर्वथाऽभावः। अनुपयुक्तश्च यां क्रियां कुरुते, तस्यामागमस्याभावाद् देशाभावः। क्रियालक्षणो देश एव निषेधः।

५—यत्र ज्ञातृशरीरभाविशरीरयोः पूर्वोक्तं लक्षणं न घटते, तत ताभ्यां व्यतिरिक्तम्।

६—निक्षेपेषु।

७—जिनविषये तावन्निक्षेपचतुष्टयम्—तत्र जीवस्याजीवस्य वा जिन इति नाम क्रियते, स 'नाम-जिनः'। लेप्यादिमयी जिनस्य प्रतिमा 'स्थापना-जिनः'। निबद्ध-जिन (तीर्थङ्कर)-नामगोत्रो यावदनासादितकेवलज्ञानो 'द्रव्य-जिनः'। प्रादुर्भूतक्षायिकज्ञानदर्शनचतुस्त्रिंशदतिशयशाली स्थापित-तीर्थचतुष्टयो 'भाव-जिनः'।

निर्देशस्वामित्वसाधनाधारस्थितिविधानसत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैः[1] ॥ वि० ५।२६

तत्र निर्देशः—नामकथनम्। विधानम्—प्रकारः। सत्—अस्तित्वम्। अन्तरम्—विरहकालः। भावः—औदयिकादिः। अल्पबहुता—न्यूनाधिकता।

तीसरा विभाग

तत्त्व मीमांसा

प्रमाणस्य विषयः सदसन्नित्यानित्यसामान्यविशेषवाच्यावाच्याद्यनेकान्तात्मकं वस्तु ॥ वि० ६।१ ॥

पर्यायान्वयि ध्रौव्यं सत् ॥ वि० ६।२ ॥

उत्तरोत्तराकाराणामुत्पत्तिः—उत्पादः, पूर्वपूर्वाकाराणां विनाशः—व्ययः। एतद्द्वयपर्यायान्वयि एव ध्रौव्यं सद् उच्यते[2]। उत्पादादयः कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नाः, तत एव तत् त्रयात्मकम्।

उक्तञ्च—

घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वलम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम् ॥
उत्पन्नं दधिभावेन, नष्टं दुग्धतया पयः।
गोरसत्वात् स्थिरं जानन्, स्याद्वादद्विड् जनोऽपि कः ॥

तद्वितरदसत् ॥ वि० ६।३ ॥

यन्नोपपद्यते न व्येति न च ध्रुवं तदसत्। यथा—आकाशकुसुमम्।

सतोऽप्रच्युतिर्नित्यम् ॥ वि० ६।४ ॥

परिणमनमनित्यम् ॥ वि० ६।५ ॥

१—यत्र अवगाढस्तत् क्षेत्रमुच्यते। यत्तु अवगाहनातो बहिरपि अतिरिक्तं क्षेत्रं स्पृशति, सा 'स्पर्शना' अभिधीयते, इति क्षेत्रस्पर्शनयोर्विशेषः।

२—सत् केवलं पर्यायात्मकम्, ध्रौव्यात्मकं वा न भवति, तादृशस्य कस्यापि पदार्थस्य अभावात्।

वस्तुनः स्वस्वरूपस्य अप्रच्युतिः—नित्यम्। तस्यैव च रूपान्तरतया परिणमनम्—अनित्यम्[1]।

अभेदप्रतीतेर्निमित्तं सामान्यम्[2] ॥ भि० ६।६ ॥

प्रतिव्यक्ति तत् तिर्यक्सामान्यम्, यथा—वटनिम्बादिषु वृक्षत्वम्। क्रमभाविपर्यायेषु च ऊर्ध्वतासामान्यम्, यथा—बाल्ययौवनाद्यनुयायि पुरुषत्वम्।

भेदप्रतीतेर्निमित्तं विशेषः ॥ भि० ६।७ ॥

जातिरूपेणाऽभिन्नेष्वपि वृक्षेषु वटोऽयम्, पिप्पलोऽयम् निम्बोऽयमित्यादि वैसदृश्यस्य निमित्तभूतो धर्मः—विशेषः।

गुणपर्यायभेदाद् द्विरूपः ॥ भि० ६।८ ॥

गुणः—सहभावी धर्मः, यथा—आत्मनि विज्ञानम्। पर्यायश्च क्रमभावी यथा—तत्रैव सुखदुःखादि।

वाग्गोचरं वाच्यम् ॥ भि० ६।९ ॥

वागविषयमवाच्यम् ॥ भि० ६।१० ॥

विवक्षाऽविवक्षातः संगतिः ॥ भि० ६।११ ॥

प्रयोजनवशात् कश्चिद् धर्मो विवक्ष्यते, कश्चिच्च सन्नपि प्रयोजनाऽभावात् न विवक्ष्यते। यथा धर्मिणो नित्यत्वविवक्षायां सन्तावप्युत्पादव्ययौ नोपात्तौ, अनित्यत्वविवक्षायाञ्च सदपि ध्रौव्यं नाप्यते। तत एव सहावस्थितानामप्येषां ग्रहणाग्रहणेन एकोऽपि धर्मी नित्योऽनित्यश्च। एवमनुवृत्ताकारेण सामान्यम्, व्यावृत्तरूपेण विशेषः, स्वरूपेण सत्, पररूपेण असत्, एकैकधर्मापेक्षया वाच्यम्, युगपद् अनेकधर्मापेक्षया च अवाच्यम्। दृश्यन्ते च एकस्मिन्नपि चैत्रादौ अपेक्षाभेदात् पितृत्व-भ्रातृत्वपुत्रत्वमातुलत्वभागिनेयत्वादयः पर्यायाः।

धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवास्तिकाया द्रव्याणि ॥ प्र० १।१ ॥

कालश्च ॥ प्र० १।२ ॥

१—न च सर्वथा विनाशः, न च सर्वथा उत्पादः, किन्तु अवस्थान्तरापादनम्।

२—तिर्यक्सामान्ये बहूनां व्यक्तीनां केनचित् तुल्येन धर्मेण एकता प्रतीयते, ऊर्ध्वतासामान्ये च एकस्या एव व्यक्तेर्बहुषु पूर्वापरासु अवस्थासु अनुयायिन्या एकता प्रतीयते इति आद्या द्रव्याणामनेकानां वा जातिगता एकता अपरा च एकस्यैव द्रव्यस्य पर्यायगता एकता इति तत्त्वम्।

अस्तिकायः प्रदेशप्रचयः[1]। धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवास्तिकायाः कालश्च इति षड् द्रव्याणि सन्ति।

गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम् ॥ प्र० १।१३ ॥

गुणानां पर्यायाणां चाश्रयः—आधारो द्रव्यम्।

गत्यसाधारणसहायो धर्मः ॥ प्र० १।१४ ॥

गमनप्रवृत्तानां जीवपुद्गलानां गतौ, असाधारणसाहाय्यकारिद्रव्यं धर्मास्तिकायः। यथा—मत्स्यानां जलम्।

स्थित्यसाधारणसहायोऽधर्मः ॥ प्र० १।१५ ॥

तेषामेव स्थानप्रवृत्तानां स्थितौ असाधारणसाहाय्यकारिद्रव्यम्, अधर्मास्तिकायः। यथा—पथिकानां छाया। जीवपुद्गलानां गतिस्थित्यन्यथानुपपत्तेः, वाय्वादीनां सहायकत्वेऽनवस्थाविशेषप्रसङ्गाच्च धर्माधर्मयोः सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम्। एतयोरभावादेव अलोके जीवपुद्गलादीनामभावः।

अवगाहलक्षण आकाशः ॥ प्र० १।१६ ॥

अवगाहोऽवकाश आश्रयः, स एव लक्षणं यस्य स आकाशास्तिकायः। दिगपि आकाशविशेष एव न तु द्रव्यान्तरम्।

लोकोऽलोकश्च ॥ प्र० १।१७ ॥

षड्द्रव्यात्मको लोकः ॥ प्र० १।१८ ॥

अपरिमितस्याकाशस्य षड्द्रव्यात्मको भागः, लोक इत्यभिधीयते। स च चतुर्दशरज्जुपरिमाणः[2] सुप्रतिष्ठकसंस्थानः,[3] तिर्यग् ऊर्ध्वोऽधश्च। तत्र अष्टादशशतयोजनोच्छ्रितोऽसंख्यद्वीपसमुद्रायामस्तिर्यक्। किञ्चिन्न्यूनसप्तरज्जुप्रमाण ऊर्ध्वः। किञ्चिदधिकसप्तरज्जुप्रमितोऽधः।

१—अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः, अभूवन्, भवन्ति, भविष्यन्ति चेति भावना अतोऽस्ति च ते प्रदेशानां कायाश्च राशय इति। अस्तिशब्देन प्रदेशाः क्वचिदुच्यन्ते ततश्च तेषां वा काया अस्तिकायाः। स्था० स्था० १४

२—असंख्ययोजनप्रमिता रज्जुः।

३—त्रिशरावसम्पुटाकारः, यथा एकः शरावोऽधोमुखः, तदुपरि द्वितीय ऊर्ध्वमुखः, तदुपरि पुनश्चैकोऽधोमुखः।

चतुर्धा तत्स्थितिः ॥ प्र० १।६ ॥

यथा आकाशप्रतिष्ठितो वायुः, वायुप्रतिष्ठित उदधिः, उदधिप्रतिष्ठिता पृथिवी, पृथिवीप्रतिष्ठिताः त्रसस्थावराः जीवाः ।

आकाशमयोऽलोकः ॥ प्र० १।१० ॥

धर्मास्तिकायाद्यभावेन केवलमाकाशमयोऽलोकः कथ्यते ।

स्पर्शरसगन्धवर्णवान् पुद्गलः ॥ प्र० १।११ ॥

पूरणगलनधर्मत्वात् पुद्गल इति ।

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतप्रभावांश्च ॥ प्र० १।१२ ।

संहन्यमानानां भिद्यमानानां च पुद्गलानां ध्वनिरूपः परिणामः शब्दः, प्रायोगिको वैस्रसिकश्च । तत्र प्रयत्नजन्यः प्रायोगिकः, भाषात्मकोऽभाषात्मको वा । स्वभावजन्यो वैस्रसिकः—मेघादिप्रभवः । अथवा जीवाजीवमिश्रभेदात् त्रेधा । मूर्तोऽयं नहि अमूर्तस्य आकाशस्य गुणो भवति—श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वात् न च श्रोत्रेन्द्रियममूर्तं गृह्णाति-इति । संश्लेषः—बन्धः, अयमपि प्रायोगिकः सादिः, वैस्रसिकस्तु सादिरनादिश्च ।

सौक्ष्म्यं द्विविधम्—अन्त्यमापेक्षिकञ्च । तत्र अन्त्यं परमाणोः, आपेक्षिकं यथा नालिकेरापेक्षया आम्रस्य । स्थौल्यमपि द्विविधम्—तत्र अन्त्यम्, अशेष-लोकव्यापिमहास्कन्धस्य । आपेक्षिकं यथा—आम्रापेक्षया नालिकेरस्य । आकृतिः—संस्थानम्,—तच्चतुरस्रादिकम्—इत्थंस्थम् अनियताकारमनि-त्थंस्थम् ।

विश्लेषः—भेदः, स च पञ्चधा—उत्करः,[1] चूर्णः,[2] खण्डः,[3] प्रतरः,[4] अनुतटिका[5] ।

कृष्णवर्णबहुलः पुद्गलपरिणामविशेषः तमः । प्रतिबिम्बरूपः पुद्गल-परिणामः छाया । सूर्यादीनामुष्णः प्रकाश आतपः । चन्द्रादीनामनुष्णः प्रकाश उद्योतः । मण्यादीनां रश्मिः प्रभा । सर्व एव एते पुद्गलधर्माः, अत एतद्वानपि पुद्गलः ।

---

१ मुद्गशमीभेदवत्, २ गोधूमचूर्णवत्, ३ लोहखण्डवत्, ४ अभ्रपटल-भेदवत्, ५ तडागरेखावत्,

परमाणुः स्कन्धश्च ॥ प्र० १।१३ ॥

अविभाज्यः परमाणुः ॥ प्र० १।१४ ॥

उक्तञ्च—

> कारणमेव[1] तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
> एकरसगन्धवर्णो, द्विस्पर्शः कार्यं लिङ्गश्च[2] ॥

तदेकीभावः स्कन्धः ॥ प्र० १।१५ ॥

तेषां द्व्याद्यनन्तपरिमितानां परमाणूनामेकत्वेनावस्थानं स्कन्धः। यथा—द्वौ परमाणू मिलितौ द्विप्रदेशी स्कन्धः, एवं त्रिप्रदेशी, दशप्रदेशी, संख्येयप्रदेशी, असंख्येयप्रदेशी, अनन्तप्रदेशी च।

तद्भेदसंघाताभ्यामपि ॥ प्र० १।१६ ॥

स्कन्धस्य भेदतः संघाततोऽपि स्कन्धोभवति। यथा—भिद्यमाना शिला, संहन्यमानाः तन्तवश्च। अविभागिन्यस्तिकायेऽपि स्कन्धशब्दो व्यवह्रियते। यथा—धर्माधर्माकाशजीवास्तिकायाः स्कन्धाः।

स्निग्धरूक्षत्वादजघन्यगुणानाम्[3] ॥ प्र० १।१७ ॥

अजघन्यगुणानाम्—द्विगुणादिस्निग्धरूक्षाणां परमाणूनां तद्विषमैः समैर्वा द्विगुणादिरूक्षस्निग्धैः परमाणुभिः समं स्निग्धरूक्षत्वाद्धेतोरेकीभावः सम्बन्धो बन्धो वा भवति, न तु एकगुणानामेकगुणैः सममित्यर्थः। अयं हि विसदृशापेक्षया एकीभावः।

द्व्यधिकादिगुणत्वे सदृशानाम् ॥ प्र० १।१८ ॥

सदृशानाम्—स्निग्धैः सह स्निग्धानां रूक्षैः सह रूक्षाणांच परमाणूनामेकत्र द्विगुणस्निग्धत्वमन्यत्र चतुर्गुणस्निग्धत्वमितिरूपे द्व्यधिकादिगुणत्वे सति एकीभावो भवति, न तु समानगुणानामेकाधिकगुणानाञ्च।

उक्तञ्च—

> निद्धस्स निद्धेण दुयाहियेण, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहियेण[4]।
> निद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो, जहन्नवज्जो विसमो समो वा ॥

१—तेषां पौद्गलिकवस्तूनामन्त्यं कारणमेव।

२—कार्यमेव लिङ्गं यस्य स कार्यलिङ्गः।

३—अविभागी प्रतिच्छेदः, अविभाज्योऽशः।

४—पन्नवणा पद १३।

कालः समयादिः ॥ प्र० १।१९ ॥

निमेषस्यासंख्येयतमो भागः समयः। कमलपत्रभेदाद्युदाहरणलक्ष्यः। आदि शब्दात् आवलिकादयश्च।

उक्तञ्च—

समयावलियमुहुत्ता, दिवसमहोरत्तपक्खमासाय।
संवच्छरजुगपलिया, सागर ओसप्पि परियट्टा॥

वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वादिभिर्लक्ष्यः ॥ प्र० १।२० ॥

वर्तमानत्वम्—वर्तना। पदार्थानां नानापर्यायेषु परिणतिः—परिणामः। क्रिया—प्रतिक्रमणादिः। प्राग्भावित्वम्—परत्वम्। पश्चाद्भावित्वम्—अपरत्वम्।

आकाशादेकद्रव्याण्यगतिकानि ॥ प्र० १।२१ ॥

आकाशपर्यन्तानि त्रीणि एकद्रव्याणि—एकव्यक्तिकानि, अगतिकानि—गतिक्रियाशून्यानि।

बुद्धिकल्पितो वस्त्वंशो देशः ॥ प्र० १।२२ ॥

वस्तुनोऽपृथग्भूतो बुद्धिकल्पितोंऽशो देश उच्यते।

निरंशः प्रदेशः ॥ प्र० १।२३ ॥

निरंशो देशः प्रदेशः कथ्यते। परमाणुपरिमितो वस्तुभाग इत्यर्थः, अविभागी प्रतिच्छेदोऽप्यस्य पर्यायः। पृथग्वस्तुत्वेन परमाणुस्ततो भिन्नः।

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवानाम् ॥ प्र० १।२४ ॥

अलोकस्यानन्ताः ॥ प्र० १।२५ ॥

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ प्र० १।२६। चकारादनन्ता अपि।

न परमाणोः ॥ प्र० १।२७ ॥

परमाणोरेकत्वेन निरंशत्वेन च न प्रदेशः। एवं च कालपरमाण्वोरप्रदेशित्वम्। शेषाणां तु सप्रदेशत्वम्।

कृत्स्नलोकेऽवगाहो धर्माधर्मयोः ॥ प्र० १।२८ ॥

धर्माधर्मास्तिकायौ सम्पूर्णं लोकं व्याप्य तिष्ठत इत्यर्थः।

एकप्रदेशादिषु विकल्प्यः पुद्गलानाम् ॥ प्र० १।२९ ॥

लोकस्यैकप्रदेशादिषु पुद्गलानामवगाहो विकल्पनीयः।

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ प्र० १।३० ॥

जीवः खलु स्वभावात् लोकस्य अल्पात् अल्पमसंख्येयप्रदेशात्मकमसंख्येयतमं भागमवरुध्य तिष्ठति, न पुद्गलवत् एक प्रदेशादिकम्, इति असंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहः। असंख्येयप्रदेशात्मके च लोके परिणतिवैचित्र्यात् प्रदीपप्रभापटलवदनन्तानामपि जीवपुद्गलानां समावेशो न दुर्घटः।

कालः समयक्षेत्रवर्ती ॥ प्र० १।३१ ॥

व्यावहारिक[1] कालो हि सूर्याचन्द्रमसोर्गतिसम्बन्धी। सूर्यचन्द्राश्च मेरुं प्रदक्षिणीकृत्य समयक्षेत्र एव नित्यं भ्रमन्ति। ततोऽग्रे च सन्तोऽपि अवस्थिताः, तस्मात् समयक्षेत्रवर्ती कालः।

जम्बूधातकीखण्डार्धपुष्कराः समयक्षेत्रमसंख्यद्वीपसमुद्रेषु ॥ प्र० १।३२ ॥

तिर्यग्लोके द्विर्द्विरायामविष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयसंस्थाना असंख्येयद्वीपसमुद्राः सन्ति। तत्र लवणकालोदधिवेष्टितौ, जम्बूधातकीखण्डौ, पुष्करार्धं चेति सार्धद्वयद्वीपसमुद्राः "समयक्षेत्रम्" उच्यते, मनुष्यक्षेत्रमपि अस्य पर्यायः।

सर्वाभ्यन्तरो मेरुनाभिर्वृत्तोयोजनलक्षविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥प्र० १।३३॥

तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः सप्तक्षेत्राणि ॥ प्र० १।३४

तद्विभाजिनश्च पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणः षड्वर्षधरपर्वताः ॥ प्र० १।३५ ॥

१—जम्बूद्वीपे द्वौ द्वौ सूर्याचन्द्रमसौ। लवणसमुद्रे चत्वारः। धातकीखण्डे द्वादश। कालोदधौ द्वाचत्वारिंशत्। अर्धपुष्करद्वीपे द्विसप्ततिः। सर्वे मिलिता द्वात्रिंशदुत्तरशतं सूर्याश्चन्द्राश्च। धातकीखण्डात् सूर्याश्चन्द्राश्च त्रिगुणिताः पूर्ववर्तिभिश्च योजिता अग्रिमस्य संख्यां सूचयन्ति। एषा पद्धतिः स्वयंभूरमणान्तं प्रयोक्तव्या।

धातकीखण्डे वर्षादयो द्विगुणाः ॥ प्र० १।३६ ॥

तावन्तः पुष्करार्धे ॥ प्र० १।३७ ॥

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयः ॥ १।३८ ॥

शेषा देवोत्तरकुरवश्चाकर्मभूमयः ॥ प्र० १।३९ ॥

शेषा हैमवतादयः । देवोत्तरकुरवश्च विदेहान्तर्गताः ॥

सहभावी धर्मो गुणः ॥ प्र० १।४० ॥

"एग दव्वस्सिआ गुणा" इत्यागमवचनात् गुणो गुणिनमाश्रित्यैव अवतिष्ठते, इति स द्रव्यसहभावी एव ।

सामान्यो विशेषश्च ॥ प्र० १।४१ ॥

द्रव्येषु समानतया परिणतः सामान्यः । व्यक्तिभेदेन परिणतो विशेषः ।

अथोऽस्तित्ववस्तुत्वद्रव्यत्वप्रमेयत्वप्रदेशवत्त्वागुरुलघुत्वादिः ॥ प्र० १।४२ ॥

तत्र विद्यमानता—अस्तित्वम् । अर्थक्रियाकारित्वम्—वस्तुत्वम् । गुणपर्यायाधारत्वम्—द्रव्यत्वम् । प्रमाणविषयता—प्रमेयत्वम् । अवयवपरिमाणता—प्रदेशवत्त्वम् । स्वस्वरूपाविचलनत्वम्—अगुरुलघुत्वम्[१] ।

गतिस्थित्यवगाहवर्तनाहेतुत्वस्पर्शरसगन्धवर्णज्ञानदर्शनसुखवीर्यचेतनत्वाचेतनत्वमूर्तत्वामूर्तत्वादिर्विशेषः ॥ प्र० १।४३ ॥

गत्यादिषु चतुर्षु हेतुत्वशब्दो योजनीयः । एतेषु च प्रत्येकं जीवपुद्गलयोः षड्गुणाः, अन्येषां च त्रयो गुणाः । तत्र स्पर्शः—कर्कशमृदुगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षभेदादष्टधा । रसः—तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदात् पञ्चविधः । गन्धो द्विविधः—सुगन्धो दुर्गन्धश्च । वर्णः—कृष्णनीलरक्तपीतशुक्लभेदात् पञ्चधा ।

पूर्वोत्तराकारपरित्यागादानं पर्यायः ॥ प्र० १।४४ ॥

"लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे" इति आगमात् उभयोरपि द्रव्यगुणयोर्यः पूर्वाकारस्य परित्यागः, अपराकारस्य च आदानं स पर्यायः । जीवस्य नरत्वामरत्वादिभिः पुद्गलस्य स्कन्धत्वादिभिः, धर्मास्तिकाया-

१—यतो द्रव्यस्य द्रव्यत्वं गुणस्य गुणत्वं न विचलति स न गुरुरूपो न लघुरूपोऽगुरुलघुः ।

दीनाञ्च संयोगविभागादिभिर्द्रव्यस्य पर्याया बोध्याः। ज्ञानदर्शनादीनां परिवर्तनादेर्वर्णादीनां च नवपुराणतादेर्गुणस्य पर्याया ज्ञेयाः। पूर्वोत्तराकाराणामानन्त्यात् पर्याया अपि अनन्ता एव। व्यञ्जनार्थभेदेन अस्य द्वैविध्यं, स्वभावविभावभेदाच्च। तत्र स्थूलः, कालान्तरस्थायी, शब्दानां संकेतविषयो व्यञ्जनपर्यायः। सूक्ष्मो वर्तमानवर्त्यर्थपरिणामोऽर्थपर्यायः। परनिमित्तापेक्षो विभावपर्यायः। इतरस्तु स्वभावपर्यायः।

एकत्वपृथक्त्वसंख्यासंस्थानसंयोगविभागास्तल्लक्षणम् ॥ प्र० १।४५ ॥

एतैः पर्याया लक्ष्यन्ते। तत्र एकत्वम्—भिन्नेष्वपि परमाण्वादिषु, यदेकोऽयं घटादिरिति प्रतीतिः। पृथक्त्वं च—अयमस्मात् पृथक् इति[1]। संख्या—एको द्वौ इत्यादिरूपा। संस्थानम्—अयं परिमण्डल इति। संयोगः—अयमंगुल्योः संयोग इति। विभागश्च अयमितो विभक्त इत्यादि[2]।

जीवा द्विधा ॥ प्र० ३।१ ॥

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ प्र० ३।२ ॥

तत्र संसरन्ति भवान्तरमिति संसारिणः, तदपरे मुक्ताः।

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ प्र० ३।३ ॥

हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं गमनशीलास्त्रसाः। तदितरे स्थावराः।

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिका एकेन्द्रियाः स्थावराः ॥ प्र० ३।४ ॥

पृथिवी कायो येषां ते पृथवीकायिका इत्यादि। एते च एकस्य स्पर्शनेन्द्रियस्य सद्भावादेकेन्द्रियाः, स्थावरसंज्ञां लभन्ते। पञ्चसु अपि स्थावरेषु सूक्ष्माः सर्वलोके, बादराश्च लोकैकदेशे। सर्वेऽपि प्रत्येकशरीरिणः, वनस्पतिः तु साधारणशरीरोऽपि।

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ प्र० ३।५ ॥

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनां क्रमेण एकेन्द्रियवृद्ध्या द्वीन्द्रियादयः त्रसा ज्ञेयाः। क्वचित् तेजोवायू अपि। तत्र पृथिव्यादिषु प्रत्येकमसंख्येया जीवाः। वनस्पतिषु संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्ताः। द्वीन्द्रियादिषु पुनरसंख्येया। समानजातीयांकुरोत्पादात्, शस्त्रानुपहतद्रवत्वात्, आहारेण वृद्धिदर्शनात्,

---

१—संयुक्तेषु भेदज्ञानस्य कारणभूतः पृथक्त्वम्।

२—वियुक्तस्य भेदज्ञानस्य कारणभूतो विभागः।

अपराप्रेरितत्वे तिर्यगनियमितगतिमत्त्वात्, छेदादिभिर्म्लान्यादिदर्शनाच्च क्रमेण पृथिव्यादीनां जीवत्वं संसाधनीयम्। आप्तवचनाद् वा, तथाचागमः—

"पुढविकाइयाणं भन्ते[1]! किं! सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता। गोयमा! सागारोवउत्तावि अणागारोवउत्तावि" इत्यादि।

समनस्काऽमनस्काश्च ॥ प्र० ३।६ ॥

समनस्काः, दीर्घकालिकविचारणात्मिकया संज्ञया युक्ताः संज्ञिन इति यावत्। असंज्ञिनोऽमनस्काः।

नारकदेवागर्भजतिर्यङ्मनुष्याश्च समनस्काः ॥ प्र० ३।७ ॥

अन्येऽमनस्काः ॥ प्र० ३।८ ॥

अन्ये संमूर्च्छजास्तिर्यञ्चो मनुष्याश्चामनस्का भवन्ति।

भवारम्भेपौद्गलिकसामर्थ्यनिर्माणं पर्याप्तिः ॥ प्र० ७।१६ ॥

आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासनिःश्वासभाषामनांसि ॥ प्र० ७।२० ॥

तत्र आहारप्रायोग्यपुद्गलग्रहणपरिणमनोत्सर्गरूपं पौद्गलिकसामर्थ्योत्पादनम्—आहारपर्याप्तिः। एवं शरीरादिपर्याप्तयोऽपि भावनीयाः। षण्णामपि प्रारम्भः उत्पत्तिसमये, पूर्त्तिस्तु आहारपर्याप्तेरेकसमयेन शेषाणां च क्रमेण एकैकेनाऽन्तर्मुहूर्त्तेन। यत्र भवे येन यावत्यः पर्याप्तयः करणीयाः, तावतीष्वसमाप्तासु सोऽपर्याप्तः, समाप्तासु च पर्याप्त इति।

तदपेक्षिणी जीवनशक्तिः प्राणाः ॥ प्र० ७।२१ ॥

इन्द्रियबलोच्छ्वासनिःश्वासाऽऽयूंषि ॥ प्र० ७।२२ ॥

तत्र पंच इन्द्रियाणि, मनोवाक्कायरूपं बलत्रयम्, श्वास-निःश्वास-आयुश्चेति दशविधाः प्राणाः।

रत्नशर्कराबालूकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाअधोऽधोविस्तृताः सप्तभूमयः ॥ प्र० ३।६ ॥

ताश्च घनोदधिघनतनुवाताकाशप्रतिष्ठिताः ॥ प्र० ३।१० ॥

तासु नारकाः ॥ प्र० ३।११ ॥

प्रायोऽशुभतरलेश्यापरिणामशरीरवेदनाविक्रियावन्तः ॥ प्र० ३।१२ ॥

परस्परोदीरितवेदनाः ॥ प्र० ३।१३ ॥

१—पन्नवणा २६ उपयोग पद।

परमाधार्मिकोदीरितवेदनाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ प्र० ३।१४ ॥

देवाश्चतुर्विधाः ॥ प्र० ३।१५ ॥

असुरनागसुपर्णविद्युदग्निद्वीपोदधिदिग्वायुस्तनितकुमारा भवनपतयः ॥ प्र० ३।१६ ॥

पिशाचभूतयक्षराक्षसकिन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वा व्यन्तराः ॥ प्र० ३।१७॥

चन्द्रार्कग्रहनक्षत्रतारका ज्योतिष्काः ॥ प्र० ३।१८ ॥

वैमानिका द्विविधाः ॥ प्र० ३।१९ ॥

सौधर्मेशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलान्तकशुक्रसहस्रारानत-प्राणतारणाच्युतकल्पजाः कल्पोपपन्नाः ॥ प्र० ३।२० ॥

नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरविमानजाश्च कल्पातीताः ॥ प्र० ३।२१ ॥

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षकलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाः कल्पान्तेषु ॥ प्र० ३।२२ ॥

त्रायस्त्रिंशलोकपालरहिता व्यन्तरज्योतिष्काः प्र० ३।२३ ॥

एकद्वित्रिचतुः पंचेन्द्रियास्तिर्यञ्चः ॥ प्र० ३।२४

एकेन्द्रियादारभ्य जलस्थलखचरपञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः सर्वे तिर्यञ्चो ज्ञेयाः ।

प्राक्मानुषोत्तरपर्वताद् मनुष्याः ॥ प्र० ३।२५ ॥

मानुषोत्तरश्च समयक्षेत्रं परितो वेष्टितः ।

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ प्र० ३।२६ ॥

तत्र शिष्टाभिमताचारा[1] आर्याः । शिष्टाऽसम्मतव्यवहाराश्च म्लेच्छाः ।

तत्रार्या जातिकुलकर्मादिभेदभिन्नाः ॥ प्र० ३।२७ ॥

लोकेऽभ्यर्हितजातिकुलकर्माणः क्रमशो जात्यार्याः, कुलार्याः, कर्मार्याश्च । आदिना क्षेत्रार्यादयोऽपि बोद्धव्याः ।

आचारवैविध्यात् पृथग् जातयः ॥ प्र० ३।२८ ॥

आर्याणां तत्तत्कालप्रचलिताः, अनियताः, अनेकजातयो वर्तन्ते । तासां-मुख्येतरत्वञ्च तत्तत् समयवर्तिजनाभिप्रेतम् । तत्त्वतस्तु तपः संयमप्रधानैव जातिः प्रधाना ।

१—अहिंसासंयमतपःप्रमुखसद्गुणसंस्काराः, तद्वांश्च शिष्टः ।

आगमे प्याह—

"सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो,
न दीसई जाइविसेस कोइ।
सोवागपुत्तं हरि एस साहुं;
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभावा॥

एवं म्लेच्छभेदा अपि भावनीयाः।

पर्याप्तापर्याप्तादयोऽपि ॥ प्र० ३।२६ ॥

जीवाः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च। आदिशब्दात् सूक्ष्मबादरसम्यक्दृष्टि-मिथ्यादृष्टिसंयताऽसंयतप्रमत्ताऽप्रमत्तसरागवीतरागछद्मस्थकेवलिसयोग्ययोगिलिङ्गत्रयगतिचतुष्टयजातिपंचककायषट्कगुणस्थानचतुर्दशकजीवभेदचतुर्दशकदण्डकचतुर्विंशतिप्रभृतयो भूयांसो भेदा जीवतत्त्वस्य भावनीयाः।

गर्भोपपातसंमूर्च्छनानि जन्म ॥ प्र० ३।३० ॥

जन्म – उत्पत्तिः। तच्च त्रिविधं भवति।

'जराय्वण्डपोतजानां' गर्भः ॥ प्र० ३।३१ ॥

जरायुजाः – मृगवाद्याः। अण्डजाः—पक्षिसर्पाद्याः। पोतजाः[२]—कुञ्जरादयः।

देवनारकाणामुपपातः ॥ प्र० ३।३२ ॥

शेषाणां संमूर्च्छनम् ॥ प्र० ३।३३ ॥

[३]सचित्ताऽचित्त[४]शीतोष्ण[५]संवृत[६]विवृतास्तन्मिश्राश्च-योनयः ॥ प्र० ३।३४ ॥

योनिः—उत्पत्तिस्थानम्। तन्मिश्राश्च इति सचित्ताचित्ताः, शीतोष्ण-संवृतविवृताः, शेषं सुज्ञेयम्।

आत्मनः सदसत्प्रवृत्त्याकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गलाः कर्म ॥ प्र० ४।१॥

आत्मनः—जीवस्य सदसत्प्रवृत्त्या गृहीताः, कर्मप्रायोग्याश्चतुःस्पर्शिनोऽनन्तप्रदेशिपुद्गलस्कन्धाः कर्मसंज्ञामश्नुवते।

१—यज्जालवत् प्राणिपरिवरणं विततमांसशोणितं तज्जरायुः, तत्र जाता जरायुजाः।

२—पोता एव जाता इति पोतजाः शुद्धप्रसवाः, न जराय्वादिना वेष्टिता इति यावत्। ३—जीवत् शरीरम्। ४—शीतस्पर्शवत्। ५—दिव्यशय्यादिवत्।
६—जलाशयादिवत्।

क्वचिद् सद्सत्क्रियापि ॥ प्र० ४।२॥

तद्घात्मगुणावरोधसुखदुःखहेतुः ॥ प्र० ४।३ ॥

तच्च ज्ञानावरणादिभेदभिन्नं कर्म। ज्ञानाद्यात्मगुणानामवरोधस्य, विपाकस्य सुखदुःखस्य च हेतुर्भवति।

बन्धोद्वर्तनाऽपवर्तनासत्तोदयोदीरणासंक्रमणो-
पशमनिधत्तिनिकाचनास्तदवस्थाः ॥ प्र० ४।४ ॥

एता हि कर्मणामवस्थाः। तासु चाष्टौ करणशब्दवाच्याः। यदाह—

बंधण,[1] संकमणुव्वट्टणा, अववट्टणा, उदीरणया।
उवसामणा, निहत्ति, निकायणा चत्ति करणाइं ॥

बन्धोऽनन्तरं वक्ष्यते। कर्मणः स्थित्यनुभागवृद्धिः—उद्वर्तना। स्थित्यनुभागहानिः—अपवर्तना। आबाधाकालो विद्यमानता च-सत्ता। उदयो द्विविधः। यत्र फलानुभवः स विपाकोदयः, केवलं प्रदेशवेदनम्—प्रदेशोदयः। नियतकालात् प्राक् उदयः—उदीरणा, इयं चापवर्तनापेक्षिणी। सजातीयप्रकृतीनां[2] मिथः परिवर्तनम्—संक्रमणा। उदयोदीरणानिधत्तिनिकाचनाऽयोग्यत्वम्—उपशमनम्। उद्वर्तनापवर्तनं विहाय शेषकरणायोग्यत्वम्—निधत्तिः। समस्तकरणायोग्यत्वं—निकाचना।

कर्मपुद्गलादानं बन्धः ॥ प्र० ४।५ ॥

जीवस्य कर्मपुद्गलानामादानम्, क्षीरनीरवत् परस्पराश्लेषः सम्बन्धो बन्धोऽभिधीयते। स च प्रवाहरूपेण अनादिः, इतरेतरकर्मसम्बन्धरूपेण तु सादिः। अमूर्तस्यापि आत्मनः अनादिकर्मपुद्गलसम्बन्धवत्त्वेन कथंचिद् मूर्तत्वस्वीकारात् कर्मपुद्गलानां सम्बन्धो नासंभवी।

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाः ॥ प्र० ४।६ ।

सामान्योपात्तकर्मणां स्वभावः प्रकृतिः ॥ प्र० ४।७ ॥

१—कर्मप्रकृतिः।

२—यथाऽध्यवसायविशेषेण सातवेदनीयम्, असातवेदनीयरूपेण, असातवेदनीयं च सातवेदनीयरूपेण परिणमते। आयुषः प्रकृतीनां दर्शनमोहचारित्रमोहयोश्च मिथः संक्रमणा न भवति।

सामान्येन गृहीतेषु कर्मसु एतज्ज्ञानस्य अवरोधकम्, एतच्च दर्शनस्य इत्यादिरूपः स्वभावः प्रकृतिः ·

ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः ॥ प्र० ४।८ ॥

कर्मणामष्टौ मूलप्रकृतयः सन्ति। तत्र ज्ञानदर्शनयोरावरणम्—ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च। सुखदुःखहेतुः—वेदनीयम्। दर्शनचारित्रघातात् मोहयति आत्मानमिति मोहनीयम्। एति भवस्थितिं जीवो येन इति आयुः। चतुर्गतिषु नानापर्यायप्राप्तिहेतुः—नाम। उच्चनीचभेदं गच्छति येनेति गोत्रम्। दानादिलब्धौ विघ्नकरः—अन्तरायः।

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिश्चतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्च च यथाक्रमम् ॥ प्र० ४।६ ॥

अष्टानां मूलप्रकृतीनां यथाक्रममेते भेदाः। तत्र ज्ञानावरणस्य पञ्च। दर्शनावरणस्य नव। वेदनीयस्य द्वौ। मोहनीयस्य दर्शनचारित्रभेदादष्टाविंशतिः। आयुषश्चत्वारः। नाम्नो द्विचत्वारिंशत्। गोत्रस्य द्वौ। अन्तरायस्य च पंच। सर्वे मिलिताः सप्तनवतिः।

कालावधारणं स्थितिः ॥ प्र० ४।१० ॥

यथा ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां त्रिंशत् सागरकोटिकोट्यः परा-स्थितिः। मोहनीयस्य सप्ततिः[1]। नामगोत्रयोर्विंशतिः। त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि आयुषः। अपरा तु द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य, नामगोत्रयोरष्टौ, शेषाणां चान्तर्मुहूर्ता[2]। एकसागरकोटिकोटिस्थितिमनुवर्षशतामाबाधाकालः[3]।

विपाकोऽनुभागः ॥ प्र० ४।११

रसोऽनुभागोऽनुभावः फलम्, एते एकार्थाः। स च द्विधा—तीव्राध्यवसायनिमित्तस्तीव्रः, मन्दाध्यवसायनिमित्तश्च मन्दः। कर्मणां जडत्वेऽपि पथ्यापथ्याहारवत्, ततो जीवानां तथाविधफलप्राप्तिरविरुद्धा, नैतदर्थमीश्वरः कल्पनीयः।

दलसंचयः कर्मात्मनोरैक्यं वा प्रदेशः ॥ प्र० ४।१२ ॥

दलसंचयः—कर्मपुद्गलानामियत्तावधारणम्।

१—दर्शनमोहनीयापेक्षया चारित्रमोहनीयस्य तु चत्वारिंशत् कोटिकोट्यः स्थितिः। २—संपरायसातवेदनीयमाश्रित्य। ३—आयुषोऽपवादः।

उक्तञ्च—

स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्तः, स्थितिःकालावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दलसंचयः ॥

औपपातिकचरमशरीरोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोनिरुपक्रमायुषः ॥ प्र० ८।३१ ॥

उपक्रमोपवर्तनमल्पीकरणमित्यर्थः । निविडबन्धनिमित्तत्वात् तद्रहितायुषो निरुपक्रमायुषः । तत्रौपपातिकाः—नारकदेवाः । चरमशरीरास्तद्भवमुक्तिगामिनः । उत्तमपुरुषाश्चक्रवर्त्यादयः । असंख्यवर्षायुषो—यौगलिका नरास्तिर्यञ्चश्च ।

शेषाः सोपक्रमायुषोऽपि ॥ प्र० ८।३२ ॥

अध्यवसाननिमित्ताहारवेदनापराघातस्पर्शोच्छ्वासनिःश्वासाउपक्रमकारणानि ॥ प्र० ८।३३ ॥

अध्यवसानम्—रागस्नेहभयात्मकोऽध्यवसायः । निमित्तम्—दण्डशस्त्रादि । आहारः—न्यूनोऽधिको वा । वेदना नयनादिपीडा । पराघातः—गर्त्तपातादिः । स्पर्शः भुजङ्गादीनाम् । उच्छ्वासनिःश्वासौ—व्याधिरूपेण निरुद्धौ ।

वेदनादिभिरेकीभावेनात्मप्रदेशानां तत इतः प्रक्षेपणं समुद्घातः[1] ॥ प्र० ८।३४ ॥

वेदनाकषायमारणान्तिकवैक्रियाहारकतैजसकेवलानि ॥ ८।३५ ॥

असद्वेद्यकर्माश्रयः—वेदना । कषायमोहकर्माश्रयः—कषायः । अन्तर्मुहूर्तशेषायुःकर्माश्रयः—मारणान्तिकः । वैक्रियाहारकतैजसनामकर्माश्रयाः—वैक्रियाहारकतैजसाः । आयुर्वर्जाऽघातिकर्माश्रयम्—केवलम् । सर्वेष्वपि समुद्घातेषु आत्मप्रदेशाः शरीराद् बहिर्निस्सरन्ति, तत्तत्कर्मपुद्गलानां विशेषपरिशाटश्च भवति । केवलसमुद्घाते चात्मा सर्वलोकव्यापी भवति, स चाष्टसामयिकः । तत्र च केवली प्राक्तने समयचतुष्टये आत्मप्रदेशान् बहिर्निस्सार्य

१—सम् इति एकीभावेन, उत् प्राबल्येन, घात इति हन्तेर्गत्यर्थकत्वात् आत्मप्रदेशानां बहिर्निस्सरणम्, हिंसार्थकत्वाच्च कर्मपुद्गलानां निर्जरणं समुद्घातः ।

क्रमेण दण्डकपाटमन्थानान्तरावगाहं कृत्वा समग्रमपि लोकाकाशं पूरयति। अग्रेतने च समयचतुष्टये क्रमेण तान् संहरन् देहस्थितो भवति। अष्टसमयेषु प्रथमेऽष्टमे च औदारिकयोगः, द्वितीय षष्ठे सप्तमे च औदारिकमिश्रः, तृतीये चतुर्थे पञ्चमे च कार्मणम्।

स्वपरावभासी प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्माप्रमाता ॥ वि० ७१ ॥

स्वञ्च परञ्चावभासते प्रकाशयतीत्येवंशीलः, अहं सुखी, अहं दुःखीत्यादि-निदर्शनेन, प्रत्यक्षादिप्रमाणेन प्रतीत आत्मा प्रमाता प्रमाणकर्तेति यावत्।

चैतन्यलिङ्गोपलब्धेस्तद्ग्रहणम् ॥ वि० ७२ ॥

अदृष्टोऽपि पदार्थो लभ्यमानलिङ्गेन गृह्यत एव। यथा ऽपवरकस्थितेना-दृष्टोऽपि सविता प्रकाशातपाभ्याम्, तथैव चैतन्यलिङ्गेन आत्मा।

न तज्जडलक्षणभूतधर्मः ॥ वि० ७३ ॥

तदिति चैतन्यम्।

उपादाननियमात् ॥ वि० ७४ ॥

कः खलूपादानमर्यादामनुभवन्नपि जडलक्षणाद् भूताच्चैतन्यं प्रसाधयितु-मायुष्मान्।

नासदुत्पादः ॥ वि० ७५ ॥

न खलु समुदितेष्वपि भूतेषु अत्यन्ताऽसत्त्वस्य चैतन्यस्योत्पत्तिः संभविनी। यथा—सिकताकणेषु प्रत्येकमनुपलभ्यं तैलं न समुदितेष्वपि, ततो व्यक्तौ तु सिद्ध्यति सर्वथा चैतन्यवादः।

नापि मस्तिष्कमूलं, मस्तिष्कस्य तु तत्प्रयोग हेतुमात्रत्वात् ॥ वि० ७६ ॥

चैतन्यस्य मूलं मस्तिष्कं न भवति, तत्तु विशिष्टचैतन्यस्य—मनसः प्रयोगसाधनमात्रमस्ति।

शोणितं तु प्राणशक्त्यनुगाम्येव ॥ वि० ७७ ॥

रक्तं हि प्राणशक्तिनिमित्तं भवति, तद्विरहे तस्यानुत्पादात्। अन्यथा तद्गतिनिरोधस्य निर्हेतुकत्वात्। किञ्च सात्मके शरीरे आहारग्रहणम्, ततः शोणितोत्पत्तिः, श्वासोच्छ्वासेन तस्याऽखिले वपुषि सञ्चारः; तेन शरीरा-वयवानां सक्रियत्वम्। ततो हीन्द्रियाणि मनश्च गृह्णन्ति स्वप्रमेयम्। देहिनि अन्यत्र गते सर्वत्रापि निष्क्रियत्वोपलब्धेः।

प्रेत्यसद्भावाच्च ॥ वि० ७।८ ॥

पुनरुत्पत्तिः—प्रेत्यभावः। तेनाप्यात्मनः सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम्।

शरीराग्रहस्य चेतसः संभवात् तत्सद्भावः ॥ वि० ७।९॥

नवोत्पन्नस्य प्राणिनो निजशरीरविषय आग्रहः। स तद्विषयपरिशीलन-पूर्वकः। न खलु अत्यन्तानाज्ञातगुणदोषे वस्तुन्याग्रहो दृष्टः।

हर्षभयशोकोपलब्धिरपि पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धा ॥ वि० ७।१० ॥

जातः खलु बालः पूर्वाभ्यस्तस्मृतिनिमित्तान् हर्षादीन् प्रतिपद्यते। पूर्वाभ्यासश्च पूर्वजन्मनि सति, नान्यथा।

प्रमाणस्य फलमर्थबोधः ॥ वि० ६।१२ ॥

अयं[1] प्रमाणमात्रस्य साक्षात्फलम्। पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य[2] माध्यस्थ्यम्, शेषप्रमाणानाञ्च हानोपादानमाध्यस्थ्यबुद्धयः[3]।

प्रमाणतः स्याद् भिन्नमभिन्नञ्च ॥ वि० ६।१३ ॥

एकान्तभेदे हि इदमस्य प्रमाणस्य फलमिति सम्बन्धो न संभवी। एकान्ताभेदे च प्रमाणमेव वा फलमेव वा तद् भवेदिति।

एकप्रमातृतादात्म्येन तस्मादभिन्नम् ॥ वि० ६।१४ ॥

प्रमाणतया परिणत एवात्मा फलतया परिणमति इत्येकप्रमात्रपेक्षया प्रमाणफलयोरभेदः।

साध्यसाधनभावेन तयोर्भेदः ॥ वि० ६।१५ ॥

प्रमाणं साधनम्, फलञ्च साध्यमिति।

अवग्रहादीनां क्रमिकत्वात् पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् ॥ वि० ६।१६ ॥

यथा—अवग्रहः प्रमाणम्, ईहा फलम्, एवमनुमानं यावत्।

१—अर्थबोधः।

२—केवलिनो हि साक्षात् समस्तार्थानुभवेऽपि हानोपादानेच्छा विरहाद् माध्यस्थ्यबुद्धिः।

३—हेये परित्यागबुद्धिः, उपादेये ग्रहणबुद्धिः, उपेक्षणीये उपेक्षाबुद्धिः।

चौथा विभाग

आचार मीमांसा

जीवाजीवपुण्यपापास्रवसम्वरनिर्जराबन्धमोक्षास्तत्त्वम् ॥प्र० २।१॥

तत्त्वं पारमार्थिकं वस्तु।

उपयोग लक्षणो जीवः ॥ प्र० २।२ ॥

अनुपयोगलक्षणोऽजीवः ॥ प्र० ३।३५ ॥

यस्मिन् साकाराऽनाकारलक्षण उपयोगो नास्ति सोऽजीवः, अचेत इति यावत्।

धर्माधर्माकाशकालपुद्गलास्तद्भेदाः ॥ प्र० ३।३६ ॥

एतेषां लक्षणानि प्राङ्निरूपितानि। इति मूलतत्त्वद्वयीनिरूपणम्।

शुभं कर्म पुण्यम् ॥ प्र० ४।१३ ॥

शुभं कर्म सातवेदनीयादि पुण्यमभिधीयते। उपचाराच्च यन्निमित्तो भवति पुण्यबन्धः, सोऽपि तत् तत् शब्दवाच्यः, ततश्च तन्नवविधम्, यथा संयमिने अन्नदानेन जायमानं शुभं कर्म अन्नपुण्यम्, एवं पानलयन[1] शयन[2] वस्त्रमनोवाक्कायनमस्कारपुण्यानि अपि भावनीयानि।

तच्च धर्माविनाभावि ॥ प्र० ४।१४ ॥

सत्प्रवृत्त्या हि पुण्यबन्धः, सत्प्रवृत्तिश्च मोक्षोपायभूतत्वात् अवश्यं धर्मः, अतएव धान्याविनाभावि बुसवत् तद् धर्मं विना न भवतीति मिथ्यात्विनां धर्माराधकत्वमसम्भवं प्रकल्प्य पुण्यस्य धर्माविनाभावित्वं नारेकणीयम्, तेषामपि मोक्षमार्गस्य देशाराधकत्वात्। निर्जराधर्मं विना सम्यक्त्वलाभाऽसंभवाच्च। संवरहिता निर्जरा न धर्म इत्यपि न तथ्यम्। किं च तपसः मोक्षमार्गत्वेन[3] धर्मविशेषणत्वेन[4] च व्याख्यातत्वात्। अनयैव दिशा लौकिकेऽपि कार्ये धर्मातिरिक्तं पुण्यं पराकरणीयम्।

१—लयनम्—आलयः। २—शयनम्—पट्टादि।

३—नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।

एस मग्गु त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वर दंसिहिं ॥ उ० १८-१

४—धम्मोमंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो। द० १-१

अशुभं कर्म पापम् ॥ प्र० ४।१५ ॥

अशुभं कर्म ज्ञानावरणादि पापमुच्यते। उपचारात् तद्धेतवोऽपि तत्-शब्दवाच्याः, ततश्च तद् अष्टादशविधम्, यथा—प्राणातिपातजनितमशुभं कर्म प्राणातिपातपापम्, एवं मृषावादाऽदत्तादान—मैथुन-परिग्रह-क्रोध-मान माया-लोभ-राग-द्वेष-कलहाऽभ्याख्यान-पैशुन्य-परपरिवाद-रत्यरति-मायामृषा-मिथ्या-दर्शनशल्यपापान्यपि भावनीयानि।

व्याख्यान्तरेण—

यदुदयेन भवेत् अशुभा प्रवृत्तिः, तन्मोहनीयं कर्मापि तत्तत् क्रियाशब्देनोच्यते। यथा—प्राणातिपातजनकं मोहनीयं कर्म प्राणातिपातपापमित्यादि।

द्रव्यभावभेदादनयोर्बन्धाद्भेदः ॥ प्र० ४।१६ ॥

द्रव्यं तत्क्रियाविरहितम्, भावश्च तत्क्रियापरिणतः। अनुदयमानाः सदसत्कर्मपुद्गला बन्धः—द्रव्यपुण्यपापे, तत्फलानर्हत्वात्। उदयमानाश्च ते क्रमशो भावपुण्यपापे तत्फलार्हत्वाद् इत्यनयोर्बन्धाद् भेदः।

कर्माकर्षक आत्मपरिणाम आस्रवः ॥ प्र० ४।१७ ॥

परिणामोऽध्यवसायोऽध्यवसानं भाव इत्येकार्थाः। यो जीवपरिणामः शुभाशुभकर्मपुद्गलानाकर्षति, आत्मप्रदेशैः तान् सम्बन्धयति, स आस्रवः, कर्मागमनद्वारमित्यर्थः।

मिथ्यात्वमविरतिः प्रमादः कषायो योगश्च ॥ प्र० ४।१८ ॥

एते पंच आस्रवाः सन्ति।

विपरीततत्त्वश्रद्धा मिथ्यात्वम् ॥ प्र० ४।१६ ॥

दर्शनमोहोदयात् आत्मनः अतत्त्वे तत्त्वप्रतीतिः मिथ्यात्वं गीयते।

आभिग्रहिकमनाभिग्रहिकं च ॥ प्र० ४।२० ॥

कुमताग्रहरूपम्—आभिग्रहिकम्। अनाभोगादिरूपम्[१]—अनाभिग्रहिकम्।

अप्रत्याख्यानमविरतिः ॥ प्र० ४।२१ ॥

अप्रत्याख्यानादिमोहोदयात् आत्मनः आरम्भादेरपरित्यागरूपोऽध्यवसायः—अविरतिरुच्यते।

१—अज्ञानाद्यवस्थम्।

अनुत्साहः प्रमादः ॥ प्र० ४।२२॥

अरत्यादिमोहोदयात् आध्यात्मिकक्रियायामात्मनोऽनुत्साहः—प्रमादोऽभिधीयते[1]।

रागद्वेषात्मकोत्तापः कषायः ॥ प्र० ४।२३॥

रागद्वेषौ वक्ष्यमाणस्वरूपौ, तद्रूप- आत्मनः उत्तापः कषाय उच्यते।

क्रोधमानमायालोभाः ॥ प्र० ४।२४॥

प्रत्येकमनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनभेदाः ॥ प्र० ४।२५॥

एते क्रमेण सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतियथाख्यातचारित्रपरिपन्थिनः। तत्र पर्वत-भूमि-रेणु-जलराजिस्वभावः क्रोधः। शैल-अस्थि-दारु-लतास्तम्भस्वरूपो मानः। वंशमूल-मेषविषाण-गोमूत्रिका-उल्लिख्यमानवंशच्छल्लिसदृशी माया। कृमिराग-कर्दम-खञ्जन-हरिद्रारागसन्निभो लोभः।

कायवाङ्मनोव्यापारो योगः ॥ प्र० ४।२६॥

वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशमशरीरनामकर्मोदयजन्यः कायभाषामनोवर्गणा[2]पेक्षः कायवाङ्मनःप्रवृत्तिरूपः—आत्मपरिणामः योगोऽभिधीयते।

शुभोऽशुभश्च ॥ प्र० ४।२७॥

मोहरहितः सद्ध्यानाऽर्हन्नुतिगुरुवन्दनादिरूपः, शुभव्यापारः—शुभयोगः; असच्चिन्तनादिर्मोहसंकुलत्वात् अशुभयोगः।

शुभयोग एव शुभकर्मास्रवः ॥ प्र ४।२८॥

शुभयोग एव शुभकर्मण आस्रवः पुण्यबन्धहेतुरिति। अशुभयोगो मिथ्यात्वादयश्चत्वारः अशुभकर्मास्रवाः पापबन्धहेतवः। तेषु मिथ्यात्वादिः आभ्यन्तरोऽशुभव्यापारः प्रतिक्षणं पापबन्धहेतुर्भवति, मनोवाक्कायानां च तेषु[3] हिंसादिषु वा प्रवर्तनं बाह्याशुभव्यापारः, स च व्यापारकाले[4]। मिथ्यात्वम्—प्रथमतृतीयगुणस्थाने, आपंचममविरतिः, आषष्ठं प्रमादः, दशमान्तः कषायः, आषष्ठमशुभयोगः, शुभयोगश्चात्रयोदशम्।

१—न तु मदविषयकषायादिबाह्यप्रवृत्तिरूपः, तस्य अशुभयोगरूपत्वात्।

२—सजातीयपुद्गलसमूहो वर्गणा।

३—मिथ्यात्वादिषु। ४—पापबन्धहेतुः।

यत्र शुभयोगस्तत्र नियमेन निर्जरा ॥ प्र० ४।५६ ॥

शुभयोगः कर्मबन्धहेतुरिति न्यायादेव आस्रवभेदे किन्तु नियमतः अशुभकर्माणि त्रोटयतीति निर्जराकारणं तु समस्त्येव। उदयक्षयोपशमादिरूपतादृक्कारणद्वयपूर्वकत्वात् शुभयोगः नानाद्रव्यसंभूतैकौषधेन जायमानशोषणापोषणवत् क्षयबन्धात्मककार्यद्वयसम्पादनार्हः। तथा चागमः—

वंदणएणं भन्ते जीवे किं जणयइ गोयमा। वंदणएणं जीवा णीयं गोयं कम्मं खवेइ,उच्चागोयं कम्मं निबंधइ[1]" इत्यादि।

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ प्र० ५।१॥

आस्रवस्य निरोधः कर्मागमनद्वारसंवरणात् संवर उच्यते।

सम्यक्त्वं विरतिरप्रमादोऽकषायोऽयोगश्च ॥ प्र० ५।२ ॥

एते पञ्च संवराः सन्ति।

यथार्थतत्त्वश्रद्धा—सम्यक्त्वम् ॥ प्र० ५।३ ॥

जीवादितत्त्वेषु यथार्था प्रतीतिः सम्यक्त्वम्।

औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकसास्वादनवेदकानि ॥ प्र० ५।४ ॥

अनन्तानुबन्धिचतुष्कस्य दर्शनमोहनीयत्रिकस्य[2] चोपशमे—औपशमिकम्, तत्क्षये—क्षायिकम्, तन्मिश्रे च क्षायोपशमिकम्। औपशमिकसम्यक्त्वात् पततः मिथ्यात्वं च गच्छतः—सास्वादनम्[3]। मिश्रात् क्षायिकं गच्छतः तदन्त्यसमये तत्प्रकृतिवेदनात्—वेदकम्।

निसर्गजं निमित्तजञ्च ॥ प्र० ५।५ ॥

प्रत्येकं सम्यक्त्वं निसर्गजं निमित्तजञ्च भवति। तत्र गुरूपदेशादिनिरपेक्षं निसर्गजम्। तदपेक्षञ्च निमित्तजम्।

द्वयञ्च करणापेक्षमपि ॥ प्र० ५।६ ॥

परिणामविशेषः करणम् ॥ प्र० ५।७ ॥

यथाप्रवृत्त्यपूर्वानिवृत्तिभेदात् त्रिधा ॥ प्र० ५।८ ॥

१—उत्तराध्ययन २६।१०

२—मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वमोहनीयानि।

३—सह आ-ईषत् सम्यक्त्वरसास्वादनेनेति सास्वादनम्।

तथाऽनाद्यनन्तसंसारपरिवर्ती प्राणी गिरिसरिदुपलघोलनान्यायेन आयुर्वर्जसप्तकर्मस्थितौ[1] किञ्चिन्न्यूनैककोटीकोटिसागरोपममितायां जातायां येनाध्यवसायेन दुर्भेद्यरागद्वेषात्मकग्रन्थिसमीपं गच्छति, स यथाप्रवृत्तिकरणम्। एतद्धि भव्यानामभव्यानां चानेकशो भवति। येनाप्राप्तपूर्वाध्यवसायेन ग्रन्थिभेदमाय उद्युङ्क्ते, सोऽपूर्वकरणम्। अपूर्वकरणेन भिन्ने ग्रन्थौ येनाध्यवसायेन उदीयमानाया मिथ्यात्वस्थितेरन्तर्मुहूर्तमतिक्रम्य उपरितनीं चान्तर्मुहूर्तपरिमाणामवरुध्य तद्दलिकानां प्रदेशवेद्याभावः क्रियते सोऽनिवृत्तिकरणम्। तद्वेद्याभावश्चान्तरकरणम्[2]। तत् प्रथमे क्षणे आन्तर्मौहूर्तिकमौपशमिकसम्यक्त्वं भवति। कश्चित् पुनः अपूर्वकरणेन मिथ्यात्वस्य पुञ्जत्रयं[3] कृत्वा शुद्धपुञ्जपुद्गलान् वेदयन् प्रथमत एव क्षायोपशमिक सम्यक्त्वं लभते। कश्चिच्च मिथ्यात्वं निर्मूलं क्षपयित्वा क्षायिकं प्राप्नोति।

सावद्यवृत्तिप्रत्याख्यानं विरतिः ॥ प्र० ५।९ ॥

सावद्ययोगरूपायाः, अन्तर्लालसारूपायाश्च सावद्यवृत्तेः प्रत्याख्यानं विरतिसंवरः, अंशतः पञ्चमगुणस्थाने सर्वतश्च षष्ठगुणस्थानात् प्रभृति।

संयमोत्साहोऽप्रमादः ॥ प्र० ५।१० ॥

अयं सप्तमगुणस्थानादारभ्य।

क्रोधाद्यभावोऽकषायः ॥ प्र० ५।११ ॥

असौ वीतरागावस्थायामेकादशगुणस्थानमारभ्य।

अप्रकम्पोऽयोगः ॥ प्र० ५।१२ ॥

असौ शैलेश्यवस्थायां चतुर्दशगुणस्थाने। यश्च संयमिनो ध्यानादिना शुभयोगावरोधः, सोऽपि अयोगसंवरांश एव। अप्रमादादयः त्रयोऽपि प्रत्याख्यानानपेक्षा, आन्तरवैशद्यसाध्यत्वात्।

१—पल्योपमासंख्येयभागन्यूनैककोटीकोटिसागरोपममितायाम्।

२—उपशमसम्यक्त्वात् प्राग्वेद्योत्तरवेद्यमिथ्यात्वपुञ्जयोरन्तरकारित्वात् अन्तरकरणम्।

३—शुद्धम्, अर्धशुद्धम्, अशुद्धं च क्रमशः सम्यक्त्वमोहनीयम्, मिश्रमोहनीयम्, मिथ्यात्वमोहनीयम् इति वाच्यं पुञ्जत्रयम्।

तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्यं निर्जरा ॥ प्र० ५।१३ ॥

सकामाऽकामा च ॥ प्र० ५।१४ ॥

सह कामेन मोक्षाभिलाषेण विधीयमाना निर्जरा—सकामा, तदपरा अकामा । द्विधापि इयं सम्यक्त्विनां मिथ्यात्विनां च ।

उपचारात्तपोऽपि ॥ ५।१५ ॥

कारणे कार्योपचारात्तपोऽपि निर्जराशब्दवाच्यं भवति, तत एव द्वादशविधाऽसौ ।

अनशनोनोदरिकावृत्तिसंक्षेपरसपरित्यागकायक्लेशप्रतिसंलीनता बाह्यम् ॥ प्र० ५।१६ ॥

एतेषामन्नादि बाह्यद्रव्यनिमित्तकत्वात्, परप्रत्यक्षविषयत्वाच्च बाह्यतपस्त्वम् ।

आहारपरिहारोऽनशनम् ॥ प्र० २।१७ ॥

अन्नपानखाद्यस्वाद्यरूपचतुर्विधस्याहारस्य परित्यागोऽनशनम् । तच्च इत्वरिकम्—उपवासादारभ्य आषण्मासम्, यावत्कथिकम्—आमरणम् ।

अल्पत्वमूनोदरिका ॥ प्र० २।१८ ॥

अल्पत्वञ्च—अन्नपानवस्त्रपात्रकषायादीनाम् । उपवासात् प्राग् नमस्कारसहितादीनामत्रान्तर्भावः ।

नानाभिग्रहाद् वृत्त्यवरोधो वृत्तिसंक्षेपः ॥ प्र० ५।१९ ॥

भिक्षाचरिकेति नामान्तरमस्य ।

विकृतेर्वर्जनं रसपरित्यागः ॥ प्र० ५।२० ॥

विकृतिः—घृतदुग्धदध्यादिः ।

हिंसाद्यभावे कष्टसहनं कायक्लेशः ॥ प्र० ५।२१ ॥

इन्द्रिययोगकषायनिग्रहो विविक्तशय्यासनं च प्रतिसंलीनता[1] ॥ प्र० ५।२२ ॥

अकुशलव्यापारान्निवृत्तिः कुशलप्रवृत्तिश्च निग्रहः । विविक्तशय्यासनम्—एकान्तवासः ।

१—गुप्तता

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायध्यानव्युत्सर्गा आभ्यन्तरम् ॥ प्र० ५।२३ ॥

एते षट् मोक्षसाधने अन्तरंगत्वादाभ्यन्तरं तपः।

अतिचारविशुद्धयेऽनुष्ठानं प्रायश्चित्तम् ॥ प्र० ५।२४ ॥

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेक[1] व्युत्सर्ग[2] तपश्छेदमूलाऽनवस्थाप्यपाराञ्चित[3] भेदाद् दशप्रकारम्।

अनाशातनाबहुमानकरणं विनयः[4] ॥ प्र० ५।२५।

ज्ञान-दर्शनचारित्रमनो[5] वचनकायो[6] पचारभेदात् सप्तधा।

सेवाद्यनुष्ठानं वैयावृत्त्यम् ॥ प्र० ५।२६ ॥

तच्च आचार्योपाध्यायस्थविरतपस्विग्लानशैक्षकुलगणसंघसाधर्मिकभेदाद् दशविधम्।

कालादिमर्यादयाऽध्ययनं स्वाध्यायः ॥ प्र० ५।२७॥

स च वाचनाप्रच्छनापरिवर्तनाऽनुप्रेक्षाधर्मोपदेशभेदात् पञ्चविधः।

एकाग्रचिन्ता, योगनिरोधो वा ध्यानम् ॥ प्र० ५।२८ ॥

एकाग्रचिन्तनं छद्मस्थानाम्, केवलिनां तु योगनिरोध एव, एकाग्रचिन्तनस्य तत्राऽनावश्यकत्वात्। एतच्चान्तर्मुहूर्त्तावधिकम्।

आर्त्तरौद्रधर्मशुक्लानि ॥ प्र० ५।२९ ॥

प्रियाप्रियवियोगसंयोगे चिन्तनमार्त्तम् ॥ प्र० ५।३० ॥

प्रियाणां शब्दादिविषयाणां वियोगे सति तत्संयोगाय, अप्रियाणां च संयोगे तद्वियोगाय यदेकाग्रचिन्तनम्, तद् आर्त्तध्यानमुच्यते।

वेदनायां व्याकुलत्वं निदानं च ॥ प्र० ५।३१ ॥

रोगादीनां प्रादुर्भावे व्याकुलत्वम्, वैषयिकसुखाय दृढसंकल्पकरणमपि आर्त्तध्यानम्।

१—आगतस्याऽशुद्धाहारादेः परिष्ठापनम्।

२—कायोत्सर्गः। ३—अवहेलनापूर्वकं व्रतारोपणम्।

४—असद्व्यवहारः आशातना, तद्वर्जनमनाशातना।

५—मनोवाक्कायनम्रता। ६—अभ्युत्थानमासनप्रदानादिकम्।

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणार्थं रौद्रम् ॥ प्र० ५।३२ ॥

यश्चिन्तनमिति गम्यम्। एते षष्ठगुणस्थानं यावद् भवतः।

आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्मम् ॥ प्र० ५।३३ ॥

आज्ञा—अर्हन्निर्देशः। अपायः—दोषः। विपाकः—कर्मफलम्। संस्थानम्—लोकाकृतिः। एषां विचयाय—निर्णयाय चिन्तनं धर्मध्यानम्। एतच्च आद्वादशगुणस्थानात्।

पृथक्त्ववितर्कसविचारैकत्ववितर्काऽविचारसूक्ष्म-
क्रियाऽप्रतिपातिसमुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्तीनि शुक्लम् ॥ प्र० ५।३४ ॥

निर्मलं प्रणिधानं शुक्लम्। तच्चतुर्विधम्; तत्र प्रथमं भेदप्रधानं सविचारम्, द्वितीयमभेदप्रधानमविचारम्। तृतीयं सूक्ष्मकायिकक्रियमप्रतिपाति, चतुर्थञ्च अयोगावस्थमनिवृत्ति। आद्यद्वयं सप्तमगुणस्थानाद् द्वादशान्तं भवति। शेषद्वयं च केवलिनो योगनिरोधावसरे।

वितर्कः श्रुतम् ॥ प्र० ५।३५ ॥

श्रुतज्ञानालम्बनं चिन्तनं श्रुतम् तदेव वितर्कः।

विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ प्र० ५।३६ ॥

अर्थादर्थान्तरे, शब्दात् शब्दान्तरे, अर्थात् शब्दान्तरे, शब्दादर्थान्तरे च, योगाद् योगान्तरे वा संक्रमणम्—विचारः।

धर्मशुक्ले तपः ॥ प्र० ५।३७ ॥

एतेषु च धर्मशुक्लध्याने एव मोक्षहेतुत्वात् तपोभेदेषु भावनीये।

शरीरकषायादेः परित्यागो व्युत्सर्गः ॥ प्र० ५।३८ ॥

तत्र शरीरगणोपधिभक्तपानभेदाच्चतुर्विधो द्रव्यव्युत्सर्गः, कषायसंसारकर्मभेदात् त्रिविधोभावव्युत्सर्गः।

कृत्स्नकर्मक्षयादात्मनः स्वरूपावस्थानं मोक्षः ॥ प्र० ५।३९ ॥

कृत्स्नकर्मणामपुनर्बन्धतया क्षयात्, आत्मनो ज्ञानदर्शनमये स्वरूपेऽवस्थानं मोक्षः। अनादिसंश्लिष्टानामपि आत्मकर्मणां पार्थक्यं न संदेग्धव्यम्। दृश्यन्तेऽनादिसंबद्धा धातुमृदादयः पृथक् संभूयमानाः।

अपुनरावृत्तयोऽनन्ता मुक्ताः ॥ प्र० ५।४० ॥

सिद्धो, बुद्धो, मुक्तः, परमात्मा, परमेश्वर, ईश्वर इत्यादय एकार्थाः। न

पुनरावृत्तिर्भवभ्रमणं येषां तेऽनन्तसंख्याका मुक्ताः सन्ति। संसारिणां सर्वदा तेभ्योऽनन्तानन्तगुणत्वात् न जीवशून्यसंसारत्वापत्तिः।

तीर्थातीर्थतीर्थङ्करातीर्थङ्करस्वान्यगृहस्त्रीपुंनपुंसकलिङ्ग[1]-
प्रत्येकबुद्धस्वयंबुद्धबोधितैकानेकभेदात् पञ्चदशधा ॥ प्र० ५।४१ ॥

मुक्त्यनन्तरमेकसमयाद् ऊर्ध्वं गच्छन्त्यालोकान्तात् ॥ प्र० ५।४२ ॥

मुक्त्यनन्तरमेव मुक्तात्मानोऽविग्रहगत्या एकसमयेन ऊपरि गच्छन्ति लोकान्तपर्यन्तम्, धर्मास्तिकायाभावाद् नालोके।

तथा च—

"औदारिकतैजसकार्मणानि संसारमूलकारणानि।
हित्वेह ऋजुश्रेण्या समयेनैकेन यान्ति लोकान्तम् ॥
नोर्ध्वमुपग्रहविरहादधोऽपि वा गौरवाभावात्।
योगप्रयोगविगमाद् न तिर्यगपि तस्य गतिरस्ति ॥
लाघवयोगाद् धूमवद् अलाबुफलवच्च सङ्गविरहेण।
बन्धनविरहादेरण्डवच्च सिद्धस्यगतिरूर्ध्वम् ॥
सादिकमनन्तमनुपममव्याबाधं स्वभावजं सौख्यम्।
प्राप्तः स केवलज्ञान-दर्शनो मोदते मुक्तः ॥

ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी तन्निवासः ॥ प्र० ५।४३ ॥

सा च समयक्षेत्रसमायामा, मध्येऽष्टयोजनबाहुल्या, पर्यन्ते मक्षिकापत्रतोऽप्यतितन्वी,[2] लोकाग्रभागसंस्थिता, समच्छत्राकृतिरर्जुनस्वर्णमयी[3]। मुक्ति-सिद्धालयादयोऽस्याः पर्यायाः।

तत्त्वद्वय्यां नवतत्त्वावतारः ॥ प्र० ५।४४ ॥

वस्तुतो जीवाजीवरूपा तत्त्वद्वयी विद्यते, पुण्यादीनां च तदवस्थाविशेषरूपत्वात् तत्रैवान्तर्भावः। क्वचिदात्मना सम्बध्यमानाः, अबध्यमानाः, निर्जीर्यमाणाश्च पुद्गलाः क्रमेण द्रव्याश्रवसंवरनिर्जरा इति गीयन्ते।

१—स्वादिभ्यः षड्भ्यः लिङ्गशब्दो योज्यः।

२—इयं च सर्वार्थसिद्धविमानाद् द्वादशयोजनपरतः, लोकाच्च एकयोजनावरतः। इदं च एकयोजनोत्सेधांगुलमेयम्।

३—श्वेतस्वर्णमयी

अरूपिणो जीवाः ॥ प्र० ५।४५ ॥

अजीवा रूपिणोऽपि ॥ प्र० ५।४६ ॥

अजीवा धर्माधर्माकाशकाला अरूपिणः। पुद्गलास्तु रूपिण एव तात्पर्याय-भूताः पुण्यपापबन्धा अपि रूपिणः। नवापि पदार्था ज्ञेयाः, संवरनिर्जरा-मोक्षास्त्रय उपादेयाः शेषाश्च षड् हेयाः। जीवस्यापि संसारावस्थापेक्षया हेयत्वमविरुद्धम्। अथ नवतत्त्वपरमार्थविदको भिक्षुदर्शितस्तटाक दृष्टान्तो निदर्श्यते। तथाहि—

जीवस्तटाकरूपः, अतटाकरूपोऽजीवः, बहिर्निर्गच्छज्जलरूपे पुण्यपापे, विशदाविशदजलागमनमार्गरूप आस्रवः, जलागमनमार्गावरोधरूपः संवरः, जलनिष्कासनोपायरूपा निर्जरा, तटाकस्थितजलरूपो बन्धः, नीरविनिर्मुक्त-तटाक इव मोक्षः।

केवलज्ञानवानर्हन् देवः ॥ प्र० ७।१ ॥

अर्हति प्रातिहार्यातिशयानिति अर्हन्, जिनस्तीर्थङ्कर इति यावत्।

महाव्रतधरः साधुर्गुरुः ॥ प्र० ७।२ ॥

स्वपरात्महितं साध्नोतीति साधुः।

सर्वथा हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्महाव्रतम् ॥ प्र० ७।३ ॥

सर्वथेति—मनोवाक्कायकृतकारितानुमतिरूपैस्त्रिकरणयोगैर्हिंसादिभ्यः पंचभ्यो निवृत्तिर्महाव्रतं ज्ञेयम्।

असत्प्रवृत्त्या प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ प्र० ७।४ ॥

असत्प्रवृत्तिर्वा ॥ प्र० ७।५ ॥

असत्प्रवृत्त्या प्राणानां देशसर्वरूपेण व्यपरोणम्—अतिपातनम्, असत्प्रवृत्तिर्वा हिंसाऽभिधीयते। सत्प्रवृत्यात् प्रवर्तमानेन संयमिना संजातोऽपि कश्चित् प्राणवधः स द्रव्यतो हिंसापि भावतोऽहिंसा एव स्वप्रवृत्तेरदूषितत्वात्। तथा चागमः—

"तत्थणं जेते पमत्त संजया ते सुहं जोगं पडुच्च णोणं आयारंभा णोपरारंभा जाव अणारंभा, असुभं जोगं पडुच्च आयारंभा वि, जाव नो अणारंभा[1]।"

1—भगवती १।१।

रागद्वेषप्रमादमयव्यापारोऽसत्प्रवृत्तिः ॥ प्र० ७।६ ॥

प्रमादः—असावधानता।

असद्भावोद्भावनमनृतम् ॥ प्र० ७।७ ॥

असतः—अविद्यमानस्यार्थस्य उद्भावनम्—प्रकटनम्, अनृतं गीयते।

अदत्तादानं स्तेयम् ॥ प्र० ७।८ ॥

अदत्तस्य ग्रहणमित्यर्थः।

मैथुनमब्रह्म ॥ प्र० ७।९ ॥

मिथुनस्य—युग्मस्य कर्म मैथुनम्।

मूर्छा परिग्रहः ॥ प्र० ७।१० ॥

मूर्च्छा—ममत्वम्, सैव परिग्रहः, न तु वस्तुपरिग्रहणमात्रमेव, यथा—संयमिनां धर्मोपकरणानि।

तथा चागमः—

जंपि[1] वत्थं च पायं वा कंबलं पायपुंछणम्।
तंपि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा॥

संयमानुकूला प्रवृत्तिः समितिः ॥ ७।११ ॥

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः ॥ ७।१२ ॥

आगमोक्तविधिना प्रस्थानमीर्या ॥ प्र० ७।१३ ॥

आगमोक्तविधिनेति—युगप्रमितभूमिप्रेक्षणस्वाध्यायविषयविवर्जनादिरूपेण।

अनवद्यभाषणं भाषा ॥ प्र० ७।१४ ॥

सम्यग् आलोच्य सिद्धान्तानुमत्या भाषणमित्यर्थः।

निर्दोषान्नपानादेरन्वेषणमेषणा ॥ प्र० ७।१५ ॥

तत्र आधाकर्मादयः षोडश उद्गमदोषाः[2], धात्र्यादयः षोडश उत्पादनदोषाः,[3] शंकितादयश्च दश एषणा दोषाः।

१—दशवैकालिक ६।२०-२१।

२—उद्गमनम्—उद्गमः, आहारादेरुत्पत्तिस्तत्र ये दोषास्ते उद्गमदोषाः।

३—उत्पादनम्—आहारादेः प्राप्तिस्तत्र।

उपध्यादेः सयत्नं व्यापरणमादाननिक्षेपः ॥ प्र० ७।१६ ॥

उपध्यादेर्वस्त्रपात्रादेः व्यापरणम्—व्यवहरणम् ।

उच्चारादेः सविधिपरिष्ठापनमुत्सर्गः ॥ प्र० ७।१७ ॥

सविधीति—प्रत्युपेक्षितप्रार्जितभूम्यादौ, परिष्ठापनम्—परित्यजनम् ।

मनोवाक्कायनिग्रहो गुप्तयः ॥ प्र ७।१८ ॥

मोक्षसाधने प्रवृत्तिप्रधाना समितिः, निवृत्तिप्रधाना च गुप्तिः, समितौ गुप्तिरवश्यं भाविनी, गुप्तौ समितिर्भजनया इत्यनयोर्भेदः ।

आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः ॥ प्र० ७।२३ ॥

तथा चोक्तम्—दुर्गतौ प्रपतज्जन्तुधारणाद्धर्म उच्यते ।

संवरो निर्जरा च ॥ प्र० ७।२४ ॥

द्विविधः स धर्मः, तत्र संवरः—संयमः, निर्जरा—तपः ।

ज्ञानदर्शनचारित्रतपांसि ॥ प्र० ७।२५ ॥

चतुर्विधो वा धर्मः, ज्ञानम्—तत्त्वनिर्णयः, दर्शनम्—तत्त्वश्रद्धा, चारित्रम् संयमः, तपः—अनशनादि ।

क्षान्तिमुक्त्यार्जवमार्दवलाघवसत्यसंयमतपस्त्यागब्रह्मचर्याणि वा ॥ प्र० ७।२६ ॥

क्षान्त्यादिभेदेन दशविधो वा धर्म । तेषु मुक्तिः—निर्लोभता, लाघवम्—अकिञ्चनता, त्यागः—धर्मदानम् । शेषं स्पष्टम् ।

आत्मनैर्मल्यकारणत्वेनासौ लोकधर्माद् भिन्नः ॥ प्र० ७।२७ ॥

अपरिवर्तनीयस्वरूपत्वेन सर्वसाधारणत्वेन च ॥ प्र० ७।२८ ॥

लोकधर्मः देशकालादिभिः परीवर्तनीयस्वरूपो वर्गविशेषैर्विभेदमापन्नश्च, धर्मस्तु आत्मनैर्मल्यकारणम्, अपरिवर्तनीयस्वरूपः सर्वसाधारणश्च इत्यनयोर्भेदः । गृहस्थसन्यस्तयोर्धर्मः केवलं पालनशक्त्यपेक्षया महाव्रताणुव्रतभेदेन द्विधा निर्दिष्ट इति धर्मस्य सर्वसाधारणत्वे नास्ति कश्चिद् विरोधः ।

ग्रामनगरराष्ट्रकुलजातियुगादीनामाचारो व्यवस्था वा लोकधर्म ॥ ॥ प्र० ७।२६ ॥

ग्रामादिषु जनानामौचित्येन वित्तार्जनव्ययविवाहभोज्यादिप्रथानां पारस्परिकसहयोगादेर्वा आचरणम्—आचारः । तेषां च हितसंरक्षणार्थं प्रयुज्यमाना

उपायाः—व्यवस्था—कौटुम्बिकी, सामाजिकी, राष्ट्रिया अन्ताराष्ट्रिया चेति बहुविधा। ते च लोकधर्मः—लौकिको व्यवहार इत्युच्यते। आगमेऽपि तथा दर्शनात्, यथा—

'गामधम्मे, नगरधम्मे, रट्ठधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे इत्यादि[१]।'

लोकधर्मेऽपि क्वचिदहिंसादीनामाचरणं भवति, तदपेक्षयाऽनेन धर्मस्य भिन्नता न विभावनीया, किन्तु भोगोपबर्धकवस्तु-व्यवहारापेक्षयैव।

लौकिकोऽभ्युदयो धर्मानुषङ्गिकः ॥ प्र० ७।३० ॥

लौकिकोऽभ्युदयः—कुलबलवपुर्विभवैश्वर्यमन्त्रतन्त्रादिविषया सांसारिकी समृद्धिः

अर्हदुपदेश आज्ञा ॥ प्र० ७।३१ ॥

अर्हतां तीर्थंकराणामात्मशुद्धि-उपायभूतः—उपदेश आज्ञा इत्यभिधीयते। यत्राज्ञा तत्रैव धर्मः। अर्हतां सकलदोषाऽकलंकितोपदेशकत्वान्न खलु धर्मस्तवाज्ञां व्यभिचरति।

सर्वभूतेषु संयमः अहिंसा ॥ प्र० ६।१ ॥

असत्प्रवृत्तिनिरोधः अनुद्वेजनं वा संयमः, मैत्रीति यावत्।

हिंसादेरनिवृत्तिरसंयमः ॥ प्र० ६।१५ ॥

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणामनिवृत्तिरसंयम उच्यते, सपापप्रवृत्तेरप्रत्याख्यानमिति यावत्।

तद्विरतिः संयमः ॥ प्र० ६।१६ ॥

हिंसादेर्विरतिः संयमः।

रागद्वेषपरिणतिर्मोहः।

असंयमसुखाभिप्रायो रागः ॥ प्र० ६।१२ ॥

असंयममयस्य सुखस्याभिकांक्षणम्—रागोऽभिधीयते।

दुःखाभिप्रायो द्वेषः ॥ प्र० ६।१३ ॥

रागद्वेषराहित्यं माध्यस्थ्यम् ॥ प्र० ६।१४ ॥

माध्यस्थ्यम्, उपेक्षा, औदासिन्यम्, समतेति पर्यायाः।

इष्टसंयोगाऽनिष्टनिवृत्तेराह्लादः सुखम् ॥ प्र० ६।२३ ॥

१—स्था० स्था० १०।

इष्टम्—धनमित्रादि ज्ञातदर्शनादि वा, अनिष्टम्—शत्रुरोगादि कर्माणि वा।

तद्विपर्ययो दुःखम् ॥ प्र० ६।२४ ॥

आत्मनः क्रमिकविशुद्धिर्गुणस्थानम् ॥ प्र० ८।१ ॥

कर्मक्षयोपशमादिजन्या क्रमेण गुणाविर्भावरूपा विशुद्धिः गुणस्थानम्[1]। तच्च सिद्धिसौधसोपानपंक्तिकल्पम्।

मिथ्यासास्वादनसम्यग्मिथ्याविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरत-प्रमत्ताऽप्रमत्तसंयतनिवृत्त्यनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायो-पशान्तक्षीणमोहसयोग्ययोगिकेवलिनः ॥ प्र० ८।२ ॥

मिथ्यादिभ्यश्चतुर्भ्यः दृष्टिशब्दो योज्यः। तत्र मिथ्यादृष्टेर्दर्शनमोह-क्षयोपशमादिजन्या विशुद्धिः—*मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्*। प्रमादालवयुक्तो मुनिः—प्रमत्तसंयतः। निवृत्तिप्रधानो[2]बादरः स्थूलकषायो यस्य स निवृत्ति-बादरः। एवमनिवृत्तिबादरः[3]। सूक्ष्मः कषायः सूक्ष्मसंपरायः। शेषं स्पष्टम्। एतेषु प्रथमम्—अनाद्यनन्तम्, अनादिसान्तम्, सादि सान्तञ्च। द्वितीयं षडावलिका स्थितिकम्। चतुर्थं साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरमितम्। पञ्चमषष्ठत्रयोदशानि देशोनपूर्वकोटिस्थितिकानि। चतुर्दशं पञ्च ह्रस्वाक्ष-रोच्चारणमात्रम्। शेषाणां जघन्या च सर्वेषामन्तर्मुहूर्ता स्थितिः[4]।

तत्त्वं तत्त्वांशं वा मिथ्या श्रद्धानो मिथ्यादृष्टिः ॥ प्र० ८।३ ॥

तत्त्वं मिथ्यात्वीति यावत्। विपरीत दृष्ट्यपेक्षयैव जीवो मिथ्यादृष्टिः स्यात्, न तु अवशिष्टाऽविपरीत दृष्ट्यपेक्षया। मिथ्यादृष्टौ मनुष्यपश्वादिप्रति-पत्तिरविपरीता समस्त्येवेति तद् गुणस्थानमुक्तम्, किञ्च नास्त्येतादृक्

१—क्रमेण विशुद्धिः क्रमिकविशुद्धिः।

२—अत्र हि बादरसंपरायस्य मोहप्रकृतिकस्य स्वल्पापि निवृत्तिः विवक्षा-वशात् प्राधान्येन परिगणितेति निवृत्तिबादरगुणस्थानम्।

३—अत्र स्वल्पापि बादरकषायस्यानिवृत्तिः विवक्षावशात् प्राधान्येन परिग-णितेति अनिवृत्तिबादरगुणस्थानम्।

४—आयुः पूर्त्यपेक्षया अप्रमाद एकादशपर्यन्तानां गुणस्थानानां जघन्या स्थितिरेकसामयिक्यपि।

कोऽप्यात्मा, यस्मिन् क्षयोपशमादिजन्या नाल्पीयस्यपि विशुद्धिः स्यात्, अभव्यानां निगोदजीवानामपि च तत्सद्भावात् अन्यथा जीवत्वापत्तेः।

संदिहानः सम्यग् मिथ्यादृष्टिः ॥ प्र० ८।४ ॥

यः एकं तत्त्वं तत्त्वांशं वा संदिग्धे शेषं सम्यक् श्रद्धत्ते स सम्यक्मिथ्यादृष्टिः सम्यक्मिथ्यात्वीति यावत्।

सम्यक् तत्त्वंश्रद्धालुः सम्यग्दृष्टिः ॥ प्र० ८।५ ॥

सकलमपि जीवाजीवादिकं तत्त्वं सम्यक् श्रद्धते स सम्यग्दृष्टिः, सम्यक्त्वीति यावत्। मिथ्यादृष्ट्यादीनां तत्त्वरुचिरपि क्रमेण मिथ्यादृष्टिः, सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, सम्यग्दृष्टिश्चेति प्रोच्यते।

शमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्यानि तल्लक्षणम् ॥ प्र० ८।६ ॥

शमः—क्रोधादिनामुपशमः। संवेगः—मोक्षाभिलाषः—निर्वेदः—भवविरागः। अनुकम्पा—दया। आस्तिक्यम्—आत्मकर्मादिषु विश्वासः।

शंकाकांक्षापरपाषण्ड प्रशंसासंस्तवश्च दूषणम् ॥ प्र० ८।७ ॥

तत्त्वसन्देहः—शंका। कुमताभिलाष—कांक्षा। धर्मफलसंशय—विचिकित्सा। व्रतभ्रष्टानां प्रशंसा परिचयश्च परपाषण्ड प्रशंसा, परपाषण्ड संस्तवश्च।

असंयतोऽविरतः ॥ प्र० ८।८॥

सर्वथा विरतिरहित इत्यर्थः।

संयताऽसंयतो देशविरतः ॥ प्र० ८।९ ॥

देशेन—अंशरूपेण व्रताराधकः इत्यर्थः। पूर्णव्रताभावेऽविरतोऽप्यसौ कथ्यते।

अणुव्रतशिक्षाव्रते देशव्रतम् ॥ प्र० ८।१० ॥

स्थूलहिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरतिरणुव्रतम् ॥ प्र० ८।११ ॥

दिगुपभोगपरिभोगाऽनर्थदण्डविरतिसामायिकदेशावकाशिकपौषधोपवासाऽतिथिसंविभागाः शिक्षाव्रतम् ॥ प्र० ८।१२ ॥

एषु शेषचतुष्कमेव भूयोऽभ्यासात्मकत्वात् शिक्षाव्रतम्। आद्यत्रयञ्च अणुव्रतानाम् गुणवर्धकत्वाद् गुणव्रतम् क्वचिदित्यपि व्यवस्था।

सर्वव्रतः संयतः ॥ प्र० ८।१३ ॥

सर्वव्रताराधको महाव्रतीत्यर्थः।

सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाख्यातानि चारित्रम् ॥ प्र० ८।१४ ॥

तत्र सर्वसावद्ययोगविरतिरूपम्—सामायिकम्। पूर्वपर्यायच्छेदेन उपस्थाप्यते—महाव्रतेष्वारोप्यते इति छेदोपस्थाप्यम्। द्वे अपि षष्ठात् नवमगुणस्थानान्तवर्तिनी। परिहारेण तपोविशेषेण विशुद्धिरूपम्—परिहारविशुद्धिः, सप्तमषष्ठयोः। दशमस्थम्—सूक्ष्मसंपरायः। वीतरागावस्थम्—यथाख्यातम्

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ प्र० ८।१५ ॥

बाह्याभ्यन्तर[1] परिग्रहग्रन्थिरहितः—निर्ग्रन्थ। तत्र पुलाको निस्सारो धान्यकणः, तद्वत् संयमं मनागसारं कुर्वन् निर्ग्रन्थः—पुलाक उच्यते; स च द्विविधः—लब्धिपुलाकः, आसेवनापुलाकश्च। बकुशं कर्बुरं चारित्रं यस्य स बकुशः। कुत्सितं शीलं यस्य स कुशीलः, द्विविधोऽयम्—प्रतिसेवनाकुशीलः, कषायकुशीलश्च मोहनीयग्रन्थिरहितः निर्ग्रन्थः—वीतरागः। स्नात इव स्नातकः केवलीति।

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपातस्थानादिविकल्पतो भावनीयाः ॥ प्र० ८।१६ ॥

पंचापि निर्ग्रन्था एतैर्भेदैर्विचारणीयाः। यथा—सामायिकादौ कस्मिन् संयमे भवन्ति, कियत् श्रुतमधीयते, मूलोत्तरगुणेषु प्रतिसेवना क्रियते न वा, तीर्थे भवन्ति अतीर्थे वा, कस्मिन् लिङ्गे वेषे भवन्ति, कस्मिन् स्थाने उपपातः—उत्पत्तिः, कति संयमस्थानानि इत्यादि।

योगवर्गणान्तर्गतद्रव्यसाचिव्यादात्मपरिणामो लेश्या ॥प्र० ८।१७॥

मनोवाक्कायवर्गणापुद्गलद्रव्यसंयोगात् संभूतः आत्मनः परिणामः लेश्याऽभिधीयते।

उक्तञ्च—

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् परिणामोऽयमात्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्दः प्रवर्तते ॥

तद्योग्यपुद्गलद्रव्यम्—द्रव्यलेश्या, क्वचिद् वर्णादिरपि।

१—बाह्यपरिग्रहः क्षेत्रवस्त्वादिभेदेन नवविधः। मिथ्यात्वं, नव नोकषायाः कषायचतुष्टयं चेति चतुर्दशविध आभ्यन्तरपरिग्रहः।

कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्लाः ॥ प्र० ८।१८ ॥

आद्यास्तिस्रोऽशुभाः परास्च शुभाः।

स्त्रीपुंनपुंसकानामन्योन्यं विकारो वेदः ॥ प्र० ८।१९ ॥

वेदमोहोदयात् स्त्रीपुंनपुंसकानामन्योन्याभिलाषरूपो विकारः—स्त्रीवेदः, पुंवेदः नपुंसकवेदः क्रमेण करीषतृणेष्टिकाग्निसमानः। असौ नवमगुणस्थान[1] यावत्, षष्ठगुणस्थानात् परतः प्रदेशवेद एव।

अकेवली छद्मस्थः ॥ प्र० ८।२० ॥

घातिकर्मोदयः—छद्म, तत्र तिष्ठतीति छद्मस्थः, द्वादशगुणस्थानपर्यन्तवर्ती।

अकषायो वीतरागः ॥ प्र० ८।२१ ॥

स च उपशान्तकषायः क्षीणकषायो वा भवति। अयमत्र भावः—अष्टमगुणस्थानादग्रे जिगमिषूणां द्वयी गतिः—उपशमश्रेणी क्षपकश्रेणी च। तत्र उपशमश्रेण्यारूढो मुनिर्मोहकर्मप्रकृतीरुपशमयन् एकादशे सर्वथा उपशान्तमोहो भवति। क्षपकश्रेण्यारूढश्च ताः क्षपयन् द्वादशे सर्वथा क्षीणमोहो भवति[2]। उपशमश्रेणिमान् स्वभावात् प्रतिपात्येव द्वितीयस्तु अप्रतिपाती।

ईर्यापथिकस्तस्य बन्धः ॥ प्र० ८।२२ ॥

ईरणम्—ईर्या—गतिः, उपलक्षणत्वात् योगः, पन्थाः—मार्गो यस्य बन्धस्य स ईर्यापथिकः। अयञ्च सातवेदनीयरूपो, योगमात्रनिमित्तो, द्विसमयस्थितिको भवति।

सांपरायिकः शेषस्य ॥ प्र० ८।२३ ॥

सकषायस्य शुभाशुभकर्मबन्धः सांपरायिक उच्यते, स च सप्तकर्मणामानवमगुणस्थानम्, आयुर्बन्धकाले तृतीयवर्जमासप्तममष्टकर्मणामपि, आयुर्मोहौ विना षट्कर्मणां च दशमे।

अबन्धोऽयोगी ॥ प्र० ८।२४ ॥

शैलेश्यवस्थायां चतुर्दशगुणस्थाने निरुद्धमनोवाक्काययोगः अयोगी, स च सर्वथा बन्धरहितत्वात् अबन्धो भवति।

१—इदमादौ सवेदम्, अन्ते चावेदम्।

२—मोहकर्मप्रकृतीः।

सशरीरः संसारी ॥ प्र० ८।२५ ॥

चतुर्दशगुणस्थानं यावत्।

सुखदुःखानुभवसाधनं शरीरम् ॥ प्र० ८।२६ ॥

औदारिकादितत्तद्वर्गणाजन्यत्वेन प्रतिक्षणं शीर्यत इति शरीरम्।

औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणानि ॥ प्र० ८।२७ ॥

तत्र स्थूलपुद्गलनिष्पन्नम्, रसादिधातुमयम्—औदारिकम्, मनुष्यतिरश्चाम्। विविधरूपकरणसमर्थम्—वैक्रियम्, नारकदेवानाम् वैक्रियलब्धिमतां नरतिरश्चां वायुकायिकानाञ्च। आहारकलब्धिनिष्पन्नम्—आहारकम् चतुर्दशपूर्वधराणाम्। तेजोलब्धिनिमित्तं दीप्तिपाचननिमित्तञ्च तैजसम्। कर्मणां समूहस्तद्विकारो वा कार्मणम्, एते च सर्वसंसारिणाम्।

उत्तरोत्तरं सूक्ष्माणि पुद्गलपरिमाणतश्चासंख्येयगुणानि ॥ प्र० ८।२८ ॥

तैजसकार्मणे त्वनन्तगुणे ॥ प्र० ८।२९ ॥

एते चान्तरालगतावपि ॥ प्र० ८।३०

द्विविधा च सा—ऋजुर्विग्रहा च। तत्रैकसामयिकी ऋजुः, चतुःसमयपर्यन्ता च विग्रहा। तत्रापि द्विसामयिकमनाहारकत्वम्। अनाहारकावस्थायां च कार्मणयोग एव।

परिशिष्ट : ३ :

(पारिभाषिक शब्द कोष)

(औ)

(क)

(ग)

(च)

(छ)

(ज)

(त)

(द)

(ध)

(न)

(श)

(स)

(ह)

(क्ष)

(त्र)

(ज्ञ)

प्रस्तुत ग्रन्थ के टिप्पण में आए हुए ग्रन्थों के नाम व संकेत

अथर्ववेद—अथर्व०

अनुयोगद्वार—अनु०

अनेकान्त—अने०

अभिधान चिन्तामणिकोष—अभि० चि०

अन्ययोगव्यवच्छेदिका—अ० व्यव०

अंगुत्तर निकाय—अं० नि०

आचारांग—आचा०

आचारांग निर्युक्ति—आचा० नि०

आचारांग वृत्ति—आचा० वृ०

आज—

आदिपुराण—आदि०

आप्त मीमांसा—आ०

आवश्यक सूत्र—आव०

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका—

इलिश मेन—

इष्टोपदेश—इ०

ईशावास्योपनिषद्—ईशा० उप०

उत्तर पुराण—उत्त० पु०

उत्तराध्ययन—उत्त०

उत्तराध्ययन वृत्ति—उत्त० वृ०

ऋग्वेद—ऋग्०

औपपातिक—औप०

कठोपनिषद्—कठ० उप०

केनोपनिषद्—केन० उप०

कर्मग्रन्थटीका—कर्म० टी०

कौषीतकी उपनिषद्—कौषी०

गणधरवाद—ग० वा०

गीता—गी०

गोमट्टसार (जीवकाण्ड)—गो० जी०

छान्दोग्यउपनिषद्—छान्दो०

जड़वाद—जड़०

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—जम्बू० प्र०

जाबालोपनिषद्—जाबा० उप०

जैन दर्शन (प्रो० घासीराम)—जैन०

जैन सिद्धान्त दीपिका—जैन० दी०

ज्योतिष रत्नाकर—ज्यो० रत्ना०

तर्क संग्रह—तर्क० सं०

तत्त्वार्थ राजवार्तिक—तत्त्वा० रा०

तत्त्वार्थ सूत्र—त० सू०

तत्त्वानुशासन—तत्त्वा०

तन्दुवैयालीय—तन्दुवै०

तिलोयपन्नत्ति—ति०

तैत्तरीयोपनिषद्—तैत्त० उप०

द्रव्यानुयोग तर्कणा—द्रव्यानु० त०

द्रव्य संग्रह—द्रव्य० सं०

दशवैकालिक—दशवै०

दशवैकालिक चूर्णि—दशवै० चू०

दशवैकालिक निर्युक्ति—दशवै० नि०

दशवैकालिक दीपिका—दशवै० दी०

दशवैकालिक बृहत् वृत्ति—दशवै० वृ०

दर्शन और चिन्तन—द० चि०

दर्शन-विशुद्धि—द० वि०

दशाश्रुत स्कन्ध—दशा०

धम्मपद—धम्म०

धर्म संग्रह टीका—धर्म० टी०

धर्म प्रकरण—धर्म० प्रक०

धर्मयुग—धर्म०

धर्मवादाष्टक—धर्मवा०

नन्दी सूत्र—नं०

नय कर्णिका—न० क०

नयासमाज—नया०

नवनीत—नव०

नवसद्भाव पदार्थ निर्णय—न० प०

निरुक्त—नि०

न्याय कारिकावली—न्या० का०

न्याय कुमुद चन्द्र—न्या० कु० चं०

न्याय वार्तिक—न्या० वा०

न्याय सूत्र—न्या० सू०

न्यायालोक—न्या०

न्यायावतार—न्याया०

पद्मपुराण—पद्म० पु०

परमात्मप्रकाश—पर० प्र०

पातञ्जलयोग सूत्र—पा० यो०

प्रमाण नयतत्त्वालोकालंकार—प्र० न०

प्रमेय कमल मार्तण्ड—प्र० क० मा०

प्रवचन सार—प्र० सा०

प्रवचनसार वृत्ति—प्र० वृ०

प्रश्नव्याकरण—प्रश्न०

प्रशम रति प्रकरण—प्र० र० प्र०

प्रज्ञापना—प्रज्ञा०

प्रज्ञापना वृत्ति—प्रज्ञा० वृ०

पंचसंग्रह—पंच०

पंचास्तिकाय—पंचा०

पंच वस्तुक—पं० व०

बुद्ध चरित्र—बु० च०

बुद्ध वचन—बु० व०

ब्रह्मभाष्य—ब्रह्म०

भगवती वृत्ति—भग० वृ०

भगवती सूत्र—भग०

भिक्षु न्यायकर्णिका—भिक्षु० न्या०

मज्झिम निकाय—म० नि०

मनुस्मृति—मनु०

महापुराण—महा० पु०

महाभारत—महा० भा०

महावग्ग—महा०

मीमांसा श्लोक वार्तिक—मी० श्लो० वा०

मुण्डकोपनिषद्—मुण्ड० उप०

योगदर्शन—योग० द०

योगदृष्टि समुच्चय—योग० दृ० स०

योगशास्त्र—योग०

योगसूत्र—योग० सू०

रत्नकरण्ड श्रावकाचार—रत्न० श्रा०

राजप्रश्नीय—रा० प्र०

लोक तत्त्व निर्णय—लो० त० नि०

लोकप्रकाश—लो० प्र०

वरांग चरित्र—व० च०

वादद्वात्रिंशिका (सिद्धसेन) वा० द्वा०

विशेषावश्यक भाष्य—वि० भा०

विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति—वि० भा० वृ०

विज्ञान की रूपरेखा—विज्ञा० रूप०

वीतराग स्तव—वीत० स्त०

वीतरागस्तोत्र—वी० स्तो०

बृहदारण्योपनिषद्—बृह० उप०

वेदान्त सार—वे० सा०

वेदान्त सूत्र (शांकर भाष्य)—वे० सू०

वैशेषिक दर्शन—वै० द०

वैशेषिक सूत्र—वै० सू०

व्यास भाष्य—व्या० भा०

सन्मति तर्क प्रकरण—सन्म०

समवायांग—सम०

समाजवाद—समा०

समाधि शतक—समाधि०

सर्व तन्त्र पदार्थ लक्षण संग्रह—सर्व० प० ल० सं०

सुत्त निपात—सु० नि०

सुप्रभ चरित्र—सु० च०

सूक्ति मुक्तावलि—सु० मु०

सूत्रकृतांग—सू०

सूत्रकृतांग वृत्ति—सू० वृ०

सेन प्रश्नोत्तर—सेन०

सांख्य कारिका—सां० का०

सांख्य कौमुदी—सां० कौ०

सांख्य सूत्र—सां० सू०

स्थानांग वृत्ति—स्था० वृ०

स्थानांग सूत्र—स्था०

स्याद्वाद मञ्जरी—स्या० मं०

स्याद्वादरत्नावतारिका—स्या० र०

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा—स्वा० का०

शान्त सुधारस—शा० सु०

शारीरिक भाष्य—शा० भा०

शास्त्र दीपिका—शास्त्र० दी०

शुक रहस्य—शु० र०

शंकर दिग्विजय—शं० दिग्वि०

श्वेताश्वतरोपनिषद्—श्वेताश्व० उप०

श्री ज्ञान सागर सूक्त—

षट् दर्शन—षट्०

हारिभद्र अष्टक—हा० अ०

हिन्दी विश्व भारती—हि० भा०

हिन्दुस्तान (दैनिक)—हि०

ज्ञानसार—ज्ञा० सा०

लेखक की अन्य कृतियां

जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व, (पहला भाग)
जैन परम्परा का इतिहास
जैन दर्शन में ज्ञान-मीमांसा
जैन दर्शन में प्रमाण-मीमांसा
जैन दर्शन में तत्त्व-मीमांसा
जैन दर्शन में आचार मीमांसा
जैन धर्म और दर्शन
अहिंसा तत्त्व दर्शन
जैन तत्त्व चिन्तन
जीव अजीव
प्रतिक्रमण (सटीक)
अहिंसा
अहिंसा की सही समझ
अहिंसा और उसके विचारक
अश्रु-वीणा (संस्कृत-हिन्दी)
आँखें खोलो
अणुव्रत-दर्शन
अणुव्रत एक प्रगति
अणुव्रत-आन्दोलन : एक अध्ययन
आचार्य श्री तुलसी के जीवन पर एक दृष्टि
अनुभव चिन्तन मनन
आज, कल, परसों
विश्व स्थिति
विजय यात्रा
विजय के आलोक में
बाल दीक्षा पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
श्रमण संस्कृति की दो धाराएं
संबोधि (संस्कृत-हिन्दी)
कुछ देखा, कुछ सुना, कुछ समझा
फूल और अंगारे (कविता)
मुकुलम् (संस्कृत-हिन्दी)
भिक्षावृत्ति
धर्मबोध (३ भाग)
उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार
नयवाद
दयादान
धर्म और लोक व्यवहार
भिक्षु विचार दर्शन
संस्कृतं भारतीय संस्कृतिश्च